आचार्य भिक्षु

शासन गौरव

मुनि बुद्धमल्ल

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्य भिक्षु

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

प्रकाशक :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्य भिक्षु

शासन गौरव
मुनि बुद्धमल्ल

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

प्रकाशक :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता ७००००१

शाखा कार्यालय :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा .
जैन विश्व भारती परिसर
लाडनूं ३४१३०६ (राज.)

प्रथम संस्करण	:	वि. संवत् २०५२
द्वितीय संस्करण	:	वि. संवत् २०६०
तृतीय संस्करण	:	वि. संवत् २०६१
चतुर्थ संस्करण	:	वि. संवत् २०६८
पंचम संस्करण	:	वि. संवत् २०७०

मूल्य : एक सौ पचास रुपये मात्र

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स
विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर

Rs. 150.00

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

प्रकाशकीय

तेरापंथ के इतिहास का आरंभिक काल वस्तुतः आचार्य भिक्षु के जीवन के संघर्षों का इतिहास है। इस धर्मसंघ के जनक आचार्य भिक्षु एक क्रांतिकारी पुरुष थे, जिन्होंने एक धर्मक्रांति करते हुए तेरापंथ की स्थापना की थी। उनके समय में धार्मिक मतवाद चरम सीमा पर था और धर्म एवं अध्यात्म के नाम पर अनेक सुख-सुविधाओं के प्रति आग्रह बढ़ गया था। धर्म की व्याख्या अपने हितों की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए की जा रही थी और श्रावक-समाज को दिग्विमूढ़ करने का प्रयास किया जा रहा था। आचार्य भिक्षु ने उसके खिलाफ आवाज उठाई और चारित्रिक विशुद्धता की भित्ति पर एक नए संघ की स्थापना की। अनेकानेक विरोधों, प्रतिकारों और संकटों का मुकाबला करते हुए उन्होंने जैन धर्म के मूल सिद्धांतों के आधार पर तेरापंथ की सुदृढ़ नींव डाली।

तेरापंथ के नवम आचार्य गणाधिपति तुलसी के दिशानिर्देश पर धर्मसंघ के विद्वान् इतिहासविद् शासनगौरव मुनिश्री बुद्धमल्लजी ने सन् १६५८ में तेरापंथ के इतिहास लेखन का कार्य प्रारंभ किया, जिसका प्रथम खंड १६६१ में प्रकाशित हुआ। तेरापंथ के इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट है कि उसमें एक ओर जहां धर्मसंघ की गतिशीलता की व्याख्या है, वहीं तत्कालीन घटनाओं के मूल कारणों का व्यापक अन्वेषण है। एक सजग इतिहासकार के रूप में मुनिश्री ने घटनाओं के मूल में निहित कारणों की खोज की, तथ्यों का अनुसंधान और उनकी तथ्यपरक व्याख्या की, उस समय के विकासशील चिंतनों को उद्‌घाटित किया और विद्यमान सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में घट रही घटनाओं का तथ्याधारित विश्लेषण किया।

कारणवादी और संयोगवादी, इन दो प्रधान दृष्टियों को अपनाकर लिखा गया इतिहास अपनी गत्यात्मकता को कायम रखता है और उससे उसकी वैज्ञानिकता भी सुनिश्चित होती है, क्योंकि ये दोनों किसी न किसी रूप में एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त कार्य-कारण संबंध इतिहास को गति प्रदान करता है, जो द्वंद्वात्मक होता है। एक कारण जिस कार्य को जन्म देता है, वही कार्य अन्यत्र दूसरे कार्य का कारण बन जाता है और जो एक

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्थान पर कारण प्रतीत होता है, वही दूसरे स्थान पर कार्य के रूप में दिखलाई पड़ता है। यह प्रक्रिया अंततः इतिहास को सर्वांगीणता और वैज्ञानिकता प्रदान करती है।

मुनिश्री बुद्धमल्लजी ने जिस इतिहास-दर्शन को केन्द्र में रखकर तेरापंथ के इतिहास की रचना की है वह इतिहास लेखन का सर्वस्वीकृत मानक है। अपनी प्रखर प्रज्ञा, अनुसंधान वृत्ति और विश्लेषण क्षमता के आधार पर उन्होंने तेरापंथ के इतिहास को सारगर्भित बनाया है, जिसमें एक प्रगतिशील विज्ञान का दर्शन होता है। उन्होंने प्राचीन बहियों, उपलब्ध दस्तावेजों, हस्तलिखित जीवनियों, चोपड़ियों, यत्र-तत्र लिखित अन्य सामग्री का संचयन किया और उनके बीच कार्य-कारण संबंध स्थापित करते हुए और प्रामाणिकता के आधार पर ऐतिहासिक प्रगति को रेखांकित करते हुए आचार्य भिक्षु और तेरापंथ के इतिहास के सही स्वरूप को प्रकट किया, जिसमें उनकी इतिहास-दृष्टि और उनकी मनीषा का व्यापक योगदान है।

तेरापंथ के इतिहास का प्रथम संस्करण वि. संवत् २०२१ में एक ही खंड में प्रकाशित हुआ। वह शीघ्र समाप्त हो गया, इसके ठीक पचीस वर्ष पश्चात् मुनिश्री ने इसको पुनः संशोधित व परिवर्धित किया। पुस्तक के आकार की विशालता को देखते हुए उसके दो खंड किए गए, जिसके प्रथम खंड में प्रथम चार आचार्यों—आचार्य भीखणजी, आचार्य भारमलजी, आचार्य रायचन्दजी और आचार्य जीतमलजी का इतिहास प्रकाशित किया गया। इसके साथ ही तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों का विश्लेषण भी किया और उन कारणों का उल्लेख किया जो तेरापंथ के जन्म का कारण बने थे।

तेरापंथ के इतिहास के प्रथम खंड में विवेचित आचार्य भिक्षु से सम्बन्धित परिच्छेद को जैन विश्व भारती की जैन विद्या परीक्षा के पाठ्यक्रम में रखा गया है। चूंकि पुस्तक का आकार बड़ा है और छात्रों को केवल आचार्य भिक्षु से संबंधित अंश ही पढ़ने हैं, अतः छात्रों की सुविधा के लिए जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ने आचार्य भिक्षु से संबंधित अंश को स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया। इसका प्रत्यक्ष लाभ यह था कि आचार्य भिक्षु और उनके जीवन दर्शन को समग्रता से जानने में सुविधा होगी।

'आचार्य भिक्षु' शीर्षक से प्रकाशित पुस्तक के प्रथम संस्करण के शीघ्र समाप्त हो जाने के फलस्वरूप वि. सं. २०६० में आचार्य भिक्षु द्विशताब्दी के

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

अवसर पर इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया गया। पुनः वि. सं. २०६१ में इसका तीसरा संस्करण प्रकाशित किया गया।

पाठकों और विशेषकर छात्रों की लगातार बढ़ रही मांग के फलस्वरूप अब इस पुस्तक का चौथा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। तेरापंथ के इतिहास और खासकर आचार्य भिक्षु के इतिहास एवं जीवन-वृत्त के प्रति यह जागरूकता हमारे धर्मसंघ की लगातार बढ़ रही प्रतिष्ठा और सर्वग्राह्यता की सूचक है, जो अत्यंत आह्लादकारी है।

आशा है यह पुस्तक जैन विद्या अर्जित करने वाले विद्यार्थियों और तेरापंथ के इतिहास में रुचि रखने वाले सभी पाठकों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी और उनके धार्मिक एवं आध्यात्मिक विकास की दिशा में पथ-प्रदर्शक का कार्य करेगी।

हीरालाल मालू
अध्यक्ष
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वकथ्य

आचार्यश्री भिक्षु तेरापंथ धर्म-संघ के प्रथम आचार्य थे। उस समय के विभिन्न धर्म-संघों के आचार-शैथिल्य और अनुशासन-नैयून्य ने उनके मन को अतिशय उद्वेलित किया। मानसिक उद्वेलन की उसी दशा ने उनको सत्य-संधित्सु बना दिया। उन्होंने जैन आगमों का आमूलचूल परायण किया और उससे प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर आचार एवं विचार की सम्यक्ता का निर्धारण किया। उसी निकर्ष पर स्वयं को कसकर उन्होंने शुद्ध स्वर्णमय संयमी जीवन का उदाहरण प्रस्तुत किया। उनकी उस जीवन पद्धति का नामकरण हुआ—'तेरापंथ'।

स्वर्ण अपने आप में कितना ही शुद्ध क्यों न हो, पर जन-ग्राह्य बनने के लिए उसे पुनः-पुनः निकष, छेत और ताप के परीक्षण-मार्ग से गुजरना ही पड़ता है। आचार्य भिक्षु के जीवन का प्रत्येक उतार-चढ़ाव एवं घुमाव उसी कठोर परीक्षण की एक कहानी है। इस कहानी के पूर्व भाग का प्रत्येक पृष्ठ नाना परीषहों की रोमोद्गमकारी दुरूहताओं से भरा हुआ है तो उत्तर भाग का प्रत्येक पृष्ठ विभिन्न सफलताओं की फलश्रुतियों से। उक्त कहानी तेरापंथ धर्मसंघ में राजस्थानी में लिखित तथा संकलित प्राचीन विविध जीवनी ग्रन्थों का रसाकर्ष है।

प्राचीन ग्रन्थों में आचार्य भिक्षु को भीखणजी, भीखमजी, भिक्खु आदि विविध नामों से अभिहित किया गया है। श्रद्धालु लोग भक्तिवश उन्हें केवल 'स्वामीजी' नाम से भी पुकारते हैं।

तेरापंथ-इतिहास का अंगीभूत स्वामीजी का प्रस्तुत जीवन-वृत्त यहां पृथक् पुस्तक के रूप में दिया जा रहा है। इसका नामकरण किया गया है—'आचार्य भिक्षु'।

आचार्य भिक्षु अपने युग के एक धुरीण आचार्य थे। उन्होंने यथास्थिति से ऊपर उठकर सत्य की गवेषणा की। जीवन में सत्य की अवधारणा के लिए उन्होंने अपने सुख, सम्मान और सुविधाओं का

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

बलिदान किया। साधना के सम्यक् स्वरूप का निर्धारण कर चारित्र के शिखरों पर विजय पाने के अभियानों का मार्गदर्शन किया। क्रान्तद्रष्टा बनकर उन्होंने समय-प्रवाह में दबकर विस्मृत हुए अनेक नए वैचारिक तथ्यों का उद्घाटन एवं संस्थापन किया। एक संगठित, सुव्यवस्थित और सुदृढ़ श्रमण-संघ का स्वप्न उन्होंने देखा और तेरापंथ के रूप में उसको मूर्तरूप दिया। धर्मसंघ की चिरजीविता के लिए अनेक मर्यादाओं का निर्माण किया। संघ की वृहत्ता और एकरूपता के लिए व्यक्तिगत शिष्य-प्रथा को समाप्त किया और सबके लिए एक ही आचार्य का होना मान्य रखा। इस प्रकार एक आचार्य, एक आचार, एक विचार और एक समाचारी के लिए तेरापंथ को उन्होंने अन्य सभी धर्मसंघों के लिए अनुकरणीय बना दिया।

स्वामीजी एक ऐसे महापुरुष थे जिनके जीवन का प्रत्येक पृष्ठ सत्यग्राहिता, सहिष्णुता, उदारता और समता भाव से ओत-प्रोत मिलेगा, साथ ही कदाचार पर कठोर प्रहार करने की निर्भीकता भी पग-पग पर देखने को मिलेगी। उनके जीवन की विभिन्न घटनाएं मनुष्य को सद्गुणों की ओर उत्प्रेरित करने वाली हैं। 'आचार्य भिक्षु' नाम से प्रस्तुत किया जा रहा उनका यह जीवनवृत्त प्रत्येक पाठक के लिए अनुशीलनीय होगा, ऐसी आशा करता हूं।

—मुनि बुद्धमल्ल

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

विषयानुक्रम

भिक्षु पूर्व

प्राग्-ऐतिहासिक काल

उत्स की ओर १७, भगवान् ऋषभनाथ १७, सभ्यता का विकास १७, धर्म-प्रवर्त्तन १८, भगवान् अरिष्टनेमि १८, इतिहास की परिधि १८, सुदूर अतीत १९।

ऐतिहासिक काल

भगवान् पार्श्वनाथ २०, भगवान् महावीर २१, उत्तरवर्ती आचार्य २२, विभिन्न पट्टावलियां २३, शुद्ध परम्परा २६, शिथिलाचार का प्रारम्भ २६, सम्प्रदाय-भेद के बीज २७, श्वेताम्बर और दिगम्बर २८, चैत्यवासी और संविग्न २९, लोंकामत ३०, स्थानकवासी ३०, तेरापंथ ३१, दिगम्बर तेरापंथ ३२, अन्तिम सम्प्रदाय ३३।

उद्भवकालीन स्थितियां

राजनीतिक स्थिति ३५, सामाजिक स्थिति ३७, धार्मिक स्थिति ३८, ग्रह-स्थिति ४४, भविष्य के लिए ४६, वर्तमान में ४८।

आचार्य भिक्षु

अध्याय १ : गृही-जीवन

विरल मनुष्यों में से एक ५१, जन्मभूमि ५२, वंशावली ५२, जन्म ५४, अध्ययन ५५, स्वाभिमान ५५, विवाह ५६, निपुण गृहस्थ ५६, समय की सूझ ५७, सुधारवादी ५७, दम्भ का विरोध ५८, ओ कुण कालो जी काबरो ५८, गाली गाने की कुप्रथा ५९, शीतला आदि का विरोध ५९, धर्म-जिज्ञासा ५९, उत्कट विराग ६०, पत्नी-वियोग ६०, आत्म-परीक्षा ६१, आज्ञा की मांग ६१, बुआ का विरोध ६२, स्वप्न की सत्यता ६२, आज्ञा-प्राप्ति ६३, माता की व्यवस्था ६४, वस्तुओं के भाव ६४।

अध्याय २ : भाव संयम की भूमिका

दीक्षा-ग्रहण ६६, मित्र रामचरणजी ६६, अध्ययन और मीमांसा ६७, भावी आचार्य ६८, श्रावकों में अश्रद्धा ६९, शास्त्र-पत्र ६९, खुला बहिष्कार ७०, गुरु का आदेश ७०, राजनगर में ७१, ध्यानाकर्षण ७१, एक आश्वासन ७२, हृदय-मन्थन ७३, एक प्रतिज्ञा ७३, आगम-मन्थन ७४, निष्कर्ष की घोषणा ७५, संघ-कल्याण की दृष्टि ७६, आचार्य की ओर ७६, साथी की भूल ७७, गुरु का

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

रुख ७७, नम्र निवेदन ७८, कोई प्रभाव नहीं ७९, अवसर की प्रतीक्षा ८०, जोधपुर चतुर्मास ८१, आचार्य जयमलजी से विमर्शन ८१, पूर्ण सहयोग का निर्णय ८२, परिणाम-भंग ८२, नव-निर्माण की भूमिका ८३, अभिनिष्क्रमण ८४।

अध्याय ३ : नवजीवन की ओर

दृढ़ता के साथ ८६, संघ की 'आण' ८६, जैतसिंह की छत्री में ८७, गुरु के मोहोद्गार ८७, एक धमकी ८९, ऐतिहासिक स्थल ८९, बगड़ी से विहार ९०, बरलू में चर्चा ९१, आचार्य जयमलजी से मिलन ९२, तेरह साधु ९३, जोधपुर में ९४, एक केन्द्र ९५, किसनोजी की व्यवस्था ९६, श्रावक और महामंत्री ९७, नामकरण ९९, तेरापंथ का अर्थ ९९, नाम और काम का तादात्म्य १००।

अध्याय ४ : तेरापंथ का उदय

उषःकाल १०२, व्यवस्था-सम्बन्धी निर्णय १०३, केलवा में १०३, अंधेरी कोठरी १०५, उपसर्ग-विजय १०६, सभी प्रभावित १०७, भाव-संयम १०८, तेरापंथ की कुंडली १०८, प्रथम दान १०९, ठाकुर मोखमसिंहजी ११०, श्रद्धा के अंकुर ११०, सफल चतुर्मास १११, तेरह में से छह १११।

अध्याय ५ : जन-उद्धारक आचार्य

जन-भ्रांति ११३, निराशा के क्षण ११४, लोमहर्षक तपस्या ११४, महापुरुषों की परम्परा में ११५, करेंगे या मरेंगे ११६, जनभावना में मोड़ ११७, एक प्रेरणा ११८, प्रेरणा की प्रतिक्रिया ११९, धर्म-प्रचार की ओर ११९, आत्म-बल ही सहायक १२०, संदेशवाहक १२१, चतुर्विध संघ १२२, संख्या वृद्धि १२४।

अध्याय ६ : जीवन-संग्राम

समस्या-संकुल वर्ष १२५, स्थान की समस्या १२५, पाली में स्थान-परिवर्तन १२६, किराये पर दे दो १२७, या भीखणजी, या हम १२७, उदयपुर से निष्कासन १२८, नाथद्वारा से निष्कासन १२९, वस्त्र की समस्या १३२, आहार की समस्या १३२, रोटी पर दण्ड १३३, तीन गोचरी १३३, घी सहित घाट १३४, हूं तो तेरापंथी ही १३६, मुझे तो त्याग है १३७, घेरों का बिखराव १३७।

अध्याय ७ : संघर्षों के निकष पर

प्रवाह के समान १३८, स्थायी भाव १३८

बाह्य संघर्ष–निकष पर समर्पित १३९, 'तूंतड़ों' की तरह १३९, छुरा मार दूं १४०, साला हो सकता हूं १४०, निन्दित कर डालूंगा १४२, इससे झगड़ १४३, शत्रु-सेना से लड़ो १४३, क्यों भ्रान्त करते हो? १४५, रावण के सामन्त १४६, मुंह भी न देखूं १४६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आन्तरिक संघर्ष–एक विद्रोह १४७, उपयुक्त उत्तराधिकारी कौन? १४७, पृथक् होने की धमकी १४८, आओ, संथारा करें १४९, निष्कासन और ग्रहण १४९, पुनः निष्कासन १५०, थली की ओर १५०, चूरू में १५१, राठों द्वारा हत्या १५२, बिखराव १५२।

अध्याय ८ : जीवन के विविध पहलू
पुस्तक, नदी और ईक्षु १५३, घटनाओं के माध्यम से १५३।

१. **विरोध का सामना विनोद से**–कीचड़ से ऊपर १५४, और तुम्हारा मुंह देखने से? १५४, तुम विधवा कैसे हो गई? १५५, नृत्य को रोक क्यों रहे हो? १५५, पोता-चेला १५६।

२. **बुराई में भी भलाई की खोज**–अवगुण-लेखन १५७, अवगुण निकालने ही हैं १५७, समझ आने पर भक्ति भी करेगा १५७, ठोक-बजाकर देखता है १५८।

३. **आकर्षण के केन्द्र**–रोकथाम के बावजूद १५८, ऐसा हठ मत करना १५८, ऐसी प्रार्थना मत करना १५८, तभी इतनी महिमा है १५९, मोहर के योग्य १५९, शिल्पियों की कमी १६०, सरस व्याख्यान १६०, भीखणजी कैसे लगे? १६१।

४. **अपराजेय व्यक्तित्व**–महान् चर्चावादी १६२, मंत्रवादी के समान १६३, चर्चा महंगी पड़ती है १६३, अकबरी मोहरें १६४, किस न्याय से? १६४, घोड़े के कितने पैर १६५।

५. **समझाने की उत्तम पद्धति**–अपच न होने पाये १६५, जैसा रोग वैसी औषधि १६६, गाय को क्या खिलाती हो? १६६, ज्ञान भी तो चारा बन गया १६७, साधु कौन और ढोंगी कौन? १६७, साहूकार और दिवालिया १६८, एक टोला शेष रहा १६८, वस्त्र रखने में दोष नहीं १६९, चौका और मस्तक १७०, सात या आठ आत्मा १७०, पूर्वजों का अस्तित्व १७१, मिश्री और सन्त १७१, नदी और कलियां १७२, शाह और साधु १७२, तो संवर कर ले १७२, कौन-सा खपरेल लायेगा १७३, छह महीने बचे १७३, ऊपर के चावल १७४, कितना दण्ड १७५, दया माता है १७५, ऐसे ही समझदार १७६।

६. **न्याय के विचित्र प्रकार**–न्याय की तुला पर १७६, रस्सी से नाप आओ १७७, लोलुप कौन? १७८।

७. **आचार-हीनता के विरोधी**–कहो साधु किसका सगा? १७८, पांच का सम्बन्ध-विच्छेद १७९, रातभर पीसा १७९, सब काला ही

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

काला १७६, तार निकालो १८०, लड़का और सगाई १८०, जमाई और हलुआ १८०।

८. **आचार-निष्ठ व्यक्तित्व**–पूर्ण जागरूक १८१, व्यक्तिगत भी नहीं लेंगे १८१, पात्र दिखलाओ १८२, बतलाना नहीं कल्पता १८३, हाथ कहां धोएगी १८३, वे निन्दा नहीं करते १८४, त्रुटि पर 'तेला' १८५, दोष होगा, तो नहीं खोलेंगे १८५, भीखणजी में सम्भव है १८६, श्रेष्ठ साधु हैं १८६, यही अन्तर है १८६।

९. **अध्यात्म-प्रेरक**–अमृतमय प्रेरणा १८७, रूपांजी की चिंता छोड़ १८७, बहिन चली गयी १८८, त्याग-भंग उचित नहीं १८८, कब भैंस ब्याए? १८९, व्यर्थ का आरम्भ १८९, वह बुद्धि किस काम की? १९०, 'धम्मो मंगल' सुनाइये १९०, अवकाश के क्षण १९१।

१०. **सत्य-भक्त**–सत्य समर्पित १९२, पछेवड़ी बड़ी नहीं निकली १९२, बात सत्य है या असत्य १९२, उस दिन दिगम्बर बन जाएंगे १९३।

११. **असत्य के विरोधी**–असत्य पर चोट १९३, गुड़ कौन लाया? १९४, कयरे मग्गे मक्खाया १९४, जीवित हो? १९५।

१२. **स्पष्टवादी**–डंके की चोट १९५, हाथी तो दिखाई देता है? १९६, उत्तर भी सत्पात्र में १९६, चोर की तरह नहीं १९७, धूर्त चोर १९७, पहले कैसे आ गए? १९८, चूक हो गई १९९।

१३. **तीखे आलोचक**–शल्य-क्रिया १९९, नग्न-नृत्य १९९, खोटा सिक्का २००, बलात् की गई सती २०१, मिठाई कड़वी है २०१, कार्तिक के ज्योतिषी २०२, कायर क्षत्रिय २०२, तेरे बाप का क्या जाएगा? २०२, पोल न खुल जाए २०३।

१४. **जैसे को तैसा**–'ता' और 'तं' कितने हैं? २०४, धर्म हुआ या अधर्म? २०४, कलाल का पानी २०५, विवाह के बिना धर्म नहीं २०५, तुमने भी व्यापार नहीं छोड़ा २०६, पानी से ज्ञानी नहीं २०७, दो अधिक सही २०७, पांच रुपये की आज्ञा २०८।

१५. **पात्रानुसार उत्तर**–भाजन देखकर २०८, जितना गुड़, उतना मीठा २०९, पांचलड़ा जीव २०९, अभी चर्चा मत करो २१०, अपने प्रश्न को संभालो २११, आज्ञा दी, वह धर्म है २११।

१६. **मानव-मन के पारखी**–तलस्पर्शी ज्ञान २११, दीक्षा का भय २१२, जामाता रोने लगे तो? २१२, नया कलह मत कर आना २१३, मुझे ही

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

सत्य किया २१४, निंदा के लिए तो नहीं २१४, पूछते हैं, वहां नहीं जाते २१५, कलह के लिए आए हैं २१५।

१७. **विनोदी स्वभाव**–आह्लाद बांटते २१६, कितनी मूर्त्तियां? २१६, ढंढण से कम नहीं २१७, एक अक्षर का अन्तर २१७, आबू गए या नहीं? २१८, जोड़ना अच्छा या तोड़ना? २१८, बाजोट टूटे तो? २१८, वह पैर सरकाया २१९, काचरी की कमी २१९, सूत्र-व्यतिरिक्त २१९, खोटा काम २२०, दिए हुए 'डाम' २२०, महापुरुष अब भी खाते हैं २२१, नगजी का तत्त्व-ज्ञान २२१।

१८. **गहरे व्यंग्य**–पैनी मधुरता २२२, दोनों ही सत्य हैं २२२, यह कला किससे सीखी? २२३, दुःखी की रात २२३, झालर और कुत्ता २२४, ठूंठ को नहीं २२४, सर्वाधिक आघात २२४, रुपयों के श्रावक २२५, गांव के निकट खेत २२५, नगजी का तेज २२५, कसाई से भी बुरे २२६, पत्र उड़ गया तो? २२६, मूल ज्ञान आ गया २२६, महात्मा-धर्म २२७, गधे पर बिठाएं तो २२७, मेरणियां और दीक्षा २२८।

अध्याय ९ : महान् साहित्य-सर्जक

साधना का साहित्य २२९, जन-भाषा में २३०, जन-उद्बोधन के लिए २३०, बाण की तरह २३१, आदिस्रोत की कहानी २३२, ऐसे कर लेता हूं २३३।

साहित्य-परिक्रमा–आचार री चौपई २३३, अनुकम्पा री चौपई २३७, नव पदार्थ २३८, विनीत अविनीत री चौपई २४०, आख्यान २४३, गद्य २४७, वर्गीकरण २४९।

अध्याय १० : जीवन का संध्याकाल

सक्रिय ज़ीवन २५४, 'नांगला' और 'झोलका' २५४, खड़े होकर प्रतिक्रमण २५४, सोया ही कौन था? २५५, लिखित उत्तर २५६, बाटी की घाटी २५६, अन्तिम विहार २५७, सप्तर्षि-मण्डल २५७, उस समय का सिरियारी २५७, अन्तिम चतुर्मास २५९, दस्तों का रोग २५९, मृत्यु का पूर्वाभास २५९, शिष्यों की प्रशंसा २६०, अन्तिम शिक्षा २६०, मोह मत करना २६२, मेरे से बहुत बड़े २६२, कोई कामना नहीं २६३।

अध्याय ११ : महाप्रस्थान

आत्म-आलोचन २६४, खमत-खामणा २६४, अब इस देह का क्या मूल्य? २६५, अन्तिम भोजन २६६, दो दिन का उपवास २६६, पराक्रम क्षीण पड़ रहा है २६६, आजीवन-अनशन २६७, व्याख्यान दो २६७, दर्शनोत्सुक जनता २६८, अदृष्ट का आभास २६८, महाप्रस्थान २६९।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

अध्याय १२ : शेष-अशेष

अग्नि समर्पित २७१, स्मारक की विस्मृति २७१, स्मृति और खोज २७२, पुनर्निर्माण २७३, धर्म-जागरणा एवं महोत्सव २७३, देव-आह्वान २७४, स्वप्न संपर्क २७५।

अध्याय १३ : ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष २७६, महत्त्वपूर्ण स्थान २७६, आयुष्य-विवरण २७६, शरीर का गठन २७६, विशिष्ट शारीरिक चिह्न २७६, जन्म-कुंडली २७७, विहार-क्षेत्र २७८, चतुर्मास-विवरण २७८, शिष्य-सम्पदा २७६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

भिक्षु पूर्व

प्राग्-ऐतिहासिक काल

उत्स की ओर

तेरापंथ का इतिहास वि.सं. १८१७ आषाढ़-पूर्णिमा (ईस्वी सन् १७६०, २६ जून) शनिवार से प्रारम्भ होता है। इस आधार पर उसे एक अर्वाचीन धर्म-संगठन कहा जा सकता है, परन्तु उसके उत्स का सन्धान करते समय क्रमशः भगवान् महावीर और फिर भगवान् ऋषभनाथ तक के समय का अवगाहन करना अनिवार्य हो जाता है। उस स्थिति में अर्वाचीन तेरापंथ अपने में प्राचीनता की उस सीमा को संभाले हुए आगे बढ़ता प्रतीत होता है जो सुज्ञात भारतीय इतिहास की सीमा से भी बहुत परे की है। कहा जा सकता है, तेरापंथ जैन धर्म की शाश्वत प्रवहमान धारा का युग-धर्म के रूप में एक नवीन संस्करण है। तेरापंथ के इतिहास को जानने के साथ यह आवश्यक है कि उसके उत्स की ओर भी एक दृष्टि-निक्षेप किया जाये।

भगवान् ऋषभनाथ

अहिंसा, सत्य आदि धर्म के शाश्वत तत्त्व हैं, फिर भी मानव-संस्कृति के विकास और ह्रास के साथ-साथ वे स्मृत और विस्मृत होते रहते हैं। विस्मृत धार्मिक तत्त्वों को पुनः स्मृत कराना धर्म का संस्थापन कहा जाता है। वर्तमान कालचक्र के अवसर्पिणी भाग में भगवान् ऋषभनाथ ने सर्वप्रथम धर्म का संस्थापन किया।

उपलब्ध इतिहास की दृष्टि से उस काल को प्राग्-ऐतिहासिक काल कहा जाता है। वर्तमान मानव-सभ्यता का उस काल में बीज-वपन हुआ था। उससे पूर्व मनुष्य युगलरूप में रहता था। वृक्षों से ही अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति किया करता था।

सभ्यता का विकास

भगवान् ऋषभनाथ ने नई सभ्यता की नींव डाली। उन्होंने लोगों को कृषि-कर्म सिखलाया। अग्नि से काम लेने की प्रक्रिया स्थापित की। सामाजिक,

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आर्थिक और राजनीतिक तंत्रों की व्यवस्था की। सभ्यता का वह आदि युग था। भगवान् ऋषभनाथ उसके संस्थापक थे; अतः वे आदिनाथ कहलाये।

धर्म-प्रवर्त्तन

लोक-धर्म की स्थापना के पश्चात् भगवान् ऋषभनाथ ने लोकोत्तर-धर्म—मोक्ष-धर्म का प्रवर्त्तन किया। वह भोग से त्याग की ओर, असंयम से संयम की ओर तथा तम से ज्योति की ओर अभियान था। इस कालचक्र में जैन धर्म का आदि स्रोत वहीं से प्रारम्भ हुआ। भगवान् ऋषभ जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर थे।

भगवान् अरिष्टनेमि

भगवान् ऋषभ के पश्चात् होने वाले तीर्थंकरों में अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर थे। वे श्रीकृष्ण के चचेरे भाई होने के साथ-साथ उनके आध्यात्मिक गुरु भी थे। **छांदोग्य उपनिषद्** में श्रीकृष्ण के गुरु का नाम घोर आंगिरस बतलाया है। उन्होंने श्रीकृष्ण को आत्म-यज्ञ का उपदेश दिया। उस यज्ञ की दक्षिणा बतलाई गई है—तपश्चर्या, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य।[1] ये सब-के-सब आत्म-गुण हैं। वेदों में आत्म-तत्त्व की कोई सुस्थिर मान्यता प्रतिपादित नहीं मिलती, जबकि जैन धर्म प्रारम्भ काल से ही आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है; अतः कुछ इतिहासवेत्ताओं का मत है कि वेदों से भी पूर्व आत्म-विषयक इतना सुव्यवस्थित उपदेश देने वाले जैन तीर्थंकर अरिष्टनेमि ही थे। वैदिक साहित्य में वे ही घोर आंगिरस नाम से वर्णित हुए हैं।

इतिहास की परिधि

भगवान् ऋषभ से भगवान् अरिष्टनेमि तक के बाईस तीर्थंकरों का काल प्राग्-ऐतिहासिक इसलिए कहा जाता है कि उस काल पर प्रकाश डालने वाला कोई समसामयिक साहित्य अथवा वास्तु-शिल्प आदि उपलब्ध नहीं है। जैन साहित्य का विशाल भाग प्रायः भगवान् महावीर के पूर्व का नहीं है। थोड़ा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का उसमें अवश्य सम्मिलित माना जाता है। बौद्ध साहित्य ने तो निस्सन्देह महात्मा बुद्ध से ही अपना आदि स्रोत प्रारम्भ किया है।

वैदिक साहित्य अवश्य अपेक्षाकृत प्राचीन है। वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। उनका अस्तित्व पांच हजार वर्ष पूर्व का कहा जाता है। वर्तमान इतिहास की परिधि भी प्रायः वहीं तक सीमित है। उसके पूर्व की घटनाओं को सिद्ध करने का कोई मार्ग उपलब्ध नहीं है।

---

१. छांदोग्य उपनिषद्, ३।१७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

सुदूर अतीत

बाईस तीर्थंकरों का समय इतिहास की दृष्टि-शक्ति से परे सुदूर अतीत में चला जाता है। यद्यपि वेदों में भगवान् ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमि का नामोल्लेख हुआ है[1] और वहां उनकी स्तुति की गई है, फिर भी उससे केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि वेद-रचना से पूर्व उन महापुरुषों के नामों से जनता परिचित थी।

१. 'इण्डियन फिलॉसॉफी' (Vol. I, P. 287) में डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं--
The yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha, Ajitnath and Aristanemi.

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

ऐतिहासिक काल

भगवान् पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका जन्म वाराणसी में हुआ। उनके पिता राजा अश्वसेन और माता वामादेवी थी। उन्होंने भगवान् महावीर से प्रायः दो सौ पचास वर्ष पूर्व तीर्थ-प्रवर्त्तन किया। उनकी परम्परा भगवान् महावीर के समय तक अविच्छिन्न चलती रही। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के ही अनुयायी थे। भगवान् पार्श्वनाथ चातुर्याम धर्म का उपदेश देते थे।[१] वे चार याम थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और बहिर्द्धादान।

जैन परम्परा के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर पंचयाम धर्म का प्रवर्त्तन करते हैं और शेष बाईस तीर्थंकर चातुर्याम धर्म का। भगवान् महावीर ने जब पंचयाम धर्म का प्रवर्त्तन किया, तब भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अनेक मुनि संदिग्ध हुए कि एक उद्देश्य से प्रवृत्त होने पर भी धर्म में यह द्वैध कैसा? वे भगवान् महावीर के शिष्यों से मिले, चर्चाएं कीं और दोनों का अभेद समझकर अन्ततः पंचयाम धर्म में प्रविष्ट हो गये।[२]

उस सम्मिलन से पूर्व तक भगवान् पार्श्व की परम्परा काफी सबल रूप में चलती रही थी। समाज के प्रायः सभी वर्गों को उसने प्रभावित किया था। बौद्ध-धर्म प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध भी प्रारम्भ में उस परम्परा से प्रभावित रहे थे। बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी का मत है कि बोधि-प्राप्ति से पूर्व कुछ समय के लिए भगवान् बुद्ध पार्श्व-परम्परा में दीक्षित हुए थे।[३] बोधि-प्राप्ति से पूर्व का अपना जीवन-चरित्र बतलाते हुए स्वयं बुद्ध ने जो बातें कही हैं, वे कौशाम्बीजी के मत को पुष्ट करने वाली हैं। वे अधिकांश बातें जैनाचार से सम्बन्धित हैं। उन्होंने अपने

---

१. उत्तराध्ययन, २३।२३।

२. वही; २३। २४-८७।

३. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ. २४-२६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए कहा—'सारिपुत्र! बोधि-प्राप्ति से पूर्व मैं दाढ़ी-मूंछों का लुंचन करता था। मैं खड़ा रहकर तपस्या करता था, उकड़ू बैठकर तपस्या करता था। मैं नंगा रहता था। लौकिक आचारों का पालन नहीं करता था। हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था।...बैठे हुए स्थान पर आकर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किए हुए अन्न को और निमंत्रण को भी स्वीकार नहीं करता था। गर्भिणी व स्तनपान करानेवाली स्त्री से भिक्षा नहीं लेता था।'[1]

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे। बिहार प्रान्त के क्षत्रिय कुण्डपुर में वि.पू. ५४२ (ई.पू. ५९९) में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उनका जन्म हुआ। उनके पिता राजा सिद्धार्थ और माता वैशालीपति चेटक की बहिन त्रिशला थी।[2] भगवान् महावीर जब युवावस्था को प्राप्त हुए, तब यशोदा नामक राजकन्या के साथ उनका विवाह किया गया।[3] उनके प्रियदर्शना नामक एक पुत्री हुई, जो कि राजकुमार जमालि को ब्याही गई।

तीस वर्ष की पूर्ण युवावस्था में सहज प्राप्त सुखों को ठुकराकर वे आत्म-साधना में लग गये। दीक्षित होते समय उनकी प्रथम प्रतिज्ञा थी—'आज से मेरे लिए सब प्रकार के दोषाचरण अकरणीय हैं।'[4] उन्होंने अपने-आपको तपश्चर्या और तत्त्व-चिन्तन में लगा दिया। बारह वर्ष और साढ़े छः महीने की निरन्तर साधना के अनन्तर उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई।

साधना के शिखर को प्राप्त कर लेने के पश्चात् उन्होंने मध्यम पावा में आकर सब प्राणियों के हितार्थ धर्मोपदेश दिया। उन्हीं दिनों वहां सोमिल नामक धनाढ्य ब्राह्मण के यहां यज्ञ-विषयक एक विशाल अनुष्ठान चल रहा था। उसकी पूर्ति के लिए इन्द्रभूति आदि ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे। महावीर की प्रशंसा सुनकर उनका पाण्डित्य आहत हुआ। वे उनको शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए एक-एक करके वहां गये, किंतु उनके धर्मोपदेश से स्वयं प्रभावित हो गये। महावीर ने उनके प्रच्छन्न संशयों का भी समाधान प्रस्तुत कर दिया। वे श्रद्धाशील बने और भगवान् के पास प्रव्रजित हो गये। भगवान् ने साधु-समूह की व्यवस्था का भार

---

१. (क) मज्झिमनिकाय, महासिंहनाद सुत्त; १।१।२।
(ख) धर्मानन्द कौशाम्बी, भगवान् बुद्ध, पृ. ६८, ६९।

२. आवश्यक चूर्णि में कहा गया है--'भगवतो माया चेडगस्स भगिणी'--भगवान् की माता चेटक की भगिनी थी, परन्तु दिगम्बर मान्यता है कि वह चेटक की पुत्री थी।

३. दिगम्बर मान्यता है कि महावीर अविवाहित थे।

४. आयारचूला १५।३२ : 'सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मंति'।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उपर्युक्त ग्यारह विद्वान् शिष्यों को सौंपा; अतः वे गणधर कहलाए। साध्वी-समूह की व्यवस्था के लिए उन्होंने आर्या चन्दनबाला को नियुक्त किया। उनके गृहस्थ भक्त श्रावक और श्राविका कहलाये। इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना हुई और धर्म-तीर्थ का प्रवर्त्तन हुआ।

अंग, बंग, मगध, विदेह, काशी, कोशल, वत्स, अवन्ती, कलिंग, पांचाल और सिंधुसौवीर आदि देशों में उन्होंने विहार किया। मगधराज श्रेणिक (बिंबसार) और कूणिक (अजातशत्रु), वैशालीपति चेटक, अवन्तीपति प्रद्योत, कौशाम्बीपति शतानीक आदि प्रभावशाली राजा तथा आनन्द, कामदेव आदि धनकुबेर नागरिक उनके अनन्य भक्त बन गये। स्कन्दक आदि अन्य धर्मावलम्बी संन्यासी भी उनके सर्व-भूत-समभावकारी उपदेश से प्रभावित होकर उनके पास प्रव्रजित हुए। हरिकेशबल जैसे शूद्र समझे जाने वाले व्यक्ति भी उनके धर्म-तीर्थ में आकर देव-पूजित बन गये।

लगभग तीस वर्ष तक जनपद-विहार करते हुए भगवान् महावीर ने जनता को अहिंसा और अनेकान्तवाद का उपदेश दिया। उन्होंने अपना अन्तिम वर्षावास मध्यम पावा में बिताया। वहां वि.पू. ४७० (ई.पू. ५२७) कार्तिक अमावस्या की रात्रि में वे निर्वाण-पद को प्राप्त हुए।

उत्तरवर्ती आचार्य

भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् आर्य सुधर्मा से उत्तरवर्ती आचार्यों की परम्परा प्रारम्भ होती है। विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित आचार्य परम्पराओं के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वह मुख्यतः तीन प्रकार से मिलती है :

१. गणाचार्य
२. वाचनाचार्य
३. युग-प्रधान आचार्य

गणाचार्य परम्परा अपने-अपने गण के गुरु-शिष्य क्रम से चलती रही है; जबकि वाचक तथा युगप्रधान परम्परा किसी एक गण से सम्बन्धित नहीं है। वह जिस-किसी भी गण या शाखा में होने वाले एक के पश्चात् दूसरे समर्थ वाचनाचार्यों तथा युगप्रधान आचार्यों के क्रम को जोड़ने से बनी है। अपने युग के सर्वोपरि प्रभावशाली आचार्य को युगप्रधान आचार्य माना गया है। वे गणाचार्य तथा वाचनाचार्य दोनों में से हुए हैं। गणाचार्य का कार्य गण की चारित्रिक सुव्यवस्था करना और वाचनाचार्य का कार्य गण की शैक्षणिक सुव्यवस्था करना होता है। आचार्य सुहस्ती तक ये दोनों कार्य अविभक्त थे, परन्तु बाद में विभक्त हो गये। गणाचार्य परम्परा को गणधर-वंश तथा वाचनाचार्य परम्परा को वाचक-वंश या विद्याधर-वंश भी कहा जाता रहा है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

विभिन्न पट्टावलियां

१. हिमवंत की **स्थविरावली** के अनुसार वाचक-वंश या विद्याधर-वंश की परम्परा इस प्रकार है :

१. गणधर सुधर्मा
२. आचार्य जम्बू
३. आचार्य प्रभव
४. आचार्य शय्यम्भव
५. आचार्य यशोभद्र
६. आचार्य सम्भूति विजय
७. आचार्य भद्रबाहु
८. आचार्य स्थूलभद्र
९. आचार्य महागिरि
१०. आचार्य सुहस्ती
११. आर्य बहुल और बलिसह
१२. आचार्य (उमा) स्वाति
१३. आचार्य श्याम
१४. आचार्य सांडिल्य (स्कंदिल)
१५. आचार्य समुद्र
१६. आचार्य मंगुसूरि
१७. आचार्य नन्दिलसूरि
१८. आचार्य नागहस्तीसूरि
१९. आचार्य रेवति नक्षत्र
२०. आचार्य सिंहसूरि
२१. आचार्य स्कंदिल
२२. आचार्य हिमवन्त क्षमाश्रमण
२३. आचार्य नागार्जुनसूरि
२४. आचार्य भूतदिन्न
२५. आचार्य लोहित्यसूरि
२६. आचार्य दूष्यगणी
२७. आचार्य देववाचक (देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण)
२८. आचार्य कालक (चतुर्थ)
२९. आचार्य सत्यमित्र (अन्तिम पूर्वविद्)

२. **दुस्सम काल समण संघत्थव** तथा **विचार श्रेणी** के अनुसार युगप्रधान-पट्टावली और समय इस प्रकार है :

	आचार्यों के नाम	**समय (वीर-निर्वाण सं.)**
१.	गणधर सुधर्मा	१ से २०
२.	आचार्य जम्बू	२० से ६४
३.	आचार्य प्रभव	६४ से ७५
४.	आचार्य शय्यम्भव	७५ से ९८
५.	आचार्य यशोभद्र	९८ से १४८
६.	आचार्य सम्भूति विजय	१४८ से १५६
७.	आचार्य भद्रबाहु	१५६ से १७०
८.	आचार्य स्थूलभद्र	१७० से २१५
९.	आचार्य महागिरि	२१५ से २४५

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्यों के नाम		समय (वीर-निर्वाण सं.)
१०.	आचार्य सुहस्ती	२४५ से २९१
११.	आचार्य गुणसुन्दर	२९१ से ३३५
१२.	आचार्य श्याम	३३५ से ३७६
१३.	आचार्य स्कंदिल	३७६ से ४१४
१४.	आचार्य रेवतिमित्र	४१४ से ४५०
१५.	आचार्य धर्मसूरि	४५० से ४९५
१६.	आचार्य भद्रगुप्तसूरि	४९५ से ५३३
१७.	आचार्य श्रीगुप्तसूरि	५३३ से ५४८
१८.	आचार्य वज्रस्वामी	५४८ से ५८४
१९.	आचार्य आर्यरक्षित	५८४ से ५९७
२०.	आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र	५९७ से ६१७
२१.	आचार्य वज्रसेनसूरि	६१७ से ६२०
२२.	आचार्य नागहस्ती	६२० से ६८९
२३.	आचार्य रेवतिमित्र	६८९ से ७४८
२४.	आचार्य सिंहसूरि	७४८ से ८२६
२५.	आचार्य नागार्जुनसूरि	८२६ से ९०४
२६.	आचार्य भूतदिन्नसूरि	९०४ से ९८३
२७.	आचार्य कालकसूरि (चतुर्थ)	९८३ से ९९४
२८.	आचार्य सत्यमित्र	९९४ से १०००
२९.	आचार्य हारिल्ल	१००० से १०५५
३०.	आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	१०५५ से ११९५
३१.	आचार्य (उमा) स्वाति सूरि	११९५ से ११९७
३२.	आचार्य पुष्यमित्र	११९७ से १२५०
३३.	आचार्य सम्भूति	१२५० से १३००
३४.	आचार्य माठर सम्भूति	१३०० से १३६०
३५.	आचार्य धर्म ऋषि	१३६० से १४००
३६.	आचार्य ज्येष्ठांगगणी	१४०० से १४७१
३७.	आचार्य फल्गुमित्र	१४७१ से १५२०
३८.	आचार्य धर्मघोष	१५२० से १५९८

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

३. वाल्लभी युगप्रधान-पट्टावली इस प्रकार है :

आचार्यों के नाम	समय (वीर-निर्वाण सं.)
१. आर्य सुधर्मा	२० वर्ष
२. आचार्य जम्बू	४४ वर्ष
३. आचार्य प्रभव	११ वर्ष
४. आचार्य शय्यम्भव	२३ वर्ष
५. आचार्य यशोभद्र	५० वर्ष
६. आचार्य सम्भूति विजय	८ वर्ष
७. आचार्य भद्रबाहु	१४ वर्ष
८. आचार्य स्थूलभद्र	४६ वर्ष
९. आचार्य महागिरि	३० वर्ष
१०. आचार्य सुहस्ती	४५ वर्ष
११. आचार्य गुणसुन्दर	४४ वर्ष
१२. आचार्य कालक	४१ वर्ष
१३. आचार्य स्कंदिल	३८ वर्ष
१४. आचार्य रेवतिमित्र	३६ वर्ष
१५. आचार्य मंगु	२० वर्ष
१६. आचार्य धर्म	२४ वर्ष
१७. आचार्य भद्रगुप्त	४१ वर्ष
१८. आचार्य आर्यवज्र	३६ वर्ष
१९. आचार्य रक्षित	१३ वर्ष
२०. आचार्य पुष्यमित्र	२० वर्ष
२१. आचार्य वज्रसेन	३ वर्ष
२२. आचार्य नागहस्ती	६९ वर्ष
२३. आचार्य रेवतिमित्र	५९ वर्ष
२४. आचार्य सिंहसूरि	७८ वर्ष
२५. आचार्य नागार्जुन	७८ वर्ष
२६. आचार्य भूतदिन्न	७९ वर्ष
२७. आचार्य कालक	११ वर्ष
	कुल ९८१ वर्ष

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

४. माथुरी युगप्रधान-पट्टावली इस प्रकार है :

१. आर्य सुधर्मा
२. आचार्य जम्बू
३. आचार्य प्रभव
४. आचार्य शय्यम्भव
५. आचार्य यशोभद्र
६. आचार्य सम्भूति विजय
७. आचार्य भद्रबाहु
८. आचार्य स्थूलभद्र
९. आचार्य महागिरि
१०. आचार्य सुहस्ती
११. आचार्य बलिसह
१२. आचार्य स्वाति
१३. आचार्य श्याम
१४. आचार्य सांडिल्य
१५. आचार्य समुद्र
१६. आचार्य मंगु
१७. आचार्य धर्म
१८. आचार्य भद्रगुप्त
१९. आचार्य वज्र
२०. आचार्य रक्षित
२१. आचार्य आनन्दिल
२२. आचार्य नागहस्ती
२३. आचार्य रेवतिनक्षत्र
२४. आचार्य ब्रह्म. दीपकसिंह
२५. आचार्य स्कंदिल
२६. आचार्य हिमवन्त
२७. आचार्य नागार्जुन
२८. आचार्य गोविन्द
२९. आचार्य भूतदिन्न
३०. आचार्य लोहित्य
३१. आचार्य दूष्यगणी
३२. आचार्य देवर्द्धिगणी

शुद्ध परम्परा

भगवान् महावीर को निर्वाण हुए सहस्र वर्ष भी पूरे नहीं हो पाये थे कि उनकी शुद्ध परम्परा का लोप हो गया। सुप्रसिद्ध आगम-टीकाकार अभयदेव सूरि के कथनानुसार देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक ही भाव परम्परा चलती रही, परन्तु उसके पश्चात् मुनिगण शिथिलाचारी हो गया और नानारूपों में द्रव्य-परम्परा का बोलबाला हो गया।[1]

शिथिलाचार का प्रारम्भ

शिथिलाचार का सूत्रपात आर्य सुहस्ती से हुआ। वे सम्राट् सम्प्रति के गुरु बन कर कुछ सुविधाओं का उपभोग करने लगे। सम्प्रति ने दुर्भिक्ष के समय मुनिजनों को आहार सुलभ कराने के लिए लोगों को कुछ संकेत किया और तदनुसार साधुओं को यथेष्ट भोजन मिलने लगा। आचार्य महागिरि जब वहां आये और दुर्भिक्ष के समय भी आहार की विशेष सुलभता देखी, तो उन्हें कुछ संदेह हुआ। पता लगाने पर सारी

१. आगम-अष्टोत्तरी : 'देवड्ढि खमासमणजा, परंपरं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा।।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्थिति स्पष्ट सामने आ गई। उन्होंने आर्य सुहस्ती से उस विषय में पूछा, तो वे उसका यथेष्ट उत्तर नहीं दे पाये। इस पर महागिरि ने उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।[1] आचार्य महागिरि की उस दृढ़ नीति ने आर्य सुहस्ती को संभलने के लिए बाध्य कर दिया। यद्यपि आर्य सुहस्ती तो शीघ्र ही संभल गये, परन्तु जो शिथिलाचार उनसे प्रश्रय पा चुका था, वह निर्मूल नहीं हो सका। अन्दर ही अन्दर शुद्ध परम्परा के साथ-साथ एक शिथिल परम्परा भी चल पड़ी और चलती रही।

पंडित बेचरदासजी के मतानुसार तो शिथिलता का चक्र और भी पहले प्रारम्भ हो गया था। वे लिखते हैं—'जम्बू स्वामी तक जैन मुनियों का यथोपदिष्ट आचार रहा। उसके बाद ही जान पड़ता है कि बुद्धदेव के अतिशय लोकप्रिय मध्यम मार्ग का उन पर प्रभाव पड़ने लगा। शुरू-शुरू में तो शायद जैन धर्म के प्रसार की भावना से ही वे बौद्ध साधुओं जैसी आचार की छूट लेते होंगे, परन्तु पीछे उसका उन्हें अभ्यास हो गया। इस तरह एक सदभिप्राय से भी उक्त शिथिलता बढ़ती गई, जो आगे चलकर चैत्यवास में परिणत हो गई।'[2]

सम्प्रदाय-भेद के बीज

जहां विचार होता है, वहां विचार-भेद की सम्भावना भी रहती ही है। विचार-समन्वय और विचार-भेद का इतिहास प्रायः एक समान ही प्राचीन है। पारस्परिक विचार-समन्वय जहां संगठन के लिए नींव का पत्थर बनता है, वहां विचार-भेद उसको विभक्त कर देने वाला विस्फोट होता है। विस्फोट में से फिर विचार-समन्वय की खोज होती है और उसी आधार पर नए संगठन अथवा सम्प्रदाय की नींव रखी जाती है।

भगवान् महावीर के शासन में विचार-भेद का क्रम उनकी विद्यमानता में ही प्रारम्भ हो गया था। गोशालक प्रारम्भ में उनके शिष्य रहे थे, परन्तु बाद में पृथक् होकर वे आजीवक सम्प्रदाय के आचार्य बन गये। महावीर के जामाता जमालि भी उनकी विद्यमानता में ही विचार-भेद हो जाने पर उनके धर्मसंघ से पृथक् हो गये और अपना स्वतंत्र प्रचार करने लगे। गोशालक जैन परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न हो गये थे, जबकि जमालि कुछ बातों में मतभेद रखते थे। उन दोनों ने भगवान् महावीर के सिद्धांतों की प्रामाणिकता का विरोध किया था, अतः उनके संगठनों को जैन शासन के अंगभूत सम्प्रदायों की गणना में नहीं लिया जाता। भगवान् महावीर और उनके सिद्धांतों पर अखंड विश्वास रखने वाले विभिन्न संगठनों को ही इस गणना में लिया जाता है।

---

१. बृहत्कल्प चूर्णि, उद्देशक १।

२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ३५१।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जैन संघ में तीर्थंकर-वाणी को सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। वह आत्मानुभूत प्रत्यक्ष के आधार पर सूत्ररूप में प्ररूपित है। उसकी व्याख्या में विभिन्न मतभेद हुए, जो कि सम्प्रदाय-भेद के बीज कहे जा सकते हैं। भाष्यकार तथा टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे। उन्होंने सूत्र के आशय को यद्यपि परम्परा के प्रकाश में ही देखने का प्रयास किया, फिर भी जहां-जहां वह हृदयंगम नहीं हो पाया, वहां-वहां उन्होंने अपनी-अपनी युक्तियों को काम में लिया। फलस्वरूप अनेक मतभेद हुए और वे समय-परिपाक से विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में फलित हुए।

श्वेताम्बर और दिगम्बर

वीर-निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदाय की स्थापना हुई, ऐसी श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है।[1] दिगम्बरों का कथन है कि विक्रम नृप की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् अर्थात् वीर-निर्वाण के ६०६ वर्ष पश्चात् श्वेताम्बर सम्प्रदाय का जन्म हुआ।[2] दोनों सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा मानकर चलते हैं। कौन मूल है तथा कौन शाखा है, यह अनुसन्धान का विषय है। शब्दों की दृष्टि से श्वेताम्बर और दिगम्बर, ये दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। इनमें किसी एक का नामकरण होने के पश्चात् ही दूसरे के नामकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। दोनों ही नामों में वस्त्र को प्रधानता दी गई है, अतः सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि परस्पर अन्य कितने ही मतभेद क्यों न रहे हों, परन्तु सम्प्रदाय-भेद का मुख्य कारण सचेलत्व-अचेलत्व का प्रश्न ही रहा था।

भगवान् महावीर ने अपने संघ में सचेल और अचेल; दोनों ही प्रकार के श्रमणों को समान रूप से स्थान दिया था। अचेल मुनि जिनकल्पिक और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक कहलाते थे। उनके प्रभावक व्यक्तित्व का पोष पाकर संयम की भूमिका पर उगा हुआ श्रमण- संघ का वह वृक्ष समन्वय के अपने प्रकाण्ड पर चिरकाल तक दोनों ही शाखाओं को समानरूप से धारण करता रहा।

महावीर-निर्वाण के पश्चात् उक्त अभेद बहुत लम्बा नहीं चल सका। जम्बू स्वामी के निर्वाण प्राप्त होने के साथ ही भेद-वृत्ति पनपने के संकेत मिलते हैं। उनके

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, ३०,३२ :
'छव्वास-सयाइं नवुत्तराइं, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
तो बोडियाण दिट्ठी, रथवीरपुरे समुप्पन्ना।।'

२. दर्शनसार :
'छत्तीसे वास सये, विक्कम निवस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वल्लहीए सेवड संघो समुप्पन्नो।।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

निर्वाणकाल से ही साधना की जिन दश विशेष अवस्थाओं का लोप माना गया है, उनमें एक जिनकल्पिक अवस्था भी है।[1] सम्भव है, अन्तरंग में पनप रहे द्वैध की वह प्रथम घोषणा रही हो। उसके कुछ वर्ष पश्चात् दशवैकालिक में आचार्य शय्यम्भव का यह स्पष्टीकरण भी कि ज्ञातपुत्र महावीर ने संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र धारण को परिग्रह नहीं कहा है, उन्होंने तो मूर्च्छा को परिग्रह कहा है;[2] उसी भेद-रेखा को और अधिक स्पष्टता के साथ संकेत करता है। इतना होते हुए भी उस समय वह मतभेद अन्दर-ही-अन्दर चलता रहा प्रतीत होता है।

बाहर उस मतभेद की स्पष्ट अभिव्यक्ति तब हुई जबकि आचार्य भद्रबाहु की अनुपस्थिति में वीर नि. १६० के लगभग पाटलीपुत्र में महासम्मेलन बुलाया गया और उसमें ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। वह वाचना सबको पूर्ण मान्य नहीं हो सकी। उससे पूर्व परस्पर में केवल आचार-सम्बन्धी मतभेद ही चलता था, परन्तु उसके पश्चात् श्रुत सम्बन्धी मतभेद भी चालू हो गया। इतना होने पर भी दोनों परम्पराएं ज्यों-त्यों साथ-साथ चलती रहीं। कालान्तर में जब मतभेदों का दबाव इतना अधिक हो गया कि साथ-साथ चल पाना असम्भव हो गया, तब वी. नि. ६०६ (ईस्वी सन् ७९) में जैन श्रमण संघ का एकत्व श्वेताम्बर और दिगम्बर के द्वित्व में परिणत हो गया।

चैत्यवासी और संविग्न

जैन धर्म में सुव्यवस्था के लिए प्रारम्भ में अनेक गणों की व्यवस्था थी। भगवान् के समय में नौ गण थे। उनके पश्चात् भी पृथक्-पृथक् आचार्यों के नाम से पृथक्-पृथक् गण या गच्छ चलते रहे थे, परन्तु वे सब परस्पर अविरोधी थे, उनमें कोई मतभेद अथवा विग्रह नहीं था। वी. नि. ८८२ में चैत्यवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई। उसके साथ ही दूसरा पक्ष संविग्न, सुविहितमार्गी या विधिमार्गी कहलाया। फलस्वरूप श्वेताम्बर मुनि-गण दो विभागों में विभक्त हो गया।

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, २५९३ :
'मण परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजम-तिय केवलि-सिज्झणा य जंबुम्मि वुच्छिन्ना।।'

२. दशवैकालिक, ६।१९, २० :
'जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य।।
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा।।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

चारित्रिक शिथिलता का प्रारम्भ तो आर्य सुहस्ती से ही हो गया था, परन्तु सम्प्रदाय रूप में उसकी व्यवस्थित स्थापना उक्त प्रकार से वी. नि. की नौवीं शताब्दी में हुई। उस समय शिथिलाचार के कारण कुछ मुनि उग्र विहार छोड़कर मन्दिरों के परिपार्श्व में रहने लगे। धीरे-धीरे उन्होंने अपना बल बढ़ाया। वी. नि. की दसवीं शताब्दी तक उनके सम्प्रदाय का कोई प्राबल्य नहीं था। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के दिवंगत होते ही उनका बल बढ़ गया। उन्होंने विद्या-बल और राज्य-बल—दोनों के द्वारा उग्र विहारी श्रमणों पर पर्याप्त प्रहार किया। वे लोग मठाधीश बनकर तो रहने ही लगे, साथ ही वैद्यक, निमित्त-कथन तथा मंत्र, डोरा, ताबीज आदि भी करने लगे। सुविहितमार्गी मुनियों ने उनके शिथिलाचार के विरुद्ध लम्बे समय तक अपना अभियान चालू रखा। आचार्य हरिभद्र ने **'सम्बोधप्रकरण'** में, आचार्य जिनवल्लभ ने **संघ-पट्टक** में और आचार्य जिनपति ने उसकी टीका में चैत्यवासियों के शिथिलाचार पर प्रबल प्रहार किये हैं।

लोंकामत

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने आचार की कठोरता के पक्ष को प्रबल किया। उन्होंने व्यर्थ के क्रियानुष्ठानों, कुसंस्कारों आदि को मिटाने का प्रयास किया। मूर्ति-पूजा के वे प्रबल विरोधी थे। कबीर आदि ने मूर्ति-पूजा का विरोध प्राचीन शास्त्रों को छोड़कर केवल आत्मानुभव के आधार पर किया था, परन्तु लोंकाशाह ने इस कार्य में प्रधानतः प्राचीन शास्त्रों का ही आश्रय लिया। ऐसा अभिमत है कि वे कुछ समय तक कबीर के समकालीन थे।

कुछ लोगों की मान्यता है कि लोंकाशाह ने स्वयं दीक्षित होकर धर्म-प्रचार किया था, तो कुछ उसके विपरीत यह मानते हैं कि वे अन्त तक गृहस्थ ही रहे थे। दोनों ही धारणा वाले व्यक्ति इस बात पर एकमत हैं कि उन दिनों उनके मन्तव्यों का प्रचार बड़े जोरों से हुआ था। कहा जाता है कि उन्हीं दिनों तीर्थ-यात्रा के लिए जाता हुआ कोई संघ अहमदाबाद में ठहरा। उसके अनेक व्यक्ति लोंकाशाह के सम्पर्क में आए। उन्हीं में से पैंतालीस व्यक्ति प्रतिबुद्ध हुए और उन सबने वि. सं. १५३१ में (कुछ के मतानुसार १५३३ में) एक साथ दीक्षा ग्रहण की। तभी से उनके गच्छ का नाम 'लोंकागच्छ' हुआ। कुछ लोग उनके धर्म को 'दया-धर्म' भी कहते हैं। जितने वेग से लोंकामत का प्रसार हुआ, उतने ही वेग से छिन्न-भिन्न भी हो गया। केवल तीस वर्ष की अवधि में ही उसमें अनेक शाखाएं हो गईं। मूलतः लोंकामत का संघीय पक्ष प्रारम्भ से ही निर्बल रहा। उसकी सम्यक् व्यवस्था कभी हो ही नहीं पाई।

स्थानकवासी

लोंकाशाह के अनुयायियों में आगे चलकर लवजी मुनि हुए। उन्होंने वि. सं.

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

१७०६ में 'ढूंढिया' सम्प्रदाय का उद्भव किया।[1] कालान्तर में इस सम्प्रदाय की एक शाखा के आचार्य धर्मदासजी (वि. सं. १७१६) में दीक्षित हुए। उनके निन्यानवे शिष्य हुए। आचार्य धर्मदासजी के दिवंगत होने पर वे सब बाईस शाखाओं में विभक्त हो गये। फलस्वरूप उनकी शिष्य-परम्परा 'बाईसटोला' नाम से प्रसिद्ध हुई। अब तक उक्त परम्परा की सत्रह शाखाओं का पूर्णतः लोप हो चुका है।[2] शेष पांच शाखाओं में भी साधुओं की संख्या नगण्य रह गई है, फिर भी यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि ढूंढिया सम्प्रदाय की समग्र शाखाओं को लोग इसी नाम से पहचानने लगे।

'स्थानकवासी' नाम अपेक्षाकृत अर्वाचीन है, परन्तु वर्तमान में यही अधिक प्रचलित है। यह नाम सम्भवतः तब प्रचलित हुआ, जब इस सम्प्रदाय के मुनि स्थानकों में रहने लगे। सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य क्षितिमोहनसेन का इस विषय में यह अभिमत है—'बाद में जब लोगों में ठीक रूप से उनकी प्रतिष्ठा हो गई, तब इस सम्प्रदाय के लोग भिन्न-भिन्न जगहों में अड्डे जमाने लगे और साम्प्रदायिक वैभव खड़ा होने लगा। क्रमशः उनको 'स्थानक-दोष' स्पर्श करने लगा। इसलिए उन्हें 'स्थानकवासी' कहने लगे।'[3]

तेरापंथ

स्थानकवासी सम्प्रदाय में से तेरापंथ का उद्भव हुआ। आचार्य धर्मदासजी के बाईस शिष्यों में से एक धन्नोजी थे। उनके तृतीय पट्ट पर आचार्य रुघनाथजी हुए। तेरापंथ के प्रवर्त्तक आचार्य भीखणजी ने उन्हीं के पास दीक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने संघ के आचार-विचार को आगमों के कषोपल पर कस कर देखा, तो अनेक अपूर्णताएं मिलीं। संगठन के अभाव ने भी उनके मन को झकझोरा। फलस्वरूप वि. सं. १८१७ आषाढ़ पूर्णिमा के दिन तेरापंथ की स्थापना हुई। आदि में तेरह साधु तथा तेरह ही श्रावक थे, अतः इसका नाम 'तेरापंथ' पड़ गया। स्वामीजी ने उस नाम को स्वीकार करते हुए उसका अर्थ किया—'हे प्रभो! यह तेरा पंथ है।'

स्वामी भीखणजी ने श्रमण-संघ के जिस सुदृढ़ स्वरूप का स्वप्न देखा था, उसे उन्होंने तेरापंथ में मूर्त रूप दिया। आचार-शुद्धि बनाये रखने के लिए उन्होंने अनेक मर्यादाएं कीं। आगमानुमोदित विचारों की स्थापना के लिए उन्होंने आगम-

---

१. ल. भि. ज. र., १।२२।

२. 'श्री जैनधर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभुवीर पट्टावली', पृ. २२०, प्रकाशन वि. सं. १९९१।

३. 'जैनधर्म की प्राणशक्ति' लेख--जैन भारती, १९४९, १०।३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

मंथन किया और अनेक नये तथ्यों का उद्घाटन किया। संगठन की दृढ़ता के लिए उन्होंने व्यक्तिगत शिष्य-प्रथा को समाप्त किया और समूचे संघ के लिए एक ही आचार्य का होना मान्य रखा। थोड़े ही दिनों में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापंथ अन्य श्रमण-संघों के लिए अनुकरणीय बन गया।

दिगम्बर तेरापंथ

श्वेताम्बरों के समान दिगम्बरों में भी अनेक शाखाएं हुईं। उनमें एक शाखा का नाम 'तेरापंथ' है। वह भी शिथिलाचार के विरुद्ध एक क्रान्ति का ही परिणाम है। दिगम्बर परम्परा में भी जब शिथिलाचार व्याप्त होने लगा, तब मुनिजन उग्र विहार छोड़कर मठवासी बनने लगे। जो 'भट्टारक' शब्द पूज्य तथा आदरणीय अर्थ में दिगम्बराचार्यों के नाम के साथ उपाधि रूप में जोड़ा जाता था, कालान्तर में वह किसी मठ या मन्दिर से सम्बद्ध मुनि के लिए रूढ़ हो गया। मठवास की यह प्रवृत्ति चौथी-पांचवीं शती से बढ़ने लगी थी। परम्परानिष्ठ साधु उनके शैथिल्य से बड़े असन्तुष्ट थे। उन्होंने यथासमय तीव्रता से उनका विरोध किया। फलस्वरूप उनमें दो संघ हो गये—वनवासी और चैत्यवासी। वे दोनों क्रमशः मूल-संघ और द्राविड़-संघ के नाम से प्रसिद्ध हुए।

देवसेन कृत **'दर्शनसार'** के मतानुसार पूज्यपाद देवनंदी के शिष्य वज्रनन्दी ने द्राविड़-संघ की स्थापना वि. सं. ५२६ में की। उसके पश्चात् उसका बल बढ़ता गया और ग्यारहवीं शती तक पहुंचते-पहुंचते प्रायः सभी प्रमुख आचार्य मठाधीश हो गए। भट्टारक सम्प्रदाय के वे आचार्य न केवल मठादि की व्यवस्था ही करते, अपितु उनकी सम्पत्ति का भी उपभोग करने लगे। राजगुरु होकर वे छत्र, पालकी, सुखासन आदि द्वारा एक प्रकार से राज-वैभव-सम्पन्न हो गये। उनकी प्रवृत्तियां प्रायः श्वेताम्बर चैत्यवासियों के समान ही कही जा सकती हैं। तेरहवीं शताब्दी में भट्टारक वसन्तकीर्ति ने अपवादवेष के रूप में कभी-कभी वस्त्र-धारण करने की परम्परा भी प्रचलित की थी।

श्वेताम्बरों में जिस प्रकार लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा को अमान्य किया, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में तारणस्वामी (वि. १५०५ से १५७२) ने भी मूर्ति को अमान्य घोषित किया। उन्होंने 'तारण-तरण समाज' की स्थापना की। वह समाज चैत्यालय के स्थान पर 'सरस्वती-भवन' बनाता और मूर्ति के स्थान पर शास्त्रों को विराजित करता, परन्तु उसका बल अधिक नहीं बढ़ सका। भट्टारकों की सत्ता पर उसका कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। वे परिग्रह से अधिकाधिक सम्बद्ध होते गये। कुछ तो मंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि में ही अपना बहुत-सा समय लगाने लगे।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

भट्टारकों के शैथिल्य की प्रतिक्रिया हुई। धर्म-ग्रन्थों के अभ्यासी विद्वान् व्यक्ति उन लोगों को अनादर की दृष्टि से देखने लगे। उनकी ओर से उदासीन होकर वे कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, सोमप्रभ आदि के अध्यात्म-ग्रंथों का अभ्यास करने लगे, अतः 'अध्यात्मी' कहलाने लगे। सत्रहवीं शताब्दी में पंडित बनारसीदासजी द्वारा उस परम्परा को विशेष बल मिला। तब से अध्यात्म-विद्वानों की वह परम्परा 'वाराणसीय' या 'बनारसीमत' के नाम से प्रसिद्ध हुई।[१] किन्तु, आगे चलकर उसका नाम 'तेरापंथ' हो गया। उसके साथ ही भट्टारकों का प्राचीन मार्ग 'बीसपन्थ' कहलाने लगा।

श्वेताम्बर और दिगम्बर, इन दोनों ही परम्पराओं में 'तेरापंथ' का यह नामसाम्य एक विचित्र संयोग की ही बात कही जा सकती है। श्वेताम्बर तेरापंथ के नामकरण का तो एक सुनिश्चित इतिहास है,[२] किन्तु दिगम्बर तेरापंथ का नाम कब हुआ और क्यों हुआ, यह अभी तक अज्ञात ही है। दिगम्बर आम्नाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित नाथूराम 'प्रेमी' का अनुमान है कि श्वेताम्बर तेरापंथ के उदय के पश्चात् ही दिगम्बर परम्परा में यह नाम प्रयुक्त होने लगा है। वे लिखते हैं—'बहुत सम्भव है कि ढूंढ़कों (स्थानकवासियों) में से निकले हुए तेरापंथियों के जैसा निंदित बतलाने के लिए वे लोग, जो भट्टारकों को अपना गुरु मानते थे तथा इनसे द्वेष रखते थे, इसके अनुगामियों को तेरापंथी कहने लगे हों और धीरे-धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा 'टाइटिल' पक्का हो गया हो, साथ ही वे स्वयं इनसे बड़े बीसपंथी कहलाने लगे हों। यह अनुमान इसलिए भी ठीक जान पड़ता है कि इधर के लगभग डेढ़ सौ वर्ष के ही साहित्य में तेरहपंथ के उल्लेख मिलते हैं, पहले के नहीं।'[३]

अन्तिम सम्प्रदाय

जैन धर्म में तेरापंथ को अन्तिम सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इसके प्रवर्त्तक स्वामी भीखणजी ने इसकी संगठना में अत्यन्त दूरदर्शिता से काम लिया। आचार-विशुद्धि के साथ-साथ उन्होंने संघ की एकता पर विशेष रूप से बल दिया। उन्होंने संघ की नियमावली में इस प्रकार की सुव्यवस्था की कि संघ का हर सदस्य परस्पर समानता का अनुभव कर सके, पक्षपात-रहित न्याय प्राप्त कर सके, आवश्यकता पर पूर्णरूपेण सेवा प्राप्त कर सके और सबसे प्रमुख बात यह है कि संयम के अनुकूल वातावरण प्राप्त कर सके।

---

१. युक्ति-प्रबोध, १८।

२. देखें—प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे परिच्छेद में 'नव जीवन की ओर' नामक अध्याय।

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ३६७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

तेरापंथ का आज तक का इतिहास इसका साक्षी है कि उसके सदस्यों की एकता किन्हीं सामयिक स्वार्थों के खंडों को जोड़कर नहीं बनायी गयी है, अपितु आत्मार्थिता की भावना के शैल-शिखर से अखण्ड रूप में तराशी गयी है। यह इसी प्रकार से अखण्ड रह सके, इसके लिए सावधानी बरतने में संघ के प्रत्येक सदस्य का समान उत्तरदायित्व है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उद्भवकालीन स्थितियां

राजनीतिक स्थिति

तेरापंथ का उद्भव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। वह तो उस युग की परिस्थितियों की एक अनिवार्य मांग थी। एक अवधि से युग के गर्भ में धार्मिक क्रांति का जो बीज परिपाक पा रहा था, उसी का स्फोट वि.सं. १८१७ आषाढ़ पूर्णिमा (ईस्वी सन् १७६०) को तेरापंथ के रूप में जनता के सामने आया।

सारा भारतवर्ष उस युग में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की विकट उलझनों में से गुजर रहा था। वह समय मुगल साम्राज्य के पतन और अंग्रेजों के शासन के प्रारम्भ का था। औरंगजेब की मृत्यु (सन् १७०७) के बीस-बाईस वर्ष पश्चात् ही मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। अराजकता के उस अवसर पर अंग्रेजों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। वे यहां की राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे। उत्तर तथा दक्षिण में अनेक राजाओं तथा नवाबों के पारस्परिक संघर्षों में वे किसी एक पक्ष को सहयोग देकर अपना प्रभाव तथा व्यापार बढ़ाते रहे। कालान्तर में वे यहां राज्य भी स्थापित करने लगे। अपने षड्यन्त्रों के द्वारा राजाओं तथा नवाबों को गद्दी से उतारना तथा बिठाना तो उनके लिए खेल मात्र हो गया। भारत में उनके राज्य की नींव पहले-पहल तब जमी, जब उन्होंने बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के मंत्री को रिश्वत देकर फोड़ लिया और उसी के आधार पर सन् १७५७ में पलासी का युद्ध जीता। उस युद्ध से बंगाल का शासन तो बदला ही, परन्तु उसका दूरगामी प्रभाव सारे भारत पर भी हुआ। इस विजय के पश्चात् अंग्रेजों ने बहुत शीघ्र ही अपने व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वी डचों को सन् १७५९ में और फ्रांसीसियों को सन् १७६० में इतनी करारी हार दी कि फिर उन लोगों का व्यापार भारत में जम ही नहीं पाया।

सन् १७६१ में एक ओर अफगानों के साथ पानीपत की लड़ाई में मराठे हार गये और उनका शौर्य राहु-ग्रस्त हो गया, दूसरी ओर सन् १७६४ में बक्सर की लड़ाई में सम्राट् शाहआलम अंग्रेजों के बन्दी हो गए और फिर उनके संरक्षण में रहने लगे। इस प्रकार उस समय भारत के राजनीतिक वातावरण में अंग्रेजों के उदय और

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

भारतीय राजाओं तथा नवाबों की प्रतिभा व शक्ति के ह्रास से बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी।

राजस्थान की दशा तो उस समय और भी अधिक चिन्तनीय हो रही थी। वह अनेक राजनीतिक इकाइयों में विभक्त तो था ही, परन्तु उनमें भी कोई प्रभावशाली राजा नहीं रह गया था। रण-बांकुरे राजपूत वीरों की तलवारों का पानी उतर चुका था। शत्रु-दमन के समय काम आने वाला शौर्य पारस्परिक वैमनस्य की अग्नि में भस्म हुआ जा रहा था। एक-दूसरे को गिराने की भावना से उत्पन्न परिस्थिति ने सारे राजस्थान को निष्प्रभ बना डाला था। ऐसे अवसरों से लाभ उठाने में निष्णात अंग्रेजों ने राजस्थान पर भी अपने दांत लगा रखे थे।

तेरापंथ की जन्मस्थली मेवाड़ है। वहां की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति तो राजस्थान के अन्य राज्यों से भी गई-बीती थी। वहां के महाराणाओं की तेजस्विता का सूर्य अस्ताचलगामी हो चुका था। सांगा और प्रताप के वंशज बीते युग की मधुर घटनावलियों की स्मृति-मात्र करने योग्य शेष रह गये थे, न उनका कोई प्रभाव था और न व्यक्तित्व। सामन्तों का आतंक जनता पर तो छाया हुआ था ही, पर राणा-परिवार भी उससे बच नहीं पाया था। सोलह तथा बत्तीस की श्रेणी में गिने जाने वाले सरदारों के जिन पूर्वजों ने राणा-परिवार की रक्षा की थी और मेवाड़ का मुख उज्ज्वल किया था, उन्हीं के वंशजों में परस्पर प्रबल वैमनस्य चल रहा था। महाराणाओं को कभी शक्तावतों की ओर झुकना पड़ता था, तो कभी चूंडावतों की ओर। शक्ति-संतुलन के लिए सरदारों द्वारा किए जाने वाले षड्यन्त्रों में आये दिन महाराणाओं की हत्याएं होती रहती थीं।

अराजकता की-सी उस स्थिति से पड़ोसी राज्यों को लाभ उठाने का खूब अवसर मिल गया। कभी मराठा, कभी सिंधिया तथा कभी होल्कर की सेनाएं राज्य में घुस आतीं और वहां की अस्तव्यस्तता को और अधिक बढ़ा देतीं। उनको प्रसन्न रखने तथा उनकी मांगें पूरी करने में राज्य का खजाना खाली हो चुका था। आक्रांता सैनिकों के हाथों मेवाड़ी प्रजा आये दिन लुटती रहती थी। कोई संरक्षण देने वाला नहीं था। महाराणा अपने सरदारों को भी वश में नहीं कर पा रहे थे, अतः बाहरी आक्रमणों को दबा देना उनके वश की बात हो ही कैसे सकती थी? जनता अपने भाग्य के भरोसे ही जी रही थी।

तेरापंथ की स्थापना के समय मेवाड़ में महाराणा राजसिंह (द्वितीय) राज्य कर रहे थे। वातावरण बड़ा विक्षुब्ध था। कुछ समय पूर्व ही मराठों ने आक्रमण किया था और वे बहुत-सा धन ले गए थे। उनके कुछ समय पश्चात् मल्हार राव होल्कर का आक्रमण हुआ। महापुरुषों (दादूपंथी नागाओं) की सेना का उपद्रव भी

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उग्ररूप में चालू था।[1] इस प्रकार वहां की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त अस्थिर और भयावह थी।

सामाजिक स्थिति

विक्रम की उन्नीसवीं शती के प्रारम्भकाल का समाज प्रायः अज्ञान और रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। परम्पराओं के प्रकाश में जहां अपने गन्तव्य-मार्ग पर आगे बढ़ा जा सकता है, वहां उन्हीं परम्पराओं को लोगों ने अपने पैरों की बेड़ियां बना लिया था। नवीनता के जीवित बालक से भी कहीं अधिक प्रिय और आकर्षक उन्हें पुरातनता का शव लगा करता था। पुरातनता की तरह नवीनता में भी कुछ आदेय तथा नवीनता की तरह पुरातनता में भी कुछ हेय हो सकता है, यह तथ्य बहुत कठिनता से ही स्वीकार्य हो पाता था।

उस युग में समाज का नियन्त्रण राज्य से कहीं अधिक पंचों के हाथ में था। उनका दबदबा प्रायः सभी व्यक्तियों पर आतंक की तरह छाया रहता था। वे लोग छोटी-छोटी बातों पर अनेक परिवारों को समाज से बहिष्कृत कर दिया करते थे। उनका कार्य मानो इतने में ही सीमित रह गया था कि वे अपने ही समाज के कुछ व्यक्तियों को अपमानित, पीड़ित व बहिष्कृत करते रहें, ताकि अवशिष्ट व्यक्ति उनकी इच्छा के विपरीत चलने का साहस न कर पायें। जाति-बहिष्कृत व्यक्ति या तो अत्यन्त दयनीय जीवन जीने को बाध्य हो जाते थे या फिर अपने गुट को प्रबल बनाकर अपनी एक अलग इकाई बना लिया करते थे। इस क्रम से जातियों और उपजातियों की उत्पत्ति को तो प्रश्रय मिलता ही था, साथ ही पारस्परिक घृणा तथा सामाजिक भेदभाव की घातक वृत्ति भी प्रबलता पाती रहती थी।

संचार-साधनों की प्रायः सर्वत्र ही कमी थी। पहाड़ी भूमि होने के कारण मेवाड़ में वह और भी अधिक मात्रा में थी। अपने राज्य की सीमाओं को लांघकर बाहर जाने वाले व्यक्तियों की संख्या में अधिकांश भाग सीमान्त-निवासियों का ही हुआ करता था। वाणिज्य की स्थिति उन्नत नहीं थी। अधिकांश वणिग्-जनं आस-पास के गांवों में फेरी देकर या कहीं छोटी-मोटी दुकान चलाकर ही अपने परिवार का भरण-पोषण करने को बाध्य थे। पर्वतों के कारण कृषि-योग्य भूमि की बहुलता नहीं थी। यत्र-तत्र बिखरे हुए छोटे-छोटे खेतों की भूमि ही धान्य-उत्पत्ति की साधन थी।

विद्यार्जन की प्रवृत्ति प्रायः नहीं के समान ही थी। समाज का एक अंग नारी-समाज तो अज्ञान के अन्धकार में आकण्ठ ही डूबा हुआ था। उसके लिए विद्यार्जन

---

१. महापुरुष (नागा) दादूपंथी साधु होते थे, जो जयपुर की सेना में बड़ी संख्या में रहते थे। वे लोग अविवाहित ही रहते थे। मेवाड़ के विद्रोही सामन्त रत्नसिंह ने सहायतार्थ उन्हें मेवाड़ में बुलाया था।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। 'एक घर में दो कलमें नहीं चल सकतीं'—ऐसी कहावतें स्त्री-शिक्षा-विषयक तत्कालीन जन-मानस की भावना को स्पष्ट कर देती हैं। पुरुष-समाज में भी अध्ययन की अधिक अच्छी स्थिति नहीं थी। वणिग्-जनों के अतिरिक्त अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति कम ही हुआ करते थे। वणिग्-जाति का सम्बन्ध व्यापार से प्रायः कम या अधिक रहा ही है, अतः उसमें अक्षर-ज्ञान कर लेने तथा कुछ पहाड़े आदि याद कर लेने की प्रवृत्ति थी। साधारण व्यापार चला लेने तथा बही-खाता लिख लेने से अधिक ज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति तो कोई अपवादस्वरूप ही मिलता था। ब्राह्मण आदि जिन जातियों में विद्याध्ययन की परम्परा रही थी, उनमें भी विद्याध्ययन से कहीं अधिक विद्याभिमान व्याप्त हो गया था। राज्य अथवा समाज की ओर से ज्ञान-वृत्ति की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी।

सन्त-समागम की प्रवृत्ति उस समय प्रायः सभी व्यक्तियों में थी। सन्तवाणी को कण्ठस्थ कर उससे तत्त्वज्ञान की पिपासा शान्त करने की पद्धति भी चालू थी। एक के पास से दूसरा व्यक्ति तत्त्वज्ञान कण्ठस्थ करता और वह क्रम आगे-से-आगे चलता रहता था। कुछ व्यक्ति उस ज्ञान को लिख भी लेते थे। उससे दूसरे व्यक्तियों को कण्ठस्थ करने में सुविधा हो जाती थी। तत्त्वज्ञान को कण्ठस्थ करने की यह पद्धति स्त्री-समाज में भी थी। अक्षर-ज्ञान न होने पर भी वे सन्त-वाणी के सैकड़ों पद्य कण्ठस्थ कर लिया करती थीं। इस प्रकार से ज्ञानार्जन करने वाले पुरुषों या स्त्रियों की संख्या स्वल्प ही हुआ करती थी। जनता का अधिक भाग तो अज्ञान में रहने को ही बाध्य था।

धार्मिक स्थिति

उस समय के व्यक्ति प्रायः धर्मानुरागी थे। धर्म के प्रति उनकी अभिरुचि रहा करती थी, किन्तु धार्मिक नेताओं ने धर्म के शुद्ध स्वरूप को इस प्रकार आच्छादित कर दिया था कि परख पाना असम्भव हो गया था। साथ ही तत्कालीन साधु-वर्ग के शिथिलाचार ने भी धर्मानुरागी व्यक्तियों के हृदयों को आलोड़ित कर रखा था। उनकी चर्या साधना-पथ से विमुख दिशा में चलने लगी थी। आचारहीन साधुओं ने समाज में ऐसी धांधली मचा रखी थी कि उससे सारे समाज में एक प्रकार की मूक उथल-पुथल उभर कर मुखर होने को तड़प उठी थी।

स्वामी भीखणजी ने उस समय के साधुओं के शिथिलाचार का जो चित्रण किया है, यदि उसका सारांश अति संक्षेप में कहा जाये तो उसके लिए उनका यह एक पद्य ही पर्याप्त होगा :

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वैराग घट्यो ने भेष वधियो, हाथ्यां रो भार गधां लदियो।
थक गया बोझ दियो रालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो।[1]

वे कहते हैं—विराग घट गया है और वेष बढ़ गया है। संयम की साधना के लिए योग्य व्यक्तियों के स्थान पर अयोग्य व्यक्तियों को दीक्षित किया जा रहा है। लगता है, हाथियों का भार गधों पर लादा जा रहा है। गधे उस भार को वहन नहीं कर सकते। वे उसे इधर-उधर बिखेर कर खराब कर देते हैं। इसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति भी संयम की साधना नहीं कर सकते। वे उसे खण्डित करते हैं और धर्म की अवज्ञा करवाते हैं। इस पंचमकाल में ऐसे वेषधारी साधु ही रह गये हैं।

साधु समाज की वह विपन्नावस्था इतनी व्यापक थी कि उसमें कहीं सुधार का भी अवकाश नहीं रह गया। गुरु से लेकर शिष्य तक सभी शिथिलाचारी हो गये थे। कौन किसे कहे और कौन किसकी सुने? स्वामीजी ने प्रारम्भ में सुधार करने का प्रयास किया, परन्तु उसमें उन्हें अनेक कटु अनुभव हुए। उन्हें लगा कि आपाद-मस्तक व्याप्त यह रोग अब साधारण उपचारों से मिटने वाला नहीं है। फटे वस्त्र को 'थेगड़ी' लगाकर ठीक किया जा सकता है, परन्तु जब आकाश ही फट जाये, तब उसमें कौन-सी 'थेगड़ी' लगाई जाये?[2] वस्तुतः उस समय के साधु-वर्ग में आचार-शैथिल्य की जो दरारें पड़ चुकी थीं, वे बहुत गहरी और दुष्पूर थीं।

स्वामीजी ने उस समय उन लोगों में जो खामियां देखीं, उनका उन्होंने बाद में अपने ग्रंथों में विशद विवेचन किया। **आचार की चौपई**[3] में उन दोषों के विषय में आगमिक आधार पर उन्होंने बहुत प्रभावक ढंग से प्रकाश डाला है। उनकी समीक्षाओं के अनुसार उस समय के साधु-समाज में आचार-शैथिल्य की मुख्य रूप से ये बातें थीं :

१. अपने निमित्त बनाये गये मकानों (स्थानकों) में रहते हैं।[4]

---

१. आचार की चौपई, ६।२८

२. वही, ६। दोहा ४––आभे फाटे थीगरी, कुण छै देवणहार।
ज्यूं गुर सहित गण बिगड़ियो, त्यांरै चिहूं दिस परिया बघार।।

३. भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, खंड १, रत्न ३३, पृ. ७८१ से ६०५।

४. आचार की चौपई, २५।१/४।६
साधां रै काजे थानक करावै, छ काय रो कर घमसाण।
तिण थानक मांहें रहिवा लागा, त्यां भांगी छै श्री जिन आण।।
बांध्या थानक पकर्‌या ठिकाणा रे, गृहस्थ सूं मोह बंधाणा।
सुखसीलिया साताकारी रे, डूबा साधु नो भेष धारी।।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

२. पुस्तक, पात्र और उपाश्रय आदि मोल लिवाते हैं।[1]

३. लोलुपतावश सरस आहार की खोज में भटकते रहते हैं।[2]

४. मनोनुकूल पदार्थ देने वाले की प्रशंसा और अन्य की निंदा करते हैं।[3]

५. जीमनवार में गोचरी जाते हैं।[4]

६. गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा दिलाते हैं कि यदि तू दीक्षा ले तो मेरे पास ही लेना, अन्य किसी के पास नहीं।[5]

७. शिष्य-संख्या बढ़ाने को इतने आतुर रहते हैं कि लड़कों को उड़ा लेते हैं और अन्य किसी ग्राम में जाकर उन्हें दीक्षित कर लेते हैं।[6]

८. अच्छे भोजन तथा अच्छे वस्त्रों का लालच दिखलाकर नासमझ व्यक्तियों को दीक्षा के लिए तैयार करते रहते हैं।[7]

---

१. आचार की चौपई, १।७

पुस्तक पातर उपासरादिक, लिवरावै ले ले नाम जी।
आछा-भूंडा कही मोल बतावै, ते करै गृहस्थ नो काम जी।।

२. वही, ४।१

रसगृद्धी ते हिलिया गटकै रे, सरस आहार नै कारण भटकै।
भेष लेई आतम नहीं हटकै रे, त्यारै चिंहुं दिस फांदा लटकै।।

३. वही, ४।६,७

ताक ताक जाये घर ताजै रे, साधु भेष लियो नहीं लाजै।
पर घर जाय पड़गो मांडै रे, नहीं दियां भांडां ज्यूं भांडै।।
दाता रा करै गुणग्रामो रे, पाड़ै नहीं दै तिण री मामो।
करै गृहस्थ आगै बातां रे, नहीं बहिरावै त्यांरी करै तां तां।।

४. वही, १।२०,२१

जीमणवार में बहरण जाए, आ साधां री नहीं रीत जी।
बरज्यो आचारांग वृहत्कल्प में, उत्तराधेन नसीत जी।।
आलस नहीं आरां में जातां, बले बैठी पांत वसेष जी।
सरस आहार ल्यावै भर पातर, त्यां लज्जा छोड़ी ले भेष जी।।

५. वही, १।१८

दिख्या ले तो मो आगै लीजे, और कनै दे पाल जी।
कुगुरु एहवो सूंस करावै, ए चोड़ै उंधी चाल जी।।

६. वही, १२।५३

बले चेला करै ते चोर तणी परे, ठग पासीगर ज्यूं ताम जी।
बले उजबक ज्यूं तिणने उचकाए, ले जाय मूंडै और गाम जी।।

७. वही, १२।५४

आछो आहार दिखाए तिण नै, कपड़ादिक महीं दिखाय जी।
इत्यादिक लालच लोभ बताए, भोलां ने मूंडै भरमाय जी।।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

९. श्रावकों से रुपया दिलवाकर शिष्य खरीदते हैं।[1]

१०. तत्त्वज्ञान कराये बिना ही अज्ञानी व्यक्तियों को दीक्षित कर लेते हैं।[2]

११. शिष्य-शिष्याओं के लिए परस्पर झगड़ते हैं और एक-दूसरे के शिष्य को फोड़कर अपना बना लेते हैं।[3]

१२. दूसरों की निन्दा करने में रत रहते हैं।[4]

१३. गृहस्थ के साथ समाचार भेजते हैं तथा कागद लिखने की प्रेरणा देते हैं।[5]

१४. मर्यादा से अधिक वस्त्र रखते हैं।[6]

---

१. आचार की चौपई, १।२२/१९।२१
चेला करण री चलगत उंधी, चाला बोहत चलाय जी।
साथै लियां फिरै गृहस्थ नै, बले रोकड़ दाम दराय जी।।
जो चेलो हूंतो जाणै आपरो, तो उणनै रोकड़ दाम दरावै रे।
पांचमो महाव्रत भांगनै, तो ही साध रो बिड़द धरावै रे।।

२. वही, ६।२६/१९।२२
धुर सूं केई नव तत्त्व नहीं भण्या, ते तो सांग पहरी मुनिराज बण्या।
ज्यूं नाहर री खाल पहरी स्यालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो।।
जीवादिक जाणै नहीं तेहनै, पांचों ही महाव्रत उचरावै रे।
साध रो सांग पेहराय नै, भोला लोकां नै पगां लगावै रे।।

३. वही, १९।२४
बले चेलो करवा कारणे, मांहोमां झगड़ो मांडै रे।
फाड़ा तोड़ो करता लाजै नहीं, इण साध रा भेष नै भांडै रे।।

४. वही, १।१७
पर-निंदा में राता-माता, चित्त में नहीं संतोष जी।
वीर कह्यो दशमां अंग में, तिण वचन में तेरै दोष जी।।

५. वही, १।२७,२८
गृहस्थ नै साथै कहै संदेसो, तो भेलो हुओ संभोग जी।
तिण नै साधु किम सरधीजे, लागो जोग नै रोग जी।।
समाचार विवरा सुध कहि कहि, सानी कर गृही बुलाय जी।
कागद लिखावै करै आमना, पर हाथे दिए चलाय जी।।

६. वही, १।४१
कपड़ा में लोपी मरजादा, लांबा पेना लगाय जी।
इधको राखै दोयवड़ ओढ़ै, वले बोलै मूसावाय जी।।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

१५. गृहस्थ के घर उपधि छोड़ जाते हैं। महीनों तक कोई उनका प्रतिलेखन नहीं करता।[1]

१६. अपने पारिवारिक जनों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए धन की व्यवस्था करवाते हैं।[2]

१७. दोषी व्यक्तियों के दोष दबा दिये जाते हैं। उन्हें भय रहता है कि कहीं वह सबकी पोल न खोल दे।[3]

१८. समिति, गुप्ति और महाव्रतों में सावधानी का पूर्णतः अभाव है।[4]

१९. आचारवान् साधुओं के पास जानेवाले व्यक्तियों को नाना दबाव

---

१. आचार की चौपई, १२।२१,२४,२५

वस्तर पातर पोथी पानादिक, जाए गृहस्थ रै घरे मेल जी।
पछे करे विहार दे घणी भलावण, तिण प्रवचन दीधा ठेल जी।।
बले बिण पडिलेह्यां रहै सदा नित, गृहस्थ रा घर मांय जी।
ओ साधपणो रहसी किम त्यांरो, जोवो सूतर रो न्याय जी।।
जो बिण पहिलेह्यां रहै एक दिन, तिण नै, दंड कह्यो मासीक जी।
नसीत रै दूजै उद्देसै, तिहां जोय करो तहतीक जी।।

२. वही, १२।२६,२७,२८

मात पितादिक सगा सनेही, त्यांरा घर में देखै खाल जी।
त्यां नै परिग्रहो साध दरावै, आ चोड़ै कुगुरु री चाल जी।।
सानी कर साध दरावै रुपिया, बरत पांचमों भांग जी।
बले पूछ्यां झूठ कपट सूं बोलै, तिण पेहर बिगाड्यो सांग जी।।
न्यातीला नै दाम दरावै, त्यां रै मोह न मिटियो कोय जी।
बले सार संभार करावै त्यांरी, ते निश्चै साध न होय जी।

३. वही, ५।१८,१९,२०

कुसीलिया भागल भेला रहै, तिणरो न काढै निकाल।
कूड़ कपट करता फिरै, बले साधां सिर दे आल।।
परसंसा करै आप आपणी, दोषण देवै ढांक।
भागल भागल मिल गया, किण री न राखै सांक।
जो एकण नै अलगौ करै, तो करै घणां रो उघाड़।
पलमों दूर कियां डरै, ओ खोटो नाणो असार।।

४. वही, ५।२१

पांच सुमत तीन गुपत में, दीसै छिद्र अनेक।
पांच महाव्रत मांहिलो, आखो न दीसै एक।।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

डालकर रोकते हैं। न मानने पर उनके कुटुम्ब में कलह का बीज बो देते हैं।[1]

२०. आज के साधु बिना अंकुश के हाथी और बिना लगाम के घोड़े की तरह हो रहे हैं।[2]

स्वामीजी ने तत्कालीन साधु-समाज में उपर्युक्त जिन दोषों का उल्लेख किया है, उनमें कुछ ऐसे हैं जो उस समय प्रचुरता से व्याप्त थे तथा कुछ ऐसे हैं जो यत्र-तत्र मिलते थे। विभिन्न व्यक्तियों के आचार-शैथिल्य में अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, परन्तु एक कारण प्रायः सभी के मूल में समान था। वे लोग बहुधा कहा करते थे कि यह दुष्षम काल है, इसमें इतने कठोर नियमों का पालन अशक्य है। इस हीन धारणा ने शिथिलाचार का जो बीज बोया, वही क्रमशः फलित होकर उस समय की धार्मिक स्थिति को प्रभावित करने लगा। राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों से पीड़ित जनमानस ने जब धार्मिकता में भी इतनी गड़बड़ अनुभव की तब स्वभावतः ही पहले वह अश्रद्धा की ओर बढ़ा तथा बाद में धर्म-विरोधी बनने लगा।

तेरापंथ का उद्‌भव उस स्थिति में नितान्त आवश्यक और समयानुरूप था। स्वामीजी ने जनता के श्रद्धा-पक्ष को सबल बनाया, धर्म के शुद्ध स्वरूप पर आच्छन्न आवरणों को दूर किया और पंचम काल के नाम पर शैथिल्य को प्रश्रय देने वाले साधु-वर्ग से कहा कि यदि तुम साधुत्व के कठोर नियम नहीं पाल सकते तो अपनी उस दुर्बलता को पंचम काल के सिर पर मत मढ़ो। साधुता का ढोंग रचने से तो यह कहीं अधिक अच्छा है कि श्रावक-व्रत धारण किये जाएं।[3] स्वामीजी के उस क्रान्तिकारी और सबल आह्वान की फल-परिणति ही तेरापंथ है।

---

१. आचार की चौपई, ५।३२, ३३

सासू बहू मा बेटियां, बले सगा संबंधियां मांहि।
त्यानै राग नै धेष सिखावता, भेद घलावै ताहि।।
केई आवै सुध साधां कनै, तो मतियां नै कहै आम।
थे बरजी राखो घर रा मिनख ने, जावा मत द्यो ताम।।

२. वही, १।३५

बिन अंकुस जिम हाथी चालै, घोड़ो बिगर लगाम जी।
एहवी चाल कुगुरु री जाणो, कहिवां नै, साधु नाम जी।।

३. वही, ६।१६, २०

साधपणों थां सूं सझतो न दीसै, तो श्रावक नाम धरावो।
समय सारू वरत चोखा पालो, दोषण मतीय लगावो रे।।
आचार थांसूं पलतो न दीसै, तो आरा रै माथे मत न्हाखो।
भगवंत रा केड़ायत बाजो, झूठ बोलता क्यूं नहीं सांको रे।।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

ग्रह-स्थिति

तेरापंथ के उद्भव में उस समय की विषम धार्मिक स्थितियां जहां प्रत्यक्ष कारण बनी थीं, वहां आकाशीय स्थितियां भी उसमें अदृश्य रूप में सहयोगिनी थीं। यह कोई मनोजन्य कल्पना नहीं, अपितु जैन ग्रंथों के पुष्ट आधार से प्रमाणित एक तथ्य है। तेरापंथ की उत्पत्ति से शताब्दियों पूर्व निर्मित जैन ग्रंथों में की गई भविष्यवाणियां यहां प्रमाणस्वरूप उद्धृत की जा रही हैं।

कल्पसूत्र में कहा गया है—'जिस रात्रि में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया, उसी रात्रि में क्रूर स्वभाव वाला 'भस्म-राशि' नामक महाग्रह दो सहस्र वर्षों के लिए उनके जन्म-नक्षत्र में संक्रान्त हुआ। उसका फल यह होगा कि दो सहस्र वर्ष पर्यन्त भगवान् महावीर के शासन की उन्नति में बाधाएं उपस्थित होती रहेंगी। जब वह ग्रह भगवान् के जन्म-नक्षत्र से व्युत्क्रान्त हो जाएगा, तब फिर से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का उदय और पूजा-सत्कार होगा।'[1]

वग्गचूलिया में कहा गया है—'भगवान् महावीर के निर्वाण के २९१ वर्ष पश्चात् संप्रति राजा होगा। उसके पश्चात् १६९९ वर्षों तक दुष्ट-जन श्रुत की अवमानना करते रहेंगे। उसके पश्चात् वीर-निर्वाण के १९९० वर्ष व्यतीत हो जाने पर संघ तथा श्रुत की जन्मराशि पर धूमकेतु नामक ग्रह लगेगा। वह उस राशि पर ३३३ वर्ष पर्यन्त रहेगा। उसके उतर जाने पर संघ और श्रुत का उदय होगा।'[2]

---

१. कल्पसूत्र सू. १२८-३० :

'जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं खुद्दाए 'भासरासी' नाम महागहे दोवाससहस्सट्ठिइ समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकण्हे।

जप्पभिइं च णं से खुद्दाए 'भासरासी' महागहे दोवाससहस्सट्ठिइ समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकण्हे, तप्पभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं च नो उदिए उदिए पूआसक्कारे पवत्तइ। जया णं से खुद्दाए जाव जम्मनक्खत्ताओ विइक्कंते भविस्सइ तया णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीणं च उदिए उदिए पूआसक्कारे भविस्सइ।'

२. वग्गचूलिया :

'मोक्खाओ वीर-पहुणो, दुसएहिं य एगनवइ अहिएहिं।
वरिसाइं संपइ निवो, जिण-पडिमा-ठावगो होही।।
ततो सोल-सएहिं, नवनवइ पुणो जुएहिं वरिसेहिं।
ते दुट्ठा वाणियगा, अवमन्नइस्संति सुयमेयं।।
तम्मि गए अग्गिदत्ता संघ-सुय-जम्मरासि नक्खत्ते।
अडतीसइमो दुट्ठो, लगिस्सइ धूमकेउ गहो।।
तस्स ठिइ तिन्नि सया, तेतीसा एग रासि वरिसाणं।
तम्मि य मीण-पइट्ठे, संघस्स सुयस्स उदयोत्थि।।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि वीर-निर्वाण के पश्चात् दो सहस्र वर्ष पर्यन्त 'भस्मराशि' महाग्रह का दुष्प्रभाव धर्म-शासन को प्रभावित करता रहा और जब उसका समय समाप्त होने को आया तब उसके पर्यवसान से दस वर्ष पूर्व ही 'धूमकेतु' नामक ग्रह का दुष्प्रभाव चालू हो गया, जो कि ३३३ वर्षों तक चलता रहा। दोनों ग्रहों की समन्वित काल-गणना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वीर-निर्वाण के पश्चात् २३२३ वर्ष तक उन ग्रहों का दुष्प्रभाव रहा। वीर-निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ, अतः उसके अनुसार यह समय वि. सं. १८५३ का होता है।

'भस्मराशि' महाग्रह जब उतरने को हुआ उस समय लोंकाशाह ने धर्म-क्रान्ति के बीज बोये। उसके उतरते ही वे फलीभूत हुए और वि.सं. १५३१ में लोंकाशाह से प्रतिबोधित पैंतालीस व्यक्तियों ने एक साथ दीक्षा ग्रहण की। उन लोगों ने लोंकाशाह के मन्तव्य को बड़ी तीव्रता के साथ प्रसारित किया। 'लोंकाशाह की हुंडी' में वर्णित श्रद्धा और आचार का मनन करने से प्रतीत होता है कि लोंकाशाह ने शुद्ध परम्परा की स्थापना की थी। यद्यपि उस समय 'धूमकेतु' ग्रह लग चुका था, परन्तु प्रारम्भिक काल होने से उसका बल तीव्र नहीं हो पाया। ज्यों ही उसका बल बढ़ा, त्यों ही उस परम्परा में शिथिलता आ गई और लोंका के अनुयायी अपने क्रान्ति-मार्ग पर पूर्ववत् सुदृढ़ नहीं रह पाये।[1]

इसी प्रकार 'धूमकेतु' उतरने को हुआ, तब वि. सं. १८१७ में तेरापंथ का उद्भव हुआ, परन्तु जब तक वह पूर्णतः उस राशि पर से हट नहीं गया तब तक तेरापंथ किसी प्रकार की प्रगति नहीं कर पाया। क्रांति के प्रारम्भ में स्वामी भीखणजी आदि तेरह साधु थे, परन्तु थोड़े समय पश्चात् ही वे घटकर केवल आठ रह गये। वि. सं. १८५३ से पूर्व एक बार के लिए भी तेरह की वह संख्या फिर से सुस्थिर नहीं हो पाई। धूमकेतु की अवधि वीर-निर्वाण सं. २३२३ अर्थात् वि.सं. १८५३ में समाप्त हुई । उसी वर्ष मुनि हेमराजजी ने स्वामीजी के पास दीक्षा ग्रहण की और वे तेरहवें साधु हुए। उसके पश्चात् उस संख्या में कभी ह्रास नहीं हुआ।[2] तेरापंथ के लिए क्रमशः चतुर्मुखी प्रगति का समय वस्तुतः वहीं से प्रारम्भ हुआ

---

१. ल. भि. ज. र., १।२१

लूंका नां प्रतिबोधिया, सुध ववहार जणाय।
धूमकेतु बल बाधियां, ते पिण ढीला थाय।।

२. ल. भि. ज. र., १।१४

द्वादश मुनि था तेपनै, स्वाम भिक्खू रै जोय।
तब हेम हुआ मुनि तेरमा, पछै न घटियो कोय।।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

समझना चाहिए। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त ग्रहों की स्थिति के साथ श्रमण-संघ के हानि-विकास की जो भविष्यवाणियां प्राचीन ग्रन्थों में की गई थीं, वे यथार्थ प्रमाणित हुईं।

भविष्य के लिए

तेरापंथ के रूप में होने वाली इस धर्मक्रांति के मूल में आचार-शिथिलता से लेकर ग्रह-प्रभाव तक के अनेक दृश्य तथा अदृश्य कारणों का सामवायिक प्रभाव कहा जा सकता है, परन्तु उसकी सफलता तभी संभव हुई, जबकि सत्य-निष्ठ और धर्म-प्राण आचार्य भीखणजी जैसे महत्तम व्यक्ति का उसे नेतृत्व प्राप्त हुआ। क्रांत-द्रष्टा आचार्य भीखणजी विघटन और संघटन की सीमाओं के मर्मज्ञ थे। वे जानते थे कि क्रान्ति की सफलता विघटन में नहीं, किन्तु विघटन के पश्चात् किये जाने वाले संघटन में होती है। विधीयमान संघटन की निर्दोषता ही क्रान्ति की निर्दोषता सिद्ध करती है। श्रमण संघ को अपनी पूर्वकालीन दुर्बलताओं और उनके प्रतिफलों का इतिहास फिर कभी दुहराना न पड़े, इसलिए उन्होंने एक सबल, निर्दोष और क्रियाशील संगठन की नींव रखी। 'तेरापंथ' नाम उन्हीं विशेषताओं की सम्मिलित क्षमता का प्रतीक है।

स्वामीजी की संगठन-क्षमता की सुदृढ़ नींव पर तेरापंथ का भवन निर्मित हुआ। भवन की विशुद्धता के लिए जिस प्रकार बारी-जालियों से लेकर नालियों तक की सुनियोजित व्यवस्था आवश्यक होती है, उसी प्रकार संगठन की विशुद्धि के लिए भी गुण-स्वीकार और दोष-परिहार की संयोजना आवश्यक होती है। स्वामीजी ने उसके लिए मर्यादाओं का निर्माण किया। उन मर्यादाओं द्वारा संगठन के सदस्यों के कर्तव्य-अकर्तव्य की सीमाएं निर्धारित की गईं। हितकर स्थितियों के संरक्षण और विकास तथा अहितकर स्थितियों के परिष्कार और निरसन की व्यवस्था भी की गई। मर्यादाओं का उल्लंघन न होने पाये, इसलिए प्रत्येक सदस्य के मन में मर्यादा के प्रति बहुमान जागरित किया गया। मर्यादाएं रूढ़ि बनकर कालांतर में कहीं वातावरण में घुटन पैदा न कर दें, इसलिए वैधानिक स्तर पर विचार-प्रेरित उत्क्रान्ति का द्वार खुला रखा गया। अनियोजित परिवर्तन जितना हानिकर होता है, सुनियोजित परिवर्तन उतना ही लाभकर होता है। तेरापंथ उसका उदाहरण बनकर क्रमशः उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ।

किसी भी नये संगठन के साफल्य और स्थायित्व के विषय में जन-मानस का संशयालु होना स्वाभाविक ही होता है। तेरापंथ के विषय में भी अनेक संशय उत्पन्न हुए। प्रारम्भ में तो लोगों को यह विश्वास ही नहीं हो पाया कि यह संगठन कभी आगे बढ़ भी पायेगा। उस समय इसके सम्मुख बाधाओं पर बाधाएं और चुनौतियों पर चुनौतियां आती रहती थीं। सब परिस्थितियों का सामना करते हुए

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

यह आगे बढ़ा, फला-फूला और जनमानस में स्थान प्राप्त करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ। इसके संस्थापक स्वामी भीखणजी ने स्वयं अपने जीवन में ही वैसी सफलता प्राप्त की, जिसकी पहले कभी उन्होंने कल्पना तक नहीं की थी।[1] इतना होने पर भी एक सन्देह बराबर लोगों के मन में उभरता रहा कि पहले भी शैथिल्य के विरुद्ध अनेक उत्क्रान्तियां हो चुकी हैं, यदि वे स्थायी नहीं बन सकीं, तो यह फिर स्थायी कैसे बन जाएगी? काल-परिपाक से यह संस्था भी क्या शिथिलता के उसी मार्ग पर अग्रसर नहीं हो जाएगी, जिस पर उसकी पूर्ववर्ती सभी संस्थाएं अग्रसर हो चुकी हैं?

एक व्यक्ति ने एक बार यह प्रश्न कुछ प्रकारांतर से स्वयं स्वामी भीखणजी के सामने ही रख दिया। उसने स्वामीजी से पूछा—'आपको अपना यह उत्क्रान्ति-मार्ग कितने वर्षों तक चलता लगता है?'

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—'इस मार्ग का अनुगमन करने वाले साधु जब तक श्रद्धा और आचार में सुदृढ़ रहेंगे, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेंगे और स्थानक खड़े करने के फेर में नहीं पड़ेंगे; तब तक यह मार्ग अच्छी तरह से चलता रहेगा।'[2]

स्वामी भीखणजी के उपर्युक्त उत्तर को भविष्य के लिए तेरापंथ को दिया गया एक मार्गदर्शन कहा जा सकता है। तेरापंथ जब तक इस मार्ग पर आरूढ़ रहेगा, तब तक उसकी प्रगति में कोई बाधा नहीं आ सकेगी। उत्क्रान्ति करने वाली पूर्ववर्ती संस्थाओं में जो शिथिलताएं आईं, उनका कारण और निवारण स्वामी भीखणजी अच्छी तरह से जानते थे। उन्होंने इस विषय में लिखा है—'अपने निमित्त स्थान बनवाने वाले वस्त्र-पात्र आदि की मर्यादा का भी लोप कर देते हैं। वे फिर उग्र विहार छोड़कर किसी सुविधापूर्ण स्थान में पड़े रहना पसंद करने लगते हैं। इस प्रकार वे शिथिल हो जाते हैं। इसके विपरीत जो साधु मर्यादा को बहुमान देकर चलते हैं, वे शिथिल नहीं होते।'[3] शिथिलता के इन मुख्य कारणों का मूलोच्छेद स्वामीजी ने तेरापंथ की आधारशिला रखने के समय से ही कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने संघ के प्रत्येक सदस्य में मर्यादाओं के प्रति इतना बहुमान जागरित किया कि श्रमण-संघ के किसी भी उत्क्रान्ति-इतिहास में इतने सुदृढ़ संगठन की स्थापना का कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।

---

१. भिक्खू-दृष्टांत, दृ. २७६।

२. वही, दृ. ३०७।

३. वही, दृ. ३०७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वर्तमान में

आद्य आचार्यश्री भीखणजी से लेकर वर्तमान तक तेरापंथ में निम्नोक्त दस आचार्य हुए हैं :

१. आचार्यश्री भीखणजी
२. आचार्यश्री भारमलजी
३. आचार्यश्री रायचन्दजी
४. आचार्यश्री जीतमलजी (जयाचार्य)
५. आचार्यश्री मघराजजी
६. आचार्यश्री माणकलालजी
७. आचार्यश्री डालचन्दजी
८. आचार्यश्री कालूरामजी
९. आचार्यश्री तुलसीजी (स्वयं आचार्यपद से मुक्त होकर दशम आचार्य की नियुक्ति की)
१०. आचार्यश्री महाप्रज्ञजी (वर्तमान आचार्य)

प्रत्येक आचार्य ने अपने शासन-काल में तेरापंथ को क्रमशः विकसित किया है। वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञ भी उसके चहुर्मुखी विकास में लगे हुए हैं। तेरापंथ का इतिहास आद्योपांत प्रगति, संघर्ष-विजय और मर्यादानुवर्तिता का इतिहास रहा है। तेरापंथ को आत्मानुशासन का एक अलभ्य उदाहरण कहा जा सकता है। आचार्य का अनुशासन केवल साक्षीमात्र या मार्गदर्शक मात्र होता है।

प्रारम्भ से आज तेरापंथ द्विशताब्दी (वि. सं. २०१७, आषाढ़ पूर्णिमा) तक इस संघ में दीक्षित होने वाले व्यक्तियों की संख्या १९७३ है; जिसमें ६६७ साधु तथा १३०६ साध्वियां हैं। विद्यमान साधु-साध्वियों की संख्या ६५५ है, जिसमें १६६ साधु और ४८९ साध्वियां हैं।[1] लाखों की संख्या में श्रावक-श्राविकाएं हैं।

एक आचार, एक विचार और एक आचार्य की अभिनव रत्नत्रयी ने तेरापंथ को जो स्थैर्य प्रदान किया है, वह तेरापंथ के लिए ही नहीं, अपितु समग्र जैन समाज के लिए गौरवास्पद है। इसी क्रम के आधार पर तेरापंथ में 'एक के लिए सब और सब के लिए एक' का आदर्श कार्यरूप में परिणत हुआ है। तेरापंथ का भूतकाल गौरवशाली और भविष्यकाल नवोन्मेषों की कल्पना-स्थली रहा है। उसका हर वर्तमान काल अपनी प्रगतिशीलता के आधार पर नवोन्मेष की कल्पनाओं को वास्तविकता का रूप देता हुआ आगे बढ़ता रहा है।

---

१. उपर्युक्त आंकड़े वि. सं. २०१७ आषाढ़-पूर्णिमा तक के हैं। वर्तमान में वि. सं. २०५२ आषाढ़-पूर्णिमा (१२ जुलाई, १९९५) तक परिवर्तित होकर वे अग्रोक्त प्रकार से हो गये हैं :
दीक्षित व्यक्तियों की समग्र संख्या २३७४ है,
जिसमें ७७३ साधु और १६०१ साध्वियां हैं।
विद्यमान साधु-साध्वियों की संमग्र संख्या ६९१ है।
जिसमें १४६ साधु और ५४५ साध्वियां हैं।
समण श्रेणी में ४ समण और ६९ समणियां दीक्षित हैं।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्य भिक्षु

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

:१:

गृही-जीवन

विरल मनुष्यों में से एक

आचार्यश्री भीखणजी तेरापंथ के प्रथम आचार्य थे। वे स्वामीजी, आचार्य भिक्षु तथा भिक्खु नाम से भी प्रसिद्ध थे। भक्तजन आदरवश बहुधा उन्हें केवल 'स्वामीजी' ही कहा करते थे। तेरापंथ-संघ की स्थापना करके उस समय जैन संस्कृति के अनुकूल, शास्त्रानुमोदित शुद्ध आचार और विचार के द्वार खोल देने का श्रेय उनको ही प्राप्त है। वे एक निर्भीक और प्रत्युत्पन्नमति आचार्य थे। उन्होंने अपनी जीवन-तंत्री पर सदा सत्य का आलाप भरा। **सच्चंसि धिर्तिं कुव्वह**[1] अपनी बुद्धि को सत्य में लगाओ—शास्त्र की इस प्रेरक वाणी को उन्होंने पूर्णतः हृदयंगम कर लिया था। सत्य के लिए प्राण भी देने पड़ते, तो वे उन्हें भी देने का निर्णय कर चुके थे। उनके मुख से निकले हुए ये शब्द—**आतमा रा कारज सारसां, मर पूरा देसां**[2]—जितने मार्मिक और दृढ़ता-सूचक हैं, उससे कहीं अधिक सत्य के लिए आत्म-बलिदान की भावना के द्योतक हैं।

सत्य-प्रेमी प्रायः सभी होते हैं, परन्तु सत्य के लिए सुख, प्रतिष्ठा, पद और चिरपालित परम्पराओं को ठोकर मार देने वाले विरल ही होते हैं। स्वामीजी उन विरल मनुष्यों में से ही एक थे। सत्य को स्वीकार करने में उन्होंने कभी ढील नहीं की और असत्य से कभी समझौता नहीं किया। वे सत्य की फुनगियों पर मंडराने वाले भ्रमर नहीं थे, किन्तु उसकी जड़ को अपने में जमा लेने वाले उर्वर भूमितल थे। सत्य के प्रति जितनी निष्ठा उनके हृदय में विद्यमान थी, असत्य के प्रति उतनी ही घृणा। सत्य के वे अद्वितीय नम्र भक्त थे, तो असत्य के उतने ही कठोर आलोचक।

वास्तविकता के समुद्र में गहराई तक पैठ कर मुक्ता प्राप्त करने वाले वे एक सूक्ष्म-चिन्तक व्यक्ति थे। जनापवाद के शैवाल से घबरा कर किनारे पर बैठे

---

१. आयारो, ३/४०।

२. भिक्खु दृष्टांत, दृ. २७६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

रहना और कंकर बीनते रहना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया। साधारण जन जहां बाह्य दृष्टि से देखता है, वहां उन्होंने अन्तर्दृष्टि से देखने पर बल दिया। बाह्य दृष्टि स्थूल होती है, अतः उसकी पहुंच सूक्ष्म तक नहीं हो सकती। सत्य की सूक्ष्मता तक पहुंचने के लिए दृष्टि की सूक्ष्मता नितांत अपेक्षित है। स्थूल दृष्टि सदा ही तत्त्व से दूर रही है। तत्त्व-जिज्ञासु के लिए उनका यह मार्गदर्शन बहुत ही उपयोगी रहा।

जन्मभूमि

स्वामी भीखणजी की जन्मभूमि होने का गौरव राजस्थान के कंटालिया ग्राम को प्राप्त है। वह उस समय जोधपुर राज्य के अन्तर्गत था। जोधपुर राज्य, जिसे अब जोधपुर संभाग कहा जाता है, 'मारवाड़' नाम से अधिक प्रसिद्ध रहा है। उस समय वहां राठौड़ वंशी महाराजा अभयसिंहजी राज्य करते थे। वे वि. सं. १७८१ श्रावण मास में पदासीन हुए थे।[1] मारवाड़ का दक्षिणी सीमांत 'कांठा' कहलाता है। कंटालिया 'कांठा क्षेत्र' का ही एक अंग है। वहां के शासक ठाकुर बखतसिंहजी थे। वे भाटी राजपूत थे और अपने पूर्वज 'लाखाजी' के नाम पर 'लाखावत' कहे जाते थे। कंटालिया उस समय काफी बड़ा ग्राम था। ओसवालों के वहां बहुत घर थे।

वंशावली

आचार्य भिक्षु 'बड़े साजन' बीसा ओसवाल थे। उनका गोत्र संकलेचा था। इस गोत्र का आदि स्रोत संकवाली ग्राम से संबद्ध है। संकवाली (शिवगंज से लगभग १३ कि. मी. दूर) चौहान राजपूतों के आधिपत्य में था। वि. सं. ७१३ माघ शुक्ला पंचमी के दिन गुरांसा महाजी रंकजी ने संकवाली के अधिनायक सहायदेव सूर्यदेवजी को प्रतिबोध देकर जैन बनाया। संकवाली के जिन चौहान राजपूतों ने उस समय जैन धर्म स्वीकार किया, वे संकलेचा ओसवाल कहलाये।[2]

कालांतर में पारिवारिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर संकलेचा परिवार विभिन्न स्थानों में फैलता गया। बहुत-से परिवार मेवा नगर में जा बसे। उक्त नगर

---

१. राजपूताने का इतिहास (चौथी जिल्द, दूसरा भाग), पृ. ६०५।

२. सिरियारी उपाश्रय के गुरांसा स्वामी भीखणजी के पारिवारिक कुलगुरु थे। उन्हें महात्मा या मथेरण भी कहा जाता रहा है। स्वामीजी के समय उस उपाश्रय में गुरांसा रूपचन्दजी थे। उनके वंशक्रम से वर्तमान में वहां वयोवृद्ध गुरांसा शेषमलजी हैं। उनके पास वंशावलि की जो हस्तलिखित बही है, उसी के आधार पर उपर्युक्त विवरण दिया गया है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जसोल से ८ कि. मी. की दूरी पर अवस्थित था। अब वह भग्नावशेष मात्र है। सं. १०१० में धन्नाशाह संकलेचा के चार पुत्रों ने मेवा नगर को छोड़ दिया। उनमें से ज्येष्ठ पुत्र जसाशाह पचपदरा में और कनिष्ठ पुत्र राणाशाह कंटालिया में आकर बसे।[1]

स्वामीजी के निकट-पूर्वजों में वीरदासजी बहुत प्रभावशाली व्यक्ति हुए थे। अपने ग्राम में तो वे मुख्य माने ही जाते थे, आसपास के ग्रामों में भी उनका अच्छा प्रभाव था। वीरदासजी से लेकर स्वामीजी तक की वंशावली इस प्रकार है :

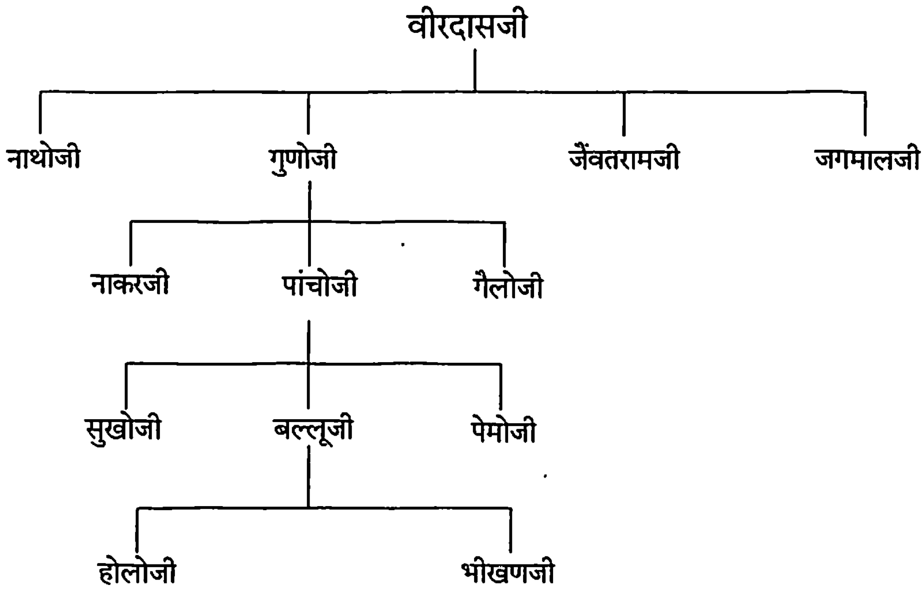

उक्त वंशावली सिरियारी के गुरांसा शेषमलजी की बही से उद्धृत की गई है। राजनगर के गुरांसा दाखूलालजी की बही में उक्त वंशावली कुछ भिन्नता लिए हुए है। उसमें वीरदासजी का नाम नहीं है। उनके स्थान पर बगतोशाह का नाम है। अन्य पीढ़ियों के नाम संख्या तथा पौर्वापर्य में भी क्वचित् अन्तर है।[2] उक्त वंशावली अग्रोक्त प्रकार से है :

---

१. राजनगर-निवासी गुरांसा दाखूलालजी की बही से प्राप्त।

२. वंशावली के नामों की भिन्नता में कारणभूत निम्नोक्त ३ संभावनाएं हो सकती हैं--

(१) वीरदास और बगतोशाह--ये एक ही व्यक्ति के दो नाम हों। (२) ये दोनों सगे भाई हों। (३) कुलगुरु की संतानों द्वारा जजमानों का बंटवारा करते समय बही की प्रतिलिपि करने वालों की असावधानी।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

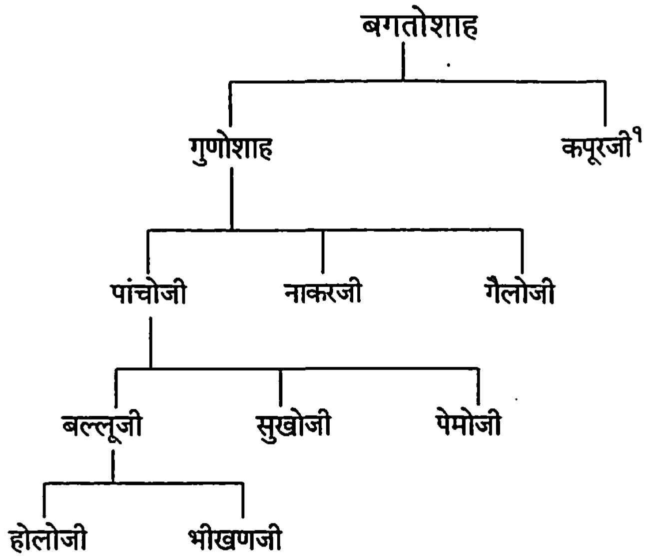

जन्म

स्वामी भीखणजी का जन्म वि. सं. १७८३[२] आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी (१ जुलाई, १७२६) मंगलवार को हुआ।[३] जब वे गर्भस्थ हुए, माता दीपांजी ने सिंह का स्वप्न देखा। जैन परम्परा में इस स्वप्न को बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है और १४ महास्वप्नों में गिना गया है। कहा जाता है कि गर्भ-धारण-काल में

---

१. (क) मुनि कालूजी (बड़ा) द्वारा लिखित पत्र के बोल २१ में लिखा है--'कपूरजी ढूंढिया में दीख्या लीधी। बड़ा तपस्वी मोकली तपस्या कीधी। छेहड़े ४५ की तपस्या में १३ दिन रो संथारो आयो।'

(ख) गुरांसा दाखूलालजी की बही में ४३ दिन की तपस्या में १३ दिन के संथारे का उल्लेख है।

२. विक्रम संवत् पंचांगानुसार चैत्र शुक्ला १ से बदलता है, परन्तु जैन परम्परा में तथा तत्कालीन मेवाड़ आदि अनेक राज्यों में वह श्रावण कृष्णा १ से बदलता रहा है। प्रथम प्रकार को 'चैत्रादि' तथा द्वितीय को 'श्रावणादि' कहा जाता है। जयाचार्य विरचित 'लघु भिक्षु जसरसायण' २/४ में, मुनि वेणीरामजी विरचित 'भिक्षु-चरित्र' १/५ में तथा मुनि हेमराजजी विरचित 'भिक्षु-चरित्र' १/२ में स्वामीजी का जन्मकाल सं. १७८२ लिखा है, वह 'श्रावणादि' क्रम से समझना चाहिए। भिक्षु जसरसायण १/६ में स्वयं जयाचार्य ने उसे चैत्रादि क्रम से सं. १७८३ कहा है। वे लिखते हैं--

'...संवत् सतरै सो तियांसियै, पंचांग लेखै ताहि।'

३. स्वामीजी का जन्म मंगलवार को हुआ। वार का यह उल्लेख केवल मुनि वेणीरामजी रचित भिक्षु-चरित्र १/५ में मिलता है, अन्यत्र कहीं नहीं। वे कहते हैं--

'...वार मंगल तीखी तिथि तेरस सुणी, जनम कल्याणज थाय।।'

इसके विपरीत जगदीशसिंह गहलोत द्वारा संकलित पुस्तक 'ऐतिहासिक तिथि पत्रक' के अनुसार उस दिन ईस्वी सन् १ जुलाई, १७२६ शुक्रवार होता है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

माता द्वारा देखा गया ऐसा स्वप्न किसी महापुरुष के अवतरण का सूचक होता है।

स्वामीजी के पिता का नाम शाह बल्लूजी था। उन्होंने दो विवाह किये थे। प्रथम पत्नी का नाम लाछड़दे था। उनके पुत्र होलोजी थे। प्रथम पत्नी के दिवंगत होने पर उन्होंने दूसरा विवाह दीपांजी से किया। उनके पुत्र भीखणजी थे।[1] पति-पत्नी दोनों ही अत्यन्त भद्र और धार्मिक प्रकृति के थे। ऐसे माता-पिता की संतान धर्म-निष्ठ तथा सत्यशोधक हो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

अध्ययन

स्वामीजी बाल्यकाल से ही अत्यन्त निपुण और कुशाग्र-बुद्धि थे। उस समय की परम्परा में विद्याध्ययन की कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी। अधिकांश बालक अक्षर-ज्ञान से वंचित ही रहा करते थे। वणिक् जाति के बालक स्वल्पाधिक अक्षर-ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेते थे। स्वामीजी ने भी तत्कालीन पद्धति के अनुसार गुरु के पास साधारण अध्ययन किया। महाजनी हिसाब में वे शीघ्र ही दक्ष हो गये। व्यवहार-बुद्धि भी उनकी बड़ी सजग थी। एक बार बता देने के पश्चात् वे अपना पाठ बहुत शीघ्र याद कर लेते थे। गुरु को उनके लिए विशेष परिश्रम करने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी।

स्वाभिमान

बाल्यावस्था में स्वामीजी को जहां अन्य अनेक गुणों की अतिशयता प्राप्त थी, वहां स्वाभिमान भी उसी अनुपात से प्राप्त था। अपमानजनक स्थिति उन्हें कहीं भी सह्य नहीं हुई। उनके एक पारिवारिक चाचा बहुधा उनके सिर पर प्यार से चपत लगा दिया करते थे। कई बार धीमे तो कई बार जोर से भी। उक्त उपहास के साथ चाचा कहते—'तुम्हारी खोपड़ी तो बहुत पक्की है।' चाचा का वह व्यवहार उन्होंने अनेक महीनों तक सहा। कई बार उस पर अपनी अप्रसन्नता भी व्यक्त की, पर चाचा नहीं माने। वे उन्हें चिढ़ाने के लिए पहले से भी अधिक चपत लगाने लगे। आखिर चाचा का वह स्वभाव उनके स्वाभिमान को एक चुनौती हो गया। उन्होंने उसे छुड़ाने के लिए अनेक उपाय किये, पर सफल नहीं हुए। मृदु उपाय काम नहीं कर सके, तब उन्होंने निश्चय किया कि अब कठोर उपाय से ही काम लेना होगा।

---

१. मुनि कालूजी (बड़ा) द्वारा लिखित पत्र के १७वें बोल में लिखा है--'भीखणजी स्वामी रा पिता शाह बल्लूजी दोय परण्या। पहेली रा होलोजी। फेर दूजी बार परण्या त्यां दीपांजी रा भीखणजी। तिण स्यूं होलोजी न्यारा--जुदा रहता।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

राजस्थान के तत्कालीन बालक जब कुछ बड़े हो जाते थे, तब अपने सिर पर प्रायः पगड़ी ही पहना करते थे। भीखणजी भी पगड़ी पहनते थे। एक दिन वे अपनी पगड़ी के नीचे नुकीले कांटे छिपाकर चाचा के पास आये। चाचा ने अपने स्वभावानुसार उनके सिर पर ज्यों ही कसकर हाथ मारा त्यों ही हथेली में कांटे चुभ गये। चाचा कराह उठे और वे भाग गये। उनके स्वाभिमान ने चाचा का वह स्वभाव सदा के लिए छुड़ा दिया।

विवाह

विवाह के समय भीखणजी कितने वर्षों के थे, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। तत्कालीन सामाजिक प्रथा को देखते हुए कहा जा सकता है कि वे बाल्यावस्था में ही विवाहित कर दिये गये।[१] उनकी पत्नी का नाम सुगणी बाई था।[२] वह बगड़ी के बांठिया परिवार की पुत्री थी।[३] बाल्यावस्था से ही वैवाहिक बंधन में डाल देने पर भी उनका जीवन वैराग्य-भावना से ओतप्रोत रहा। उनका गृहस्थ-जीवन बहुत ही संयमित और शान्तिमय था। उनकी पत्नी उनके अनुरूप ही धार्मिक तथा विनयशील थी। उनके एक पुत्री हुई। वह निंबावास के बाफणा परिवार में ब्याही गई।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

निपुण गृहस्थ

शाह बल्लूजी के दिवंगत हो जाने के पश्चात् स्वामीजी के बड़े भाई होलोजी पृथक् रहने लगे और स्वामीजी माता के साथ। वे गृह-कार्य तथा व्यापार में बहुत शीघ्र भाग लेने लगे थे। उनमें गृह-भार को वहन करने की सहज निपुणता थी। अपने ग्राम में वे सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति गिने जाते थे, अतः पंचायत तथा व्यक्तिगत

---

१. यति हुलासमलजी ने (शा. प्र. २-१९ में) कहा है--

'भोग समर्थ थयां पिता, परणावी वर नार।
काल कितोक बीतां पछै, शील आदरियो सार।।'

उक्त कथन से झलकता है कि वे युवावस्था में विवाहित हुए थे, परन्तु यह अभिमत युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि छब्बीसवें वर्ष में वे दीक्षित हुए। उसके पूर्व उनके एक पुत्री हुई थी। माता दीपांजी पर भार न रहे--इसलिए दीक्षा से पूर्व अवश्य ही उन्होंने उसका विवाह कर दिया होगा। रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या-विवाह की प्रथा थी, अतः विवाह के समय वह ९-१० वर्ष की रही होगी। इसका तात्पर्य हुआ कि पुत्री के जन्म-काल में स्वामीजी लगभग १६ वर्ष के रहे होंगे और अपने विवाह के समय १३-१४ वर्ष के।

२. मुनि कालूजी (बड़ा) द्वारा लिखित पत्र के २०वें बोल में लिखा है--'भीखणजी स्वामी री अस्त्री रो नाम सुगणी बाई।'

३. गुरांसा शेषमलजी तथा दाखूलालजी की बही से प्राप्त।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

परामर्श में भी उनकी बात का बहुत मूल्य समझा जाता था। असाधारण बुद्धि और दूरदर्शिता ने उनको हर स्थान पर महत्त्वशील व्यक्ति बना दिया।

समय की सूझ

गृहस्थावस्था से ही स्वामीजी की सूझ-बूझ अद्वितीय थी। मनुष्य की प्रकृति से वे पूर्ण अभिज्ञ थे। बिगड़ते कार्य को बना लेना और उखड़ते व्यक्ति को जमा लेना उन्हें अतिशयता से आता था। किसी के डूबते साहस की नौका को वे अपने बुद्धि-बल से अत्यन्त कुशलतापूर्वक पार लगा देते थे। एक बार वे किसी कार्यवश ग्रामान्तर गये। एक राजपूत को साथ ले गये। कार्य सम्पन्न कर जब दोनों व्यक्ति वापस आने लगे, तब मार्ग में ही राजपूत के पैर लड़खड़ाने लग गए। वे नसवार सूंघने के व्यसनी थे और वह समाप्त हो चुकी थी। उसके बिना चल पाना उनके लिए उतना ही असम्भव था जितना कि पैरों के बिना।

ठाकुर ने कहा—'भीखणजी! नसवार सूंघे बिना मेरे से तो अब आगे चल पाना कठिन हो गया है।'

स्वामीजी चाहते थे कि सूर्यास्त से पूर्व ही घर पहुंच जायें। रात्रि हो जाने पर मार्ग में चोर तथा लुटेरों का भय रहता था। साथी को जंगल में अकेला छोड़ कर जाना भी उचित नहीं था। उन्होंने कहा—'ठाकुर साहब! आप धीरे-धीरे चलिये, मैं आस-पास के खेतों में किसी के पास नसवार हो तो खोजकर लाता हूं।'

ठाकुर थोड़े आश्वस्त हुए। वे धीरे-धीरे आगे चल पड़े। भीखणजी ने दो-चार खेतों में जाकर नसवार की खोज की, पर वह कहीं मिली नहीं। उन्होंने तब एक कंडे की बुकनी बनाई और उसकी पुड़िया ठाकुर के हाथ में थमाते हुए बोले—'ठाकुर साहब! कोई बहुत अच्छी तो नहीं है, ऐसी साधारण ही मिली है।'

ठाकुर तो जम्हाइयां ले रहे थे। पुड़िया को देखते ही उनका मन हरा हो गया। उन्होंने पुड़िया को खोला और चिमठी भरकर सूंघने का आनन्द लेते हुए बोले—'भीखणजी! ठीक ही है। काम चल जायेगा।'

नसवार न होते हुए भी नसवार के विश्वास ने ठाकुर के पैरों में गति भर दी। वे सूर्यास्त से पूर्व ही अपने घर पहुंच गए।[1]

सुधारवादी

स्वामीजी सत्य-सेवी थे, इसलिए जन-साधारण को भटका देने वाले दम्भों और प्राचीनता का संबल पाकर चलने वाली रूढ़ियों से उनका आरम्भ से ही

१. भिक्खु-दृष्टांत, दृ. १११।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

विरोध रहा। समय-समय पर उन्होंने उस विरोध को प्रकट किया और समाज को सजग करने का प्रयास भी। यद्यपि वे प्रयास कोई व्यवस्थित समाज-सुधार के निमित्त नहीं किये गए थे, फिर भी उनके रूप में हम स्वामीजी के जीवन में सुधारवादिता के उन बीजों को देख सकते हैं जो आगे चलकर विकसित हुए थे। दम्भों और रूढ़ियों के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाली अनेक घटनाएं हैं।

दम्भ का विरोध

एक बार कंटालिया में किसी के घर में चोरी हो गई। पास के ही बोरनदी ग्राम में एक अन्धा कुम्हार रहता था। वह कहा करता था कि उसके मुंह से देवता बोला करते हैं। लोगों को उसकी बात पर विश्वास भी था, अतः चोर का पता लगाने के लिए उसे बुलाया गया। दम्भी कुम्हार दिन में भीखणजी के पास आया और इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् चोरी का प्रसंग छेड़ते हुए पूछने लगा—'आपका सन्देह किस पर है?'

भीखणजी उसकी ठग-विद्या को झट ताड़ गये। वे बोले—'मेरा सन्देह तो मजने पर है।'

रात को जब चोरी वाले घर पर लोग एकत्रित हुए और कुम्हार को रहस्योद्घाटन के लिए कहा गया, तो उसने अपने पूर्व निश्चित लहजे से बोलते हुए कहा—'डाल दे रे, डाल दे, गहने डाल दे' परन्तु इस तरह कहने से कौन गहने डालता? लोगों ने चोर का नाम बताने के लिए प्रार्थना की।

कुम्हार ने कड़कते हुए कहा—'चोर 'मजना' है, उसी ने गहने चुराये हैं।'

पास में बैठे फकीर ने कहा—'क्या मूर्खता की बात करते हो? 'मजना' क्या गहने चुरायेगा? यह तो मेरे बकरे का नाम है।' यह सुनकर सभी लोग हंस पड़े।

अवसर देखकर भीखणजी ने दिन में कुम्हार के साथ हुई बातचीत सुनाई और कहा—'तुम लोगों की बुद्धि कहां गई है, जो आंखों वाले से चुराये गए माल का पता इस अन्धे आदमी से लगवाना चाहते हो?' इस प्रकार कुम्हार की पोल खोलकर उन्होंने सारे गांव को उसके दम्भ से बचा लिया।[१]

ओ कुण कालो जी काबरो

जमाई जब ससुराल जाता है, तब उसे गालियां गाई जाती हैं। राजस्थान में आमतौर से यह रूढ़ि प्रचलित है। एक बार जब भीखणजी ससुराल गये और वहां

१. भिक्खु-दृष्टांत, दृ. १०६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

भोजन करने बैठे, तो स्त्रियां गालियां गाने लगीं—'ओ कुण कालो जी काबरो...।' भीखणजी को वह रूढ़ि बहुत बुरी लगी। अपने लंगड़े साले की ओर संकेत करते हुए उन्होंने स्त्रियों से कहा—'अंधे, लूले तथा लंगड़े को तो आप अच्छा बताती हैं और अच्छे को बुरा। मैं इसे पसन्द नहीं करता।' ऐसा कहकर भोजन को बीच में ही छोड़कर वे खड़े हो गये। उनके उस विरोध का तत्काल प्रभाव हुआ और आगे सदा के लिए गालियां बन्द हो गईं।[1]

गाली गाने की कुप्रथा

स्वामीजी अपने आचार्य-काल में भी गाली गाने की कुप्रथा का विरोध करते रहे। उन्होंने उक्त प्रथा को स्त्री-जाति की लज्जाशीलता के बिलकुल विपरीत बतलाया। उनकी दृष्टि में यह प्रथा स्त्री-जाति की वैचारिक नग्नता है, जो कि शारीरिक नग्नता से भी अधिक भयंकर होती है। उन्होंने कहा है :

आ तो नारी लाज करै घणी, न दिखावै मुख नै आंख।
पिण गाल्यां गावण नै उसरी, जाणै कपड़ा दीधा न्हाख।।[2]

शीतला आदि का विरोध

स्वामीजी शीतला, भैरूं आदि देवों की पूजा को भी एक अज्ञानमय परम्परा ही मानते थे। अनेक बार वे अपने व्याख्यानों में इनका विरोध करते।[3] वे गृहस्थों में व्याप्त इस अज्ञानमूलक परम्परा को छुड़ा देना चाहते थे। आचार्य-काल की उनकी उस सुधारवादी भावना को गृहस्थ-काल की सुधारवादी भावना का ही एक अधिक परिष्कृत रूप कहा जा सकता है।

धर्म-जिज्ञासा

स्वामीजी के माता-पिता गच्छवासी (यति) सम्प्रदाय के अनुयायी थे, अतः उनका सर्वप्रथम धार्मिक संपर्क उन्हीं से प्रारम्भ हुआ, किन्तु वहां के वातावरण में उनके धर्म-जिज्ञासु अन्तःकरण को तृप्ति नहीं मिल सकी। कालान्तर में वे **पोतियाबंध संप्रदाय**[4] के व्यक्तियों के पास व्याख्यान आदि सुनने के लिए जाने लगे। स्वामीजी के चाचा पेमोजी पोतियाबंध-संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। उनके कारण वहां के सम्पर्क में काफी गहराई तो आई, परन्तु वहां भी स्वामीजी की

१. भिक्खु-दृष्टांत, दृ. १०५।
२. भिक्षु-ग्रंथ-रत्नाकर (द्वितीय खंड), चेड़ा कोणिक री सिंध, १८/१६।
३. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २७६।
४. इस संप्रदाय के विषय में देखें--भि.ग्रं.र. (प्रथम खंड), पृ. ३१६ से ३३३, पोतियाबंध की चौपई तथा लेखक की पुस्तक 'श्रमण संस्कृति के अंचल में' (द्वितीय संस्करण), पृ. ५५ से ५८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

भक्ति चिरस्थायी नहीं बन सकी। आखिर उनका सम्पर्क स्थानकवासी सम्प्रदाय की एक शाखा के आचार्य रुघनाथजी से हुआ और वे उनके अनुयायी बन गये।

विभिन्न संप्रदायों के संसर्ग में आने से उन्हें धर्म-विषयक अनेक प्रकार के विचारों से अवगत होने का अवसर मिला। उनकी तात्त्विक बुद्धि उन विभिन्नताओं के स्पर्श से और प्रखर हो उठी। उससे एक लाभ यह भी हुआ कि सांसारिक जीवन के प्रति उनकी उदासीनता उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

उत्कट विराग

धर्म-साधना और भोग-साधना का साथ नहीं हो सकता। दोनों में से किसी एक को ही अपनाया जा सकता है। इस निष्कर्ष पर पहुंच कर भीखणजी ने अपने-आपको धर्म-साधना के लिए ही समर्पित करने का निश्चय किया। उनकी अन्तर्ध्वनि ने उन्हें बताया कि भोग-साधना में अपने को खपा देना इस अमूल्य शरीर का दुरुपयोग है। उन्होंने प्राप्त भोगों को स्वाधीनतापूर्वक छोड़ कर दीक्षित होने का निर्णय किया। उनके साथ उनकी पत्नी ने भी उसी मार्ग का अवलम्बन करने का विचार किया। संयम की पूर्व-साधना के रूप में वे दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करने लगे।

पूर्ण युवावस्था में ब्रह्मचर्य पालन करने का संकल्प लेकर दोनों ने अन्तःकरण से उठी हुई धर्म-भावना को मूर्तरूप देना प्रारंभ कर दिया। दोनों ने अभिग्रह किया कि जब तक दीक्षा की भावना कार्यरूप में परिणत नहीं हो जायेगी, तब तक वे एकान्तर उपवास किया करेंगे। उनके गृही-जीवन का वह समय उत्कट विराग-भावना के साथ व्यतीत होने लगा।

पत्नी-वियोग

अभिग्रह के कुछ समय पश्चात् ही भीखणजी की पत्नी का देहान्त हो गया। उस अचानक मृत्यु ने उनकी भावना को एक साथ झकझोर डाला। वे सोचने लगे—'काल का कोई भरोसा नहीं, अतः शुभ कार्य में समय मात्र का प्रमाद भी भयंकर भूल है। आगम कहते हैं कि अपने संकल्पित काम को भविष्य के ऊपर तीन प्रकार के व्यक्ति ही छोड़ सकते हैं—एक तो वे, जिनकी मृत्यु के साथ मित्रता है। दूसरे वे, जो मृत्यु के सामने से भाग जाने का सामर्थ्य रखते हैं और तीसरे वे, जो यह समझते हैं कि उनकी मृत्यु कभी होगी ही नहीं।[1] भीखणजी रात-दिन इन्हीं

१. उत्त., १४/२७—'जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया।।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

विचारों में लीन रहने लगे। वे अपनी इच्छा को बहुत शीघ्रता से फलीभूत कर लेना चाहते थे, अतः स्वभावतः ही उनकी आकृति पर गाम्भीर्य रहने लगा।

लोगों ने उस गाम्भीर्य को पत्नी-वियोग से उत्पन्न औदासीन्य समझा। उन्होंने उनकी भावना को अपनी भावना के अनुरूप ही आंका और सान्त्वना के साथ-साथ दूसरा विवाह कर लेने के लिए परामर्श देने लगे, परन्तु भीखणजी ने उसे स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। अच्छे सम्बन्ध मिलते हुए भी उन्होंने सबको विरक्तभाव से ठुकरा दिया और यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा कर ली।

आत्म-परीक्षा

संयम आत्म-विजयी के लिए जितना सुखदायक है, कायर के लिए उतना ही अधिक दुःखदायक। मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित किये बिना इस ओर पैर बढ़ा देना, खतरों से भरा हुआ है। इसीलिए भीखणजी ने दीक्षा से पूर्व अपने-आपको पूर्णरूप से कसौटी पर कसकर देख लिया था कि वे पग-पग पर आने वाले परीषहों का दृढ़ता से सामना कर सकते हैं या नहीं। उस परीक्षण-काल में एक बार तो उन्होंने कैर का ओसाया हुआ पानी भी पीकर देखा था। उस पानी को उन्होंने एक तांबे के लोटे में भरकर 'बंडेल' (एक दूसरे पर रखे बर्तनों की श्रेणी) में रख दिया और काफी देर तक पड़े रहने के पश्चात् पीया। अति नीरस उस जल को पीकर वे यह देख लेना चाहते थे कि साधु बनने पर अचित्त जल पीने के नियम को वे निभा सकेंगे या नहीं? अपने दीक्षित-जीवन के उत्तरार्द्ध सं. १८५१ में उक्त घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने मुनि हेमराजजी से, जबकि वे गृहस्थ थे, कहा था—'साधु होने के पश्चात् आज तक वैसा नीरस जल पीने का काम नहीं पड़ा।'[1] उन्होंने आत्म-परीक्षण के रूप में इस प्रकार के अनेक प्रयोग करके अपने-आपको पूर्ण रूप से तोलकर देख लिया था।

आज्ञा की मांग

अपनी क्षमता का पूर्ण विश्वास हो जाने के पश्चात् भीखणजी ने अपना विचार माता दीपांबाई के सामने रखा और दीक्षा के लिए आज्ञा मांगी। वे अपनी माता के अत्यन्त प्रिय और विनीत पुत्र थे। शाह बल्लूजी का देहांत होने के पश्चात् वे उनकी हर आवश्यकता का बड़ा ध्यान रखा करते थे। ऐसी स्थिति में पुत्र के मुख से दीक्षा लेने की बात सुनकर दीपांबाई को बड़ा धक्का लगा। उन्होंने उनसे बड़ी आशाएं बांध रखी थीं। वे बहुधा कहा करती थीं—'मेरा बेटा बड़ा होनहार है। समय पाकर यह कोई महान् यशस्वी व्यक्ति बनेगा।' वृद्धावस्था के अपने एकमात्र

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १०७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

सहारे को छोड़ देना उन्हें कभी अभीष्ट नहीं था, अतः दीक्षा के लिए आज्ञा देने का उन्होंने स्पष्ट निषेध कर दिया।

बुआ का विरोध

परिवार के अन्य सम्बन्धी व्यक्तियों ने भी यथासाध्य भीखणजी को अपने निर्णय से विचलित करने का प्रयास किया। उनकी बुआ ने तो दबाव देते हुए यहां तक भय दिखलाया कि यदि तुम दीक्षा लोगे, तो मैं पेट में कटार भोंक कर मर जाऊंगी। परन्तु भीखणजी उन सब कठिनाइयों से घबराये नहीं। उन्होंने अपनी बुआ से कहा—'कटार बहुत कठोर और तीक्ष्ण होती है। वह 'पूनी' नहीं होती कि कोई सहज ही उसे पेट में भोंक ले। ऐसी व्यर्थ की बातों से मुझे अटकाने का प्रयास करना निरर्थक है।'[१]

स्वप्न की सत्यता

आचार्य रुघनाथजी को जब भीखणजी के दीक्षा लेने के विचारों का पता लगा, तो वे स्वयं आकर दीपांबाई को आज्ञा देने के लिए समझाने लगे। उन्होंने कहा—'साधुओं को आहार, पानी, वस्त्र, पात्र तथा स्थान का दान देने वाले तो बहुत मिल जाते हैं, परन्तु पुत्र का दान देने वाला लाखों में कोई एक मिलता है। तुम्हारे पुत्र की दीक्षित होने की भावना है, अतः तुम्हें उसमें बाधक नहीं बनकर साधक बनना चाहिए।'

दीपांबाई ने कहा—'महाराज! मेरे पुत्र के भाग्य में साधु होना नहीं, कोई वैभवशाली पुरुष होना लिखा है। जब वह गर्भ में आया था, मुझे स्वप्न में सिंह दिखाई दिया था। आप लोगों के व्याख्यानों में ही मैंने सुना है कि सिंह का स्वप्न देखने वाली माताएं चक्रवर्ती जैसे प्रभावक व्यक्ति को जन्म देती हैं। आप ही बतलाइये कि मैं अपने होनहार पुत्र को दीक्षा की आज्ञा कैसे दे सकती हूं?'

आचार्य रुघनाथजी ने कहा—'बहिन! तुम्हारा स्वप्न सचमुच ही महत्त्वपूर्ण है। इसे आगमोक्त चौदह महास्वप्नों में गिना जाता है। यह सत्य है कि इसे देखने वाली माताएं तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव तथा बलदेव जैसे व्यक्तियों को जन्म देती हैं, परन्तु उन प्रभावक व्यक्तियों में एक नाम **भावितात्मा अनगार** का भी है। मुझे लगता है, तुम्हारा स्वप्न मिथ्या नहीं होगा। दीक्षा लेकर तुम्हारा पुत्र सिंह की तरह गूंजेगा। अवश्य ही वह भावितात्मा अनगार होगा।'

आचार्य रुघनाथजी की वह भविष्यवाणी वास्तव में ही सत्य निकली। स्वामीजी की सिंह-गर्जना ने जैन शासन के सेवकों में पुनः प्राण प्रतिष्ठित कर दिये।

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २४०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

चिरकाल से सोई शुद्ध आचार-विचार की चेतना फिर से जागरित हो उठी। माता की धारणा के अनुसार स्वामीजी कोई वैभवशाली व्यक्ति भले ही नहीं हुए हों, परन्तु वे चारित्र-आत्माओं के प्रकाश-स्तम्भ और तत्त्वज्ञों के सम्राट् महापुरुष अवश्य निकले।

आचार्य रुघनाथजी की उपर्युक्त भविष्यवाणी ने माता के स्वप्न-विषयक विचार को एक नया मोड़ प्रदान किया। श्रमणों की वे भक्त थीं। उनकी बातों को उन्होंने महत्त्वपूर्ण माना। अपने पुत्र की श्रमण-संघ में सिंह के समान स्थिति-विषयक कल्पना ने उनके मन को एक समाधान प्रदान किया। वह समाधान ही स्वामीजी को दीक्षा की आज्ञा प्राप्त करने में सहायक हुआ।

माता के मन में पहले उनके जीवन-सम्बन्धी जो कल्पनाएं थीं, वे सब आर्थिक वैभव से सम्बन्धित थीं, किन्तु बाद में उन सबका संयम-वैभव में संक्रमण हो गया। अपने स्वप्न का वह समाधान उनके मन में इतना गहरा बैठा कि बाद में स्वयं आचार्य रुघनाथजी भी उसे अन्यथा नहीं कर सके। स्वामीजी जब स्थानकवासी संप्रदाय से पृथक् हो गये, तब एक बार स्वयं आचार्य रुघनाथजी ने दीपांबाई को यह समझाने का बहुत प्रयास किया कि तुम्हारा पुत्र तुम्हारे स्वप्न के अनुरूप न होकर अविनीत सिद्ध हुआ, परन्तु दीपांबाई ने उस समय उन्हें ऐसा करारा उत्तर प्रदान किया कि उसके सामने आचार्यजी को निरुत्तर हो जाना पड़ा। उन्होंने कहा—'महाराज! अब आप जो-कुछ भी कह रहे हैं, वह दूसरी स्थितियों से प्रभावित होकर कह रहे हैं, किन्तु पहले जो-कुछ कहा था, वह निष्पक्ष दृष्टि से था। आप अपने पूर्व कथन का स्मरण कीजिए। इस समय के कथन से तो आप स्वयं अपने को ही असत्य सिद्ध कर रहे हैं।'[१]

आज्ञा-प्राप्ति

आचार्य रुघनाथजी की तत्कालीन प्रेरणा काफी प्रभावकारी रही। उससे प्रेरित होकर दीपांबाई ने स्वामीजी को दीक्षा के लिए अनुमति प्रदान कर दी। वह उनका एक महान् त्याग था। वैधव्य-जीवन के एकमात्र सहारे अपने प्रिय पुत्र को दीक्षा की अनुमति देकर उन्होंने नारी-जाति की त्याग-वृत्ति का एक ज्वलन्त

---

१. श्रावक शोभजी कृत 'पूजगुणी' ढाल ६/६,७

'माता सुपना में सिंह देखियो, जद कीधी रुघनाथजी ने बूझ।
रुघनाथजी कहै सुत तुम तणो, रहसी केसरी जिम गूंज।।
पूज्य शुद्ध हुआं कहै रुघनाथजी, कुमति हुओ तुम बाल।
माता कहै केसरी जिम गूंजसी, थांरो भाख्यो वचन संभाल।।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उदाहरण रख दिया। उनका वही महान् त्याग कालांतर में संसार के लाखों मनुष्यों के कल्याण का हेतु बना।

माता की व्यवस्था

माता की आज्ञा प्राप्त होते ही भीखणजी संयम ग्रहण करने के लिए उद्यत हो गये। आवश्यकतावश जो देर हो रही थी, वह भी उन्हें अखरने लगी। उन्होंने अत्यन्त शीघ्रता से अपने व्यापार तथा लेन-देन को समेटा और सारी पूंजी को व्यवस्थित किया। दीक्षा लेने से पूर्व वे अपनी माता की अच्छी व्यवस्था कर देना चाहते थे, ताकि वृद्धावस्था में उन्हें किसी प्रकार के आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े। उन्होंने जमीन-जायदाद के अतिरिक्त लगभग एक हजार रोकड़ा रुपये अपनी माता को दिये। वस्तुओं के तत्कालीन सस्ते भावों को देखते हुए कहा जा सकता है कि उक्त धनराशि उनकी माता के निर्वाहार्थ काफी अच्छी थी।

वस्तुओं के भाव

स्वामीजी के युग में उपभोग्य वस्तुओं की कोई कमी नहीं थी। यों भी कहा जा सकता है कि वे बहुलता से प्राप्त थीं। न उस समय जनसंख्या का कोई स्फोट था और न मुद्रा का इतना विस्तार। इसलिए वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा अधिक मूल्यवान् थी। वर्तमान वस्तु-भावों के सामने उस समय के वस्तु-भाव अविश्वसनीय रूप से सस्ते थे। यही कारण था कि थोड़ी पूंजी होने पर भी लोगों को सुखपूर्वक जीवन-यापन करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। स्वामीजी की दीक्षा के समय (वि.सं. १८०८ में) मारवाड़ में वस्तुओं के क्या भाव थे, इसका विवरण तो उपलब्ध नहीं हो पाया, परन्तु उसके कुछ वर्ष बाद की अनेक बहियां कण्टालिया के निकटस्थ ग्राम मुसालिया में एक भाई के पास उपलब्ध हुईं, उनमें सर्वाधिक प्राचीन बही वि. सम्वत् १८४३ की थी। उसमें विभिन्न वस्तुओं के उस वर्ष के भाव कच्चे मन[1] के आधार पर दिए हुए थे, वे इस प्रकार हैं :

वस्तु	तोल	मूल्य
गेहूं	१ मन	१२ आना[2]
मूंग	१ मन	१२ आना
तिल	१ मन	६ आना
चना	१ मन	८।। आना

१. कच्चा मन २० सेर का होता था। वर्तमान तोल के हिसाब से वह १८।। किलोग्राम से कुछ अधिक कहा जा सकता है।

२. उस समय एक आना चार पैसों का तथा एक रुपया १६ आनों या ६४ पैसों का होता था।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वस्तु	तोल	मूल्य
कुरां	१ मन	४ आना
कपास	१ मन	१ रुपया
दाल	१ मन	१ रुपया
बाजरा	१ मन	१ रुपया
गुड़	१ मन	१ रुपया
घी	१ सेर[1]	२।। आना
सूत	३ छटांक[2]	१। पैसा

उपर्युक्त बहियों में एक सं. १८६६ की थी। उसमें वस्तुओं के जो भाव लिखे हुए थे, उनसे ज्ञात होता है कि वस्तुएं क्रमशः महंगी होती जा रही थीं। वे भाव इस प्रकार हैं :

वस्तु	तोल	मूल्य
गेहूं	१ मन	१। रुपया
मूंग	१ मन	१। रुपया
मोठ	१ मन	१४ आना
चना	१ मन	१३।। आना
घी	१ सेर	८ आना

१. एक सेर वर्तमान तोल के अनुसार १ किलोग्राम से लगभग ६७ ग्राम कम होता है।
२. एक छटांक वर्तमान तोल के अनुसार ५८ ग्राम से कुछ अधिक होती है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

:२:

भाव संयम की भूमिका

दीक्षा-ग्रहण

घर की सारी व्यवस्थाओं से निवृत्त होने के पश्चात् भीखणज़ी दीक्षा के लिए तैयार हुए। वे कंटालिया से चलकर बगड़ी शहर में आये। वहां वि. सं. १८०८ मार्गशीर्ष कृष्णा १२ को आचार्य रुघनाथजी के पास दीक्षित हुए। अनुश्रुति है कि उनकी दीक्षा बगड़ी के बाहर नदी-तट पर विशाल वट वृक्ष की छाया में हुई। उस समय उनकी अवस्था २५ वर्ष एवं साढ़े चार महीने की थी। युवावस्था का नैसर्गिक तेज आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर देदीप्यमान हो उठा। स्वामीजी की वह दीक्षा वास्तव में उनकी भाव दीक्षा की एक अज्ञात तैयारी थी। वे उससे एक ऐसी भूमि पर आ गये, जिससे भाव संयम की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हो सकी और वे उसके लिए उपयुक्त तैयारी कर सके।

मित्र रामचरणजी

बाल्यावस्था में स्वामीजी के अनेक मित्र रहे होंगे, पर आज उनमें से केवल एक कंटालिया-निवासी गुलोजी गाधिया का नाम ही उपलब्ध है।[1] उसी प्रकार से युवावस्था के मित्रों में भी एक विशेष उल्लेखनीय नाम है—शाहपुरा रामस्नेही संप्रदाय के आद्य प्रवर्त्तक स्वामी रामचरणजी। उनका यह नाम दीक्षित अवस्था का है। गृहस्थावस्था में उनका नाम रामकृष्ण था। वे विजयवर्गीय वैश्य थे। स्वामीजी की तरह वे भी बहुत विरक्त प्रकृति के थे। उनका जन्म सोढ़ा नामक ग्राम (ढूंढाड़) में हुआ। वहीं उनका निवास-स्थान था। सोढ़ा में ही स्वामीजी की बुआ का घर था। उनसे मिलने के लिए वे समय-समय पर वहां जाया करते थे। कई बार कुछ दिनों के लिए ठहरते भी थे। संभव है ऐसे ही किसी अवसर पर रामकृष्णजी का उनसे सम्पर्क हुआ। यद्यपि अवस्था में स्वामीजी उनसे लगभग साढ़े छह वर्ष छोटे थे, फिर भी समान प्रकृति के कारण वे दोनों बहुत शीघ्र मित्र बन गये। कई बार के मिलन से वह मित्रता धीरे-धीरे प्रगाढ़ता में बदल गई। स्वामीजी के सम्पर्क से वे

---

१. भिक्खु-दृष्टांत, दृ. ४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जैन धर्म से परिचित हुए और उसके प्रति श्रद्धा रखने लगे। कहा जाता है कि वे दोनों साथ-साथ दीक्षा ग्रहण करने के लिए परस्पर वचन-बद्ध हो गये।

कालान्तर में रामकृष्णजी का सम्पर्क संत कृपारामजी से हुआ। उनके विराग की धारा धीरे-धीरे उधर मुड़ गई। वे स्वामीजी की दीक्षा से लगभग तीन महीने पूर्व वि.सं. १८०८ भाद्रपद शुक्ला ७ को दांतड़ा में संत कृपारामजी के पास दीक्षित हो गये।[1] स्वामी भीखणजी के साथ किया हुआ वचन उन्हें विस्मृत तो नहीं हुआ होगा, परन्तु विचार-परिवर्तन की स्थिति में उसका पालन संभव नहीं रह गया।

वि.सं. १८१५ में गलते के मेले में स्वामी रामचरणजी को तत्कालीन संन्यासियों के कलह, दुर्व्यवहार और नशा-प्रवृत्ति आदि के बड़े कटु अनुभव हुए। उनका मन उस ओर से हट गया। उन्हें तब निर्गुण भक्ति की अन्तःप्रेरणा हुई और वे मेवाड़ में जाकर उसके प्रचार में लग गये। फलस्वरूप रामस्नेही परम्परा में शाहपुरा-शाखा का प्रवर्तन हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी भीखणजी और स्वामी रामचरणजी यद्यपि भावीवशात् दो विभिन्न परम्पराओं में दीक्षित हुए थे, फिर भी उनका पारस्परिक सम्बन्ध चालू रहा। वे यदा-कदा एक-दूसरे से मिलते भी रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। स्वामी रामचरणजी ने अपनी कृति में 'तेरापंथ' शब्द को काम में लिया है। वहां उन्होंने अपनी ओर से 'तेरापंथ' की जो व्याख्या की है, वह यह बतलाती है कि वे उस शब्द की मूल व्युत्पत्ति से परिचित थे। उनके पद्य इस प्रकार हैं :

सोही तेरापंथ का, मेरा कहे न कोय।
मैं मेरी से लग रह्यो, तो जगत-पंथ है सोय।।१८।।
काम क्रोध तृष्णा तजे, दुविधा देय उठाय।
रामचरण ममता मिटे, तेरापंथ वह पाय।[2]।१९।।

अध्ययन और मीमांसा

दीक्षा के पश्चात् स्वामीजी ने अपना सारा ध्यान अध्ययन और चिन्तन में लगा दिया। कुछ ही वर्षों में उन्होंने जैन आगमों का गम्भीर ज्ञान अर्जित कर लिया। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी, अतः तत्त्व को पकड़ते उन्हें कोई देर नहीं लगती। दर्शन और धर्म का जो ज्ञान स्वामीजी ने किया, वह केवल रटंत रूप नहीं

---

१. श्रीरामस्नेही संप्रदाय, पृ. ३६।

२. वि.सं. १९८१ में 'रामनिवास धाम' शाहपुरा से प्रकाशित स्वामी रामचरणजी की 'अणभे-वाणी' (अनुभव-वाणी), पृष्ठ ७१ पर अन्तिम पद 'तेरापंथ वह पाय' के स्थान पर 'तब पिव के पन्थ जाय' लिखा है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

था, किन्तु मीमांसा-पूर्वक होने के कारण तलस्पर्शी और गहरा था।[1] आगमों के नैरन्तरिक अध्ययन और मन्थन से उन्हें ऐसा आभास होने लगा कि साधु-संघ में शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध आचार, दोनों का ही अभाव है। पहले कुछ समय तक तो यह विचार-मन्थन मन-ही-मन में चलता रहा। ज्यों-ज्यों गहराई से सोचा गया, अधिकाधिक कमियां सामने आती गईं। फिर भी स्वामीजी ने अपने कुछ वर्षों के अध्ययन के आधार पर कोई निर्णय कर लेना तब तक के लिए उचित नहीं समझा, जब तक कि उस पक्ष के समर्थन का आधार अच्छी तरह से नहीं समझ लिया जाये। इसलिए आगम-मन्थन से उत्पन्न विचारों ने जिज्ञासा का रूप लिया और वह जिज्ञासा समय-समय पर वाणी के माध्यम से प्रश्न के रूप में सामने आने लगी। स्वामीजी जब-तब तत्त्व और आचार-विचार-विषयक गूढ़ प्रश्न आचार्यजी के सामने रखते रहते। प्रश्न स्वयं साधु-समाज के आचार-विचार पर एक गहरी टिप्पणी जैसे होते। आचार्य रुघनाथजी ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर टालमटोल उत्तर देकर बात को टाल देते, फिर भी स्वामीजी खिन्न नहीं होते। वे अधिकाधिक लगन से अपने अध्ययन को अपनी मीमांसा के साथ मुक्तभाव से आगे बढ़ाते रहते।

भावी आचार्य

आचार्य रुघनाथजी को स्वामीजी की तीक्ष्ण बुद्धि और ग्रहण-शक्ति पर बड़ा गर्व था। वे उनके अत्यन्त प्रिय शिष्य थे। बार-बार गूढ़ प्रश्न पूछे जाने तथा तर्क-वितर्क किये जाने पर भी वे न उन पर झल्लाते और न कोई सन्देह ही करते। वे उन प्रश्नों को उनकी आन्तरिक विराग-वृत्ति और आचार-कुशलता के अनुरूप ही समझा करते थे।

मेधावी तथा सुयोग्य शिष्य को पाकर कोई भी आचार्य स्वयं को गण-तप्ति-विप्रमुक्त अनुभव कर सकता है। आचार्य रुघनाथजी भी स्वामीजी को पाकर निश्चिंतता और तृप्ति का अनुभव करने लगे थे। संघ के आन्तरिक वातावरण में प्रायः यह प्रकट हो चुका था कि भावी आचार्य वे ही हैं।

गुरु-शिष्य का वह स्नेह-भाव लगभग सात वर्ष तक अबाध गति से चलता रहा। शिष्य की निर्बन्ध जिज्ञासा-वृत्ति ने गुरु के मन पर और संघ के आचार-शैथिल्य ने शिष्य के मन पर कोई द्वैध-भाव पैदा नहीं होने दिया। उस अद्वैध-भाव की छत्र-छाया में स्वामीजी के व्यक्तित्व को अपनी परिपूर्ण क्षमता के अनुरूप विकसित होने का अवसर मिला।

---

१. स्थानकवासी मुनि श्री मणिलालजी अपनी पुस्तक 'श्री जैनधर्म नों प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावली' (पृष्ठ २४९) में लिखते हैं--'दीक्षा लई तेमणे खूब शास्त्राभ्यास कर्यो। अभ्यास ने अन्ते तेमणे जैनधर्म नी खूबी बधु ने बधु रहस्य भरी रीते प्रतिपादित थई।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

श्रावकों में अश्रद्धा

समय अपनी गति से बहता रहा और कार्य अपनी गति से होते रहे। स्वामीजी की दीक्षा का सप्तम वर्ष व्यतीत हो रहा था। उन्हीं दिनों में एक ऐसी घटना घटी, जिसने उनके जीवन-प्रवाह को एकदम से मोड़ दिया। वह घटना वि.सं. १८१५ की है। मेवाड़ के राजनगर नामक नगर में आचार्य रुघनाथजी की आम्नाय के श्रावक काफी बड़ी संख्या में रहते थे। उनमें चतरोजी पोरवाल तथा बच्छराजजी ओसवाल[1] आदि मुख्य थे। वे अच्छे तत्त्वज्ञ होने के साथ ही समाज के प्रभावशाली व्यक्ति भी थे। राजनगर का श्रावक-वर्ग तो उनके नेतृत्व को मानता ही था, आसपास के 'चोखलों' में भी उनका अच्छा प्रभाव था। वे लोग अनेक वर्षों से तत्कालीन साधु-समाज के शिथिलाचार से बड़े खिन्न थे। आए दिन शिथिलता के सूचना-पट्ट पर क्रमांक घटने के बजाय बढ़ते ही जा रहे थे। उस स्थिति में वहां के श्रावक-वर्ग में शिथिलाचार के विरुद्ध एक वातावरण बना और वह क्रमशः बढ़ता गया। मुनिजन वहां जाने से कतराने लगे। जो भी सिंघाड़ा वहां जाता उससे वहां का श्रावक-वर्ग आचार-शैथिल्य के विषय में अवश्य चर्चा करता। कई मुनि उनके प्रश्नों को यों ही टाल देते तो कई रुष्ट होकर उन्हें ही बुरा-भला कहने लगते। उक्त दोनों ही पद्धतियों से श्रावकों में असंतोष बढ़ता और वे पहले से भी अधिक अश्रद्धाशील हो जाते।

शास्त्र-पत्र

अनुश्रुति है कि उन्हीं दिनों संतों का एक 'सिंघाड़ा' राजनगर पहुंचा। उनके अग्रणी मुनि स्वयं को अच्छा शास्त्रज्ञ तो मानते ही थे, उन्हें अपने तर्क-बल पर भी बड़ा विश्वास था। स्थानीय श्रावकों को संदेह-मुक्त कर देने के संकल्प से उन्होंने सभी को प्रश्न पूछने के लिए आह्वान किया। श्रावक तो यह चाहते ही थे कि मुनिजन या तो हमें समझाएं कि उनका आचार-व्यवहार शास्त्रानुमोदित है, या फिर उसमें आवश्यक परिवर्तन करें।

मुनियों के उक्त आह्वान पर उन्हें प्रसन्नता ही हुई और वे निर्दिष्ट समय पर धर्म-स्थान में एकत्रित हो गए। साधुचर्या के विषय में प्रश्नोत्तर चलने लगे। एक प्रसंग पर श्रावकों ने आगम-प्रमाण मांगा। मुनिजी ने सूत्र-पाठ निकाला, परन्तु वह

---

१. कहते हैं बच्छराजजी का जन-प्रचलित नाम 'बस्ताजी' था। गुरांसा की बही के अनुसार उनका गोत्र 'कर्णावट' था। वे 'चोवटियाजी' पद से प्रख्यात थे। राज्य की ओर से प्राप्त उक्त पद आगे से आगे बड़े पुत्र को मिलता रहता था। उनके पुत्र ताराचन्दजी के लिए बही में लिखा है--'सा ताराचन्दजी के चोवटाई लीधी सं. १८१७।' इसका निष्कर्ष यह हुआ कि बच्छराजजी या बस्ताजी का देहावसान सं. १८१६ या १७ में हुआ।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उनके कथन को समर्थन देने वाला नहीं था। उन्होंने उसका कुछ अंश छोड़कर इस प्रकार से पढ़ा कि उससे उनके कथन का समर्थन हो। श्रावकों को वहां कुछ अंश छोड़ दिए जाने की आशंका हुई तब चतरोजी के पौत्र जवेरचन्दजी आदि ने उस पाठ को स्वयं पढ़कर देखना चाहा। उन्होंने पत्र मांगा तो मुनिजी क्रुद्ध होकर बोले—'मैंने पढ़कर सुनाया है, क्या उस पर तुम्हें विश्वास नहीं है?'

जवेरचन्दजी ने कहा—'हम भी श्रावक हैं। क्या आपको हमारा विश्वास नहीं है? हम पत्र को कहीं ले नहीं जाएंगे, यहीं पढ़कर आपको वापस सौंप देंगे।'

मुनिजी ने पत्र देना नहीं चाहा और श्रावकों ने लेना चाहा, इसी रस्साकसी में वह थोड़ा-सा फट गया। मुनिजी को अपने बचाव का उससे अधिक बढ़िया और कौन-सा अवसर मिल सकता था। उन्होंने आक्रोशपूर्वक हल्ला कर दिया—'देखो-देखो, इन लोगों ने शास्त्र का पत्र फाड़ दिया। ये मिथ्यात्वी हैं, अनन्त संसारी हैं।'

खुला बहिष्कार

उस समय राजनगर के वयोवृद्ध तथा प्रभावशाली प्रायः सभी श्रावक वहां उपस्थित थे। उन्होंने जब देखा कि पत्र को पढ़ने में मायाचार किया गया है और पत्र के फट जाने पर अब उस मायाचार को ढंकने के लिए अनुपयुक्त शब्द-प्रयोग एवं अनुचित व्यवहार का आश्रय लिया जा रहा है, तो उन सबका मन ग्लानि से भर गया। अनेक वर्षों से वे लोग मुनिजनों के कदाचारों एवं असद् व्यवहारों से खिन्न थे। उनके मन में अश्रद्धा का भाव बूंद-बूंद करके बढ़ता गया था। उपर्युक्त घटना ने उस भाव को आकंठ भर दिया। फलस्वरूप उन्होंने तत्कालीन शिथिल श्रमण-संघ को मान्य करना छोड़ दिया और साहसपूर्वक यह घोषणा कर दी कि जब तक श्रमण-संघ अपने में घुस आई शिथिलताओं को दूर करने के लिए कटिबद्ध नहीं हो जाता तब तक हम न तो उसे मान्य करेंगे और न वन्दन आदि से सत्कृत ही करेंगे।

श्रावक-वर्ग द्वारा खुले बहिष्कार की उक्त घोषणा का प्रभाव आस-पास के अनेक क्षेत्रों पर तो पड़ा ही, दूरवर्ती क्षेत्र भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे।

गुरु का आदेश

आचार्य रुघनाथजी उस समय मारवाड़ में विहार कर रहे थे। बहिष्कार का संवाद जब उनके कानों तक पहुंचा, तो वे चिन्तित हुए। श्रावकों को समझाकर मार्ग पर लाना जितना आवश्यक था, उतना ही कठिन भी। साधारण साधु से बन सकने वाला यह कार्य नहीं था। वहां तो किसी ऐसे विद्वान् साधु को भेजने की आवश्यकता थी जो सारी परिस्थिति को सम्भाल कर श्रावकों के सन्देहों को दूर कर

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

सके। कारणवशात् स्वयं आचार्य रुघनाथजी का वहां जाना संभव नहीं था। वे सोजत के लिए अपने चतुर्मास की स्वीकृति दे चुके थे।[1]

आखिर उन्होंने उस कार्य के लिए अपने प्रिय शिष्य भीखणजी को चुना, क्योंकि वे शास्त्रज्ञ होने के साथ-साथ असाधारण बुद्धिमान् भी थे।[2] स्वामीजी को बुलाकर उन्होंने वहां की सारी स्थिति बतलाते हुए कहा—'तुम स्वयं बुद्धिमान् हो, अतः कोई ऐसा उपक्रम करना जिससे श्रावकों की शंकाएं मिटें और वे पुनः वन्दन करने लगें।'

राजनगर में

स्वामीजी ने गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर राजनगर की ओर विहार किया। राजनगर मेवाड़ की सुप्रसिद्ध झील राजसमन्द के किनारे बसा हुआ नगर है। उक्त झील को उत्तम शिल्प का एक नमूना माना जाता है। सं. १७३२ में उसका निर्माण हुआ। कहा जाता है कि अकाल-निरोध के लिए किया गया वह भारत का प्रथम प्रयास था। संयोग ही कहा जाना चाहिए कि ८३ वर्ष पश्चात् साध्वाचार के अकाल का निरोध करने के लिए भी उसी स्थान से प्रथम प्रयास प्रारम्भ हुआ। स्वामीजी का उस ओर विहार करना उसी उपक्रम की भूमिका कहा जा सकता है।

टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी—ये चार साधु उस समय स्वामीजी के साथ थे। चतुर्मास करने के लिए वे राजनगर पहुंचे, तो तत्रस्थ श्रावकों को बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि स्वामीजी एक विरागी और तत्त्वज्ञ साधु के रूप में प्रसिद्ध थे। श्रावकों ने उस अवसर का पूरा लाभ उठाने का निश्चय किया। साधु-समाज के विषय में जो-कुछ भी वे कहना चाहते थे, वह सब खुलकर कह देने के लिए ऐसा उचित पात्र उन्हें अनायास ही मिल गया था।

ध्यानाकर्षण

धर्म-क्रांति के आवाहक राजनगर के श्रावकों में चतरोजी पोरवाल तथा बच्छराजजी ओसवाल प्रमुख थे। वहां का समग्र श्रावक-वर्ग उन दोनों के नेतृत्व में था। चतरोजी के चार पुत्रों में ब्रजलालजी और लालूजी तथा पौत्रों में जवेरचन्दजी

---

१. 'सोजत' चतुर्मास का उल्लेख स्थानकवासी आचार्य जवाहरलालजी की पुस्तक 'सद्धर्म मंडनम्' की भूमिका में है।

२. स्थानकवासी मुनि कनीरामजी विरचित 'सिद्धान्तसार' के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा है--'एकदा प्रस्तावे पूज्यश्री तेमने विचक्षण जाणी बीजा साधु साथे आपी मेवाड़ देश में आवेला राजनगरे चौमासुं करवा मोकल्या।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

भी धर्म के मर्मज्ञ थे।[1] अन्य भी अनेक तत्त्वज्ञ श्रावक वहां थे। वे सब मिल कर स्वामीजी के पास आये। स्वामीजी ने उनकी शंकाओं तथा वन्दना-व्यवहार छोड़ देने आदि विषयों पर बातचीत की।

श्रावकों ने साधु-समाज के आचार-विचार की दयनीय स्थिति स्वामीजी के सम्मुख रखी। उन्होंने कहा—'आप लोग अब जान-बूझकर दोषों का सेवन करने लगे हैं। कहीं आपके निमित्त स्थानक बनाये जाते हैं, कहीं मोल लिए जाते हैं, पर उस ओर किसी का जरा भी ध्यान नहीं है। मानो 'उद्दिष्ट' आदि दोष आप लोगों के लिए लागू हैं ही नहीं। वस्त्र-पात्र-सम्बन्धी मर्यादाओं का भी खुले रूप में उल्लंघन होता है, पर कोई बोलता तक नहीं। शिष्यों के लिए तो जो-कुछ न कर लें, वही थोड़ा है। बिना आज्ञा दीक्षित कर लेना, बहका कर अन्यत्र भगा ले जाना, दूसरे के शिष्य तथा भावी शिष्य को उलटी-सीधी बातें सिखाकर अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करना आदि तो इतने सामान्य कार्य हो गये हैं कि उनके विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है। न आपमें शुद्ध श्रद्धा है और न शुद्ध आचार, फिर हम आपको वन्दन करें तो किसलिए?'

एक आश्वासन

श्रावकों के उद्गार सुन लेने के पश्चात् स्वामीजी से यह छिपा नहीं रहा कि ये जो दोषारोपण कर रहे हैं, वह सत्य है और साधुओं का आचार-विचार दूषित है, परन्तु गुरु की बात ऊंची रखने के व्यामोह ने तथा मत-पक्ष ने उनके मन को दोष-स्वीकृति की आज्ञा नहीं दी। उन्होंने अपने बुद्धि-बल से श्रावकों को समझाने का प्रयास किया और नरम-गरम अनेक उपायों का सहारा लेकर उन्हें वन्दन के लिए सहमत कर लिया।

श्रावकों ने वन्दन करना प्रारम्भ कर दिया। वे चरण भी छूने लगे, पर साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया कि आप एक विरागी साधु हैं, अतः हम आपके विश्वास पर वन्दन करते हैं, किन्तु हमारे मन की शंकाएं नहीं मिटी हैं।

स्वामीजी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—'चार महीने हमारे सामने हैं, यह काफी लम्बा समय है; अतः धीरे-धीरे सारी शंकाओं का समाधान होता ही रहेगा।'

---

१. इस समय राजनगर में प्रायः ओसवाल श्रावकों के ही घर हैं, किन्तु उस समय ओसवालों की अपेक्षा पोरवालों का आधिक्य था। घाणेराव के गुरांसा मांगीलालजी की बही के अनुसार कालान्तर में पोरवाल परिवार व्यापारार्थ उदयपुर, गोगूंदा और सायरा में जा बसे। उस बही में चतरोजी के चार पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं--तिलोकजी, सूरजमलजी, ब्रजलालजी और लालूजी। इनमें से ब्रजलालजी के दो पुत्रों के नाम लिखे हैं--जवेरचन्दजी और लिखमीचन्दजी।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

श्रावकों को इस कथन से जहां थोड़ा आश्वासन मिला, वहां स्वयं स्वामीजी के मन में एक तुमुल संघर्ष छिड़ गया। श्रावकों की शंकाओं ने उन्हें आत्म-निरीक्षण के लिए बाध्य कर दिया। उनका सत्य-प्रेम वस्तुतः उस समय कसौटी पर चढ़ गया। यही कारण है कि राजनगर का वह चतुर्मास उनके लिए मानसिक संघर्ष का काल रहा। उससे जो कुछ फलित हुआ, वह स्वयं उनके लिए ही नहीं, अपितु सारे संसार के लिए बहुत गुणकारक हुआ।

हृदय-मन्थन

संयोगवश उस घटना के पश्चात् रात्रि के समय स्वामीजी को बड़े जोर से ज्वर का प्रकोप हुआ। शीत से शरीर थर-थर कांपने लगा। ज्वर के उस आकस्मिक आक्रमण ने शरीर के साथ-साथ उनके मन को भी झकझोर डाला। उनकी विचारधारा में गहरी हलचल मच गई। कुछ समय पूर्व उन्होंने जिस मत-पक्ष से प्रेरित होकर श्रावकों की बातों को उलटने का प्रयास किया था, वह उन्हें स्पष्ट ही एक मोह ज्ञात होने लगा। असत्य को सत्य और सत्य को असत्य सिद्ध करने का वह प्रयास स्वयं ही उनकी आत्मा को कचोटने लगा। आत्म-ग्लानि और पश्चात्ताप की तीव्र अनुभूति करते हुए वे सोचने लगे—'मैंने जिनेश्वर देव के वचनों को छिपाकर सच्चों को झूठा ठहराया, यह कैसा अनर्थ कर डाला? यदि इस समय मेरी मृत्यु हो जाये, तो अवश्य ही मुझे दुर्गति में जाना पड़े। क्या ऐसी स्थिति में यह मत-पक्ष और ये गुरु मेरे लिए शरणभूत हो सकते हैं?' इन विचारों ने उनके मन के किसी कोने में छिपे पड़े मताग्रह के कालुष्य को धो डाला।

एक प्रतिज्ञा

दुःख के समय जहां पामर प्राणी हाय-तोबा मचाता है, वहां उत्तम पुरुष आत्म-कल्याण की ओर अधिक वेग से प्रवृत्त होता है। दुःख उसके लिए अभिशाप नहीं, वरदान बन जाता है। स्वामीजी को उस ज्वर-वेदना ने मानो झकझोर कर जगा दिया। सहसा उनकी आन्तरिक आंखें खुल गईं और अपना कर्त्तव्य-पथ सामने दिखाई देने लगा। रात्रि के नीरव एकान्त में चलने वाली हृदय-मन्थन की प्रक्रिया ने उनको अपार बल दिया। उन्होंने साहस और दृढ़ता के साथ प्रतिज्ञा की—'यदि मैं इस अस्वस्थता से मुक्त हुआ, तो निष्पक्ष-भाव से खोज कर सत्य-मार्ग को अपनाऊंगा, जिन-भाषित आगमों के अनुसार अपनी चर्या बनाऊंगा और साधुओं के लिए निर्दिष्ट मार्ग के अनुरूप आचरण करने में किसी की भी परवाह नहीं करूंगा।'

स्वामीजी का ज्वर उस प्रतिज्ञा के पश्चात् क्रमशः शांत होता गया और रात्रि के साथ ही उसका अन्त हो गया। प्रभात के समय जब कुछ व्यक्ति दर्शनार्थ आये,

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

तो स्वामीजी ने उनसे रात्रिकालीन अपने निश्चय का उल्लेख करते हुए कहा—'मैंने जो बातें कही थीं, उनके विषय में एक बार फिर से विचार कर लेना चाहता हूं। आगमों की कसौटी पर अपने विचारों को कस लेने के पश्चात् जो भी निष्कर्ष निकलेगा, वह मैं आप सबके सामने रख दूंगा।'

श्रावक-वर्ग स्वामीजी की विराग-वृत्ति से पहले ही प्रभावित था, सत्यान्वेषण के प्रति उनकी उदार भावना और तटस्थ वृत्ति को देखकर और भी प्रभावित हुआ। उसने स्वामीजी से जो आशा लगाई थी, वह फलवती होती हुई नजर आने लगी।

आगम-मन्थन

स्वामीजी पर एक असाधारण कर्त्तव्य का भार आ गया। उसकी न तो उपेक्षा करना ही उपयुक्त था और न अधीरता से किसी परिणाम पर पहुंचने की उतावल करना ही। उपेक्षा जहां तत्त्व-गवेषणा की ओर से उदासीन कर देती है, वहां अधीरता सत्य के निष्कर्ष पर पहुंचने में बाधक बन जाती है। स्वामीजी को दोनों दोषों से बचकर चलना था। एक ओर श्रावकों के द्वारा उठाये गये प्रश्न तथा अध्ययन-काल में स्वयं के मन में उठने वाले विचार थे, दूसरी ओर अपने सम्प्रदाय के आचार-विचार की प्रणाली थी। दोनों में जहां संघर्ष था वहां आगम ही निर्णायक हो सकते थे। इसीलिए स्वामीजी ने दोनों प्रकार के विचारों को आगमों की कसौटी पर कसकर देख लेने का निर्णय किया। यद्यपि वह कार्य बहुत गम्भीर और श्रम-साध्य था, फिर भी सत्य तक पहुंचने के लिए सर्वाधिक उचित तथा न्याय-संगत वही एकमात्र मार्ग था।

विचार के पीछे जो 'अपना' अथवा 'पराया' विशेषण लगा रहता है, वह तटस्थता से निर्णय करने में बाधक बन जाता है। 'स्व' और 'पर' से ऊपर उठ कर केवल निर्विशेषण विचार को परखने की क्षमता एक विरक्त मुमुक्षु में ही हो सकती है। मुमुक्षु व्यक्ति अपना मन्तव्य पुष्ट करने में नहीं, किन्तु सत्य को पुष्ट करने में अपना गौरव समझता है। सत्य को परखने में गलती की संभावना हो सकती है, इसीलिए उसे फूंक-फूंक कर पैर आगे बढ़ाने पड़ते हैं। किसी भी विचार को एक बार या दो बार ही नहीं, किन्तु बार-बार सत्य की कसौटी पर कस लेने के पश्चात् जब कोई सन्देह नहीं रह जाता, तभी वह अपने अनुभव में आये हुए विचारों को साफ-साफ जनता के सामने रखता है।

स्वामीजी ने अन्तिम निर्णय के लिए उक्त मार्ग का ही आलम्बन लिया। उन्होंने तटस्थ बुद्धि से आगम-अध्ययन प्रारम्भ किया। स्थानीय श्रावक पिरथोजी खांटेड़ तथा लालजी पोरवाल ने उत्प्रेरक बनते हुए कहा—'स्वामीजी! आप

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आगमों का अध्ययन पूरी अनुप्रेक्षा के साथ करना।'[1] स्वामीजी ने वैसा ही किया। उन्होंने उस चतुर्मास में प्रत्येक आगम का दो-दो बार सूक्ष्मतापूर्वक पारायण किया। सत्य को असत्य बतलाना जहां आत्म-पतन का कारण होता, वहां गुरु का पक्ष लेकर असत्य को सिद्ध करना भी दुर्गति का कारण होता। न सत्य के प्रति अन्याय होना चाहिए था और न गुरु के प्रति। वह एक दुधारी तलवार पर चलने के समान कठिन कार्य था। उससे अक्षत बचने के लिए आगम-मन्थन ही एकमात्र उपाय था। स्वामीजी ने उस चतुर्मास में अपना अधिक समय उसी कार्य में लगाया।

निष्कर्ष की घोषणा

स्वामीजी प्रायः चतुर्मासान्त तक शास्त्रों का अध्ययन-मनन कर रहस्यों को हृदयंगम करते रहे। अन्ततः आगम-मन्थन के उस महान् परिश्रम से उपनिषद्भूत जो निष्कर्ष सामने आया, उससे उनका पूरा-पूरा विश्वास हो गया कि श्रावकों का पक्ष सत्य है। साधु-समाज जिन-आज्ञा के अनुसार नहीं चल रहा है। दर्शन और चारित्र, ये दो ही साधुता के अनिवार्य अंग हैं, किंतु यहां इन दोनों का सम्यग् भाव दृष्टिगत नहीं होता।

स्वामीजी अपने निष्कर्ष को गोल-मटोल भाषा में छिपाकर रखना नहीं चाहते थे। वे अपनी पूर्वकृत भूल को सुधार कर सब-कुछ स्पष्ट कह देने का निश्चय कर चुके थे। इसलिए पहले अपने साथ के अन्य साधुओं के सामने उन्होंने सारी बातें विस्तार सहित रखीं। साधु का वास्तविक आचार-विचार क्या होना चाहिए, यह उन सबको आगम-सम्मत दृष्टिकोण से समझाया। अच्छी तरह समझ लेने के पश्चात् चारों साधुओं ने स्वामीजी के उस दृष्टिकोण का अनुमोदन किया।

चतुर्मास जब समाप्ति के करीब आया, तब एक दिन श्रावकों की सभा के सम्मुख अपना चिर-प्रतीक्षित निर्णय सुनाते हुए स्वामीजी ने निर्भीकतापूर्वक उद्घोषित किया—'श्रावको! तुम लोग सत्य-मार्ग पर हो, हम गलत हैं। वास्तव में ही साधु-वर्ग शास्त्र-सम्मत मार्ग से भटक गया है, किन्तु इसके लिए धैर्य खोने की आवश्यकता नहीं है। मैं आचार्यश्री के पास जाकर निवेदन करूंगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे इस पर ध्यान देकर साधु-संघ को नियंत्रित करेंगे, ताकि संघ में

---

१. पुर-निवासी महात्मा सोहनलालजी से एक प्राचीन प्रति के बीच के पांच पत्र (३ से ७) प्राप्त हुये हैं। उनमें पांचवें पत्र तक तेरापंथ के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी हैं। उसमें लिखा है....'भीखणजी सं. १८१५ को चौमासो राजनगर कीदो। सूत्र वांचणा मांड्या। जदी मारगी भाई परथो खांटड़ लालजी पोरवाल कह्यो––स्वामीजी सूत्र अणुपीयो देने बांचो। जदी सूत्रां उपरै अणुपीयो देने सूत्र बांच्या।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

शुद्ध आचार और शुद्ध विचार का वातावरण फिर से फैल सके। अवश्य ही कोई न कोई ऐसा उपाय खोज लिया जायेगा जो लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक होगा और गति में तीव्रता लायेगा। आप सब लोगों को तब तक के लिए धैर्यपूर्वक कुछ और प्रतीक्षा करनी चाहिए।'

स्वामीजी की उस खरी बात को सुनकर श्रावक बड़े ही प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'हमें आप से जैसी आशा थी, वैसा ही काम आपने कर दिखाया।'

संघ-कल्याण की दृष्टि

स्वामीजी ने सत्य-मार्ग को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की थी, उसका तात्पर्य यह नहीं था कि वे स्वयं आचार्य बनना चाहते थे, या अपना पृथक् पंथ चलाना चाहते थे। उनके सामने तो केवल सत्य का ही प्रश्न था। वे आत्म-कल्याण के पथ पर शिष्यत्व या गुरुत्व में कोई भेद नहीं मानते थे। किसी भी प्रकार से सत्य का पालन हो, आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो, यही उनका प्रमुख लक्ष्य था।

स्वामीजी अपना अकेले का ही नहीं, अपितु सारे संघ का कल्याण चाहते थे। इसीलिए गुरु को गलत समझ लेने पर भी उन्होंने उनसे सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया, प्रत्युत उनके दृष्टिकोण को बदलकर सारे संघ को शुद्ध मार्ग पर प्रवृत्त करने का ही निश्चय किया। आचार्य के न मानने पर जो-कुछ करने का था, उसका निर्णय भी वे कर चुके थे, परन्तु उस निश्चय को काम में न लेना पड़े, इसीलिए पहले गुरु को सोचने तथा समझने का काफी अवसर दे देना चाहते थे। इतने पर भी यदि गुरु और सत्य, इन दोनों में से केवल एक को ही चुनना पड़े, तो वे सत्य को चुनने का निश्चय कर चुके थे।

आचार्य की ओर

चतुर्मास समाप्त होने पर स्वामीजी ने राजनगर से मारवाड़ की ओर विहार किया, क्योंकि आचार्य रुघनाथजी उस समय मारवाड़ में ही थे। स्वामीजी के मार्ग में छोटे-छोटे ग्राम पड़ते थे, अतः उन्होंने सुविधा की दृष्टि से साधुओं के दो दल कर दिये। दूसरे दल में वीरभाणजी आदि दो साधु थे। उनको अच्छी तरह से समझाते हुए स्वामीजी ने कहा—'यदि तुम आचार्यश्री के पास पहले पहुंच जाओ, तो वहां इस विषय की चर्चा मत करना, क्योंकि अधूरी बातों को सुनकर यदि पहले से ही उनके मन में कोई आग्रह बद्ध-मूल हो गया तो फिर समझाने में कठिनाई होगी। वे अपने गुरु हैं, अतः अवसर देखकर विनयपूर्वक ही सब बातें उनके सामने रखनी होंगी। मैं स्वयं पहुंच कर सारी स्थिति उन्हें बतलाऊंगा और सत्य मार्ग को स्वीकार करने की प्रार्थना करूंगा।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

साथी की भूल

आचार्य रुघनाथजी उस समय सोजत में थे। संयोगवश वहां मुनि वीरभाणजी ही पहले पहुंचे। वन्दन और सुख-प्रश्न आदि के पश्चात् आचार्यश्री ने उनसे पूछा—'श्रावकों की शंकाएं दूर हुईं या नहीं?'

मुनि वीरभाणजी ने कहा—'श्रावकों के शंकाएं थीं ही कहां, जो दूर होतीं? उन्होंने तो सिद्धान्तों का सच्चा भेद पा लिया है। वे लोग जो बातें कहते हैं, वे शंकाएं नहीं, सत्य हैं। उनको सम्भालने के स्थान पर स्वयं हमें ही सम्भलना चाहिए। हम लोग दोषी हो गये हैं। उद्दिष्ट स्थान में रहना, अशुद्ध आहार ग्रहण करना, नित्य-पिण्ड लेना, मर्यादातिरिक्त वस्त्र-पात्र रखना और बिना आज्ञा दीक्षा देना आदि अनेक दोषों का हम सेवन करने लगे हैं। इतना ही नहीं, हम उन्हें उचित ठहराने का प्रयास करते हैं। श्रावक यदि ये दोष हम लोगों में बतलाते हैं तो वे सत्य ही कहते हैं। उनकी शंकाएं मिथ्या नहीं हैं।'

आचार्य रुघनाथजी ने जब ये बातें सुनीं तो स्तम्भित हो गये। उन्होंने वीरभाणजी को टोकते हुए कहा—'तुम इस तरह कैसे बोल रहे हो?'

मुनि वीरभाणजी ने जोर देते हुए कहा—'मैं सत्य ही कह रहा हूं। साधु-संघ में दोष-सेवन होता है, यह निश्चित है। परन्तु मेरे पास तो सुनाने के लिए केवल नमूना मात्र ही है, पूरी बात तो भीखणजी के आने से ज्ञात होगी।'

इस प्रकार मुनि वीरभाणजी ने अधैर्यवश सारी बातें पहले ही कह डालीं। स्वामीजी द्वारा सावधान कर देने पर भी वे बात को पचा नहीं सके। कौनसी बात कब और कैसे कहनी चाहिए, इसका उन्होंने कोई विचार नहीं किया।

आचार्य रुघनाथजी उनकी बातों से बहुत उदास हुए। वे बड़ी व्याकुलता के साथ स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगे। उनके पहुंचने से पूर्व ही वहां के वातावरण में एक अज्ञात कटुता घुलने लगी। साथी द्वारा अपने उतावलेपन से की गई थोड़ी-सी भूल ने कार्य की सफलता को काफी दूर ढकेल दिया और उनके मार्ग को भी कण्टकाकीर्ण बना दिया।

गुरु का रुख

स्वामीजी कुछ दिनों पश्चात् सोजत पहुंचे।[1] गुरु-चरणों में भक्तिपूर्वक वंदन

---

१. पुर से प्राप्त पत्रों के अनुसार स्वामीजी ने राजनगर से अमर रायपुर की ओर विहार किया। वहां बाईस दिन ठहरे, केसरजी डांगी तथा साध्वी बखतूजी से धर्म-चर्चा की। उन दोनों के वह श्रद्धा जम गई तब वहां से विहार करते हुए वे आचार्य रुघनाथजी से मिले।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

क्रिया। आचार्य रुघनाथजी ने न उनका वन्दन स्वीकार किया और न उनसे रुख ही जोड़ा। चतुर स्वामीजी ने तत्काल भांप लिया कि मुनि वीरभाणजी ने पहले ही सारी बात कहकर अवसर बिगाड़ दिया है। वे बिगड़ी बात को भी सुधारना जानते थे, अतः नम्रतापूर्वक बोले— 'गुरुदेव! आपका चित्त उदास क्यों है? आपने न मेरे वन्दन को स्वीकार किया और न मेरे सिर पर अपना वात्सल्यपूर्ण हाथ ही रखा।'

आचार्य रुघनाथजी ने कहा—'तुम्हारे मन में शंकाएं उत्पन्न हो गई हैं, इसलिए तुम्हारा और हमारा मन अब मिल नहीं सकता। आज से तुम्हारे साथ हमारा साम्भोगिक सम्बन्ध भी नहीं रहेगा।'

स्वामीजी ने सोचा—'इनमें तथा हममें न सम्यक्त्व है और न साधुत्व, तब साम्भोगिक रहने या न रहने में कोई अन्तर नहीं पड़ता, फिर इस समय यह विवाद अनावश्यक होगा। अभी तो यही उचित है कि यदि इनके मन में यह आशंका हो कि शिष्य रूप में रहना मुझे स्वीकार नहीं है अथवा मैं स्वयं इनसे पृथक् होना चाहता हूं, तो इस आशंका को दूर कर इनके हृदय में विश्वास पैदा करूं कि मेरे मन में ऐसा कोई भी विचार नहीं है। समस्त साधु-संघ को सुधारना है तो पहले गुरु से सम्पर्क रखना और उन्हें सारी बातों से अवगत कराना आवश्यक है। यह सब विश्वास के बिना नहीं हो सकता। अविश्वास जहां कार्य को नष्ट करता है, वहां विश्वास नष्ट हुए कार्य को भी पुनः सुधार देता है।'

स्वामीजी ने तब गुरु को विश्वस्त करने के लिए कहा—'यदि मेरे मन में व्यर्थ की शंकाएं उत्पन्न हो गई हैं, तो आप उनको दूर कीजिये और मुझे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध करके सहभोजी कीजिये।' इस प्रकार आचार्य की व्यर्थ की आशंकाओं को दूर कर वे साम्भोगिक बने और वार्तालाप करने का अवसर प्राप्त किया।

नम्र निवेदन

स्वामीजी ने कुछ समय पश्चात् अवसर देखकर आचार्य रुघनाथजी के साथ तत्त्व-मीमांसा करने का उपक्रम किया। उन्होंने नम्रतापूर्वक यथावसर एक के पश्चात् एक आचार-विचार सम्बन्धी सारी बातें आगम-न्याय सहित सामने रखीं। उनके कथन का सार था—'हम लोगों ने आत्म-कल्याण के लिए घर छोड़ा है, इसीलिए किसी प्रकार का आग्रह न रखकर आगम-वाणी के अनुसार ही अपनी मान्यताएं रखनी चाहिएं। जो मान्यताएं मिथ्या हैं, आगमों की कसौटी पर ठीक नहीं उतरतीं, उन्हें तत्काल छोड़ देना चाहिए। पूजा-प्रशंसा तो इस जीव को बहुत बार मिल चुकी है, परन्तु शुद्ध श्रद्धा का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है, अतः दूसरी बातों को गौण समझकर पहले इसी का निर्णय करें। यदि आप आगम-कथित शुद्ध दर्शन और चारित्र का पुनरुद्धार करेंगे, तो आप मेरे

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

पूज्य गुरु[1] होने के साथ-साथ संसार के लिए भी एक महान् प्रकाश-स्तम्भ होंगे। ऐसा किये बिना हम सबके लिए गृह-त्याग करने का अर्थ ही क्या रह जायेगा? अपने संघ की स्थिति को देखकर यह कहा जा सकता है कि यहां आगम-विरुद्ध आचार की परिपाटी चल रही है। श्रद्धा भी आगमानुमोदित नहीं है। खाने-पीने की अच्छी से अच्छी वस्तु में भी यदि उसके विपरीत स्वभाव वाली किसी वस्तु का मिश्रण हो जाता है तो वह बिगड़ जाती है, तब धर्म में अधर्म का तथा पुण्य में पाप का मिश्रण कैसे उपयुक्त हो सकता है? अपने संघ में एक ही क्रिया से दोनों, कुछ पुण्य और कुछ पाप का होना मान्य है, परन्तु वह विचारणीय है। आगम-दृष्टि है कि अशुभ योगों की प्रवृत्ति से पाप और शुभ योगों की प्रवृत्ति से पुण्य का बन्ध होता है। एक साथ दो योगों की प्रवृत्ति नहीं की जा सकती, जिससे पुण्य और पाप दोनों का बन्ध हो सके। शुभ और अशुभ योगों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व के अतिरिक्त कोई ऐसा तीसरा प्रकार नहीं है, जिसमें उन दोनों का मिश्रण हो सके। इस आगमिक दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है कि एक क्रिया से एक ही बन्ध, पुण्य का या पाप का होता है। न तो मिश्र क्रिया होती है और न मिश्र बन्ध, अतः आपसे मेरा नम्र निवेदन है कि जिन-आज्ञा पर पूरा ध्यान देकर इन बातों को सोचिये। जिन-आज्ञा से बाहर कोई धर्म नहीं है। हम उसे आराध कर ही संयम-जीवन की आराधना कर सकते हैं।'

कोई प्रभाव नहीं

आचार्य रुघनाथजी पर स्वामीजी की उन बातों का कोई अनुकूल प्रभाव नहीं हुआ। वे और अधिक क्रुद्ध हो उठे। चिर-परिचित और चिर-पालित धारणाओं का मोह कसौटी के लिए तैयार ही कब होता है? फिर भी कोई बलात् उसकी कसौटी करना चाहे, तो वह उसके लिए कैसे सह्य हो सकता है?

स्वामीजी सदा से आशावादी थे। निराशा उनके पास चाहे कभी आई हो, पर वह टिक कभी नहीं पाई। उन्होंने सोचा—'गुरु का रुख इस समय काफी कठोर बना

१. (क) स्थानकवासी मुनि कनीरामजी विरचित 'सिद्धान्तसार' के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया गया है--'मठपति पणुं छोड़ी फरी थी दीक्षा ग्रहण करो तो तमें अमारा गुरु, अने अमे तमारा शिष्य, नहीं तो हवे अमे अमारुं धार्युं काम करवाना छीए।'

(ख) जयाचार्य ने स्वामीजी की एतत् सम्बन्धी भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया है :

'जो थे मानो हो सूतर नी बात, तो थेहिज म्हारा नाथ,
नहिंतर ठीक लागै नहीं।।
म्हे घर छोड्यो हो आतम तारण काम, और नहीं परिणाम,
तिण स्यूं बार-बार कहूं आपनै।' --भि.ज.र. ४।१०,११

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

हुआ है। मताग्रह के कारण उसमें कड़वाहट भी आ गई है। इसलिए सत्य-सूर्य को देखने हेतु जिस दोषमुक्त दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह इस समय यहां नहीं है। सत्य को सीधा स्वीकार कर लेना अत्यन्त उच्च-कोटि की अध्यात्म-साधना की अपेक्षा रखता है। ऐसा भी सम्भव है, यह मत-पक्ष का सामयिक आवेश ही हो? समय पाकर जब वह आवेश का अंधड़ दूर हो जायेगा, तब कुछ सोचने का अवसर अवश्य मिलेगा। उस समय स्वतः ही सत्य का प्रकाश अप्रत्याहत गति से आत्मा में फैल जायेगा। ऐसे समय में सारी परिस्थिति नम्रतापूर्वक उनके सामने रखूंगा तो अवश्य ही यह समस्या बहुत सरलता से सुलझ सकेगी। उतावल करने से काम नहीं होगा। आग्रह अपना स्थान छोड़ने में कुछ समय मांगता ही है। मुझे तब तक बहुत धैर्य से काम लेना चाहिए।'

अवसर की प्रतीक्षा

स्वामीजी अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। जब-जब ऐसा अवसर मिला, उन्होंने अपने विचार विनयपूर्वक किन्तु दृढ़ता के साथ सामने रखे और उन पर चर्चा की। इस प्रकार काफी समय बीत गया। आगामी चतुर्मास के दिन समीप आने लगे।

एक दिन स्वामीजी ने निवेदन किया—'इस बार का चतुर्मास साथ-साथ किया जाये तो अच्छा रहेगा। उससे चर्चनीय विषयों पर विचार करने तथा सत्यासत्य परखने का परिपूर्ण अवसर मिल जायेगा।'

आचार्य रुघनाथजी ऐसा करने को सहमत नहीं हुए। उन्हें भय था कि कहीं शिष्यों पर इसकी बात का प्रभाव न हो जाये। उन्होंने कहा—'ऐसा करने पर तुम मेरे अन्य शिष्यों को भी अपने पक्ष में लेने का प्रयास कर सकते हो, अतः मैं साथ में चतुर्मास करने की मूर्खता कभी नहीं कर सकता।'

स्वामीजी ने उस भय को दूर करने के लिए सुझाव देते हुए कहा—'यदि आपको ऐसा भय है, तो अपने ऐसे शिष्यों को ही साथ में रखिये, जो हमारी चर्चा के विषय में कुछ विशेष न समझ सकें। इसके अतिरिक्त आपको उचित लगे वैसा कोई अन्य उपाय भी काम में लिया जा सकता है, परन्तु इस अवसर का हमें अवश्य ही समुचित लाभ उठाना चाहिए। यदि इस समय आप जैसे समर्थ आचार्य शासन का कुछ सुधार कर सकें, तो सहज ही शुद्ध आचार का निर्माण होकर साधु-संघ सारे विश्व के लिए उपयोगी बन जायेगा, अन्यथा आचार-शैथिल्य के कारण वह एक भार बन जायेगा।'

आचार्य रुघनाथजी ने इतने पर भी स्वामीजी की बात को नहीं माना और साथ-साथ चतुर्मास करने के लिए सहमत नहीं हुए। स्वामीजी को इससे निराशा तो

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

अवश्य हुई, परन्तु उन्होंने उसे इस भावना से निरस्त कर दिया कि आखिर प्राचीन संस्कारों को छोड़ने में कुछ समय तो लगता ही है। उन्होंने तब चतुर्मास के पश्चात् एक बार फिर प्रयत्न करने का निर्णय किया और उपयुक्त अवसर की प्राप्ति तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने के मार्ग को ही अपनाया।

जोधपुर चतुर्मास

आचार्य रुघनाथजी के पास से विहार करके स्वामीजी चतुर्मास करने के लिए जोधपुर पधार गये। वहां उस वर्ष स्थानकवासी सम्प्रदाय के एक बड़े टोले के अधिनायक आचार्य जयमलजी का चतुर्मास था। वे आचार्य रुघनाथजी के गुरुभाई थे, अतः स्वामीजी के चाचा गुरु थे। स्वामीजी ने वह चतुर्मास उनके साथ ही किया।[1] स्वामीजी का चिन्तन था कि मेरे गुरु आचार्य रुघनाथजी इतना प्रयास करने के पश्चात् भी आचार-शुद्धि के लिए कुछ करने को उद्यत नहीं हो रहे हैं तो ऐसी स्थिति में क्यों न आचार्य जयमलजी को इस कार्य के लिए उद्यत किया जाए? यदि इस कार्य में सफलता मिल गई तो लक्ष्य को बहुत सहजता से प्राप्त किया जा सकता है।

आचार्य जयमलजी से विमर्शन

आचार्य जयमलजी शास्त्र-मर्मज्ञ होने के साथ ही प्रकृति से बहुत मिलनसार एवं भद्र-परिणामी थे। स्वामीजी ने उनसे आचार-उत्क्रांति की जो आशा की, वह कोई असंभव या असंगत बात नहीं थी, क्योंकि उनमें किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं था।

स्वामीजी ने चतुर्मास के उस लम्बे समय का पूरा-पूरा उपयोग किया। आचार्य जयमलजी के साथ यथासमय उन्होंने अनेक बार विचारों का आदान-प्रदान किया। अत्यन्त सौहार्दपूर्ण वातावरण में दोनों मनीषियों ने आचार-विचार तथा संघ-कल्याण आदि विषयों पर गंभीर विचार-विमर्श किया। संघ की तात्कालिक मान्यताओं तथा कार्य-प्रणालियों में शास्त्रीय विधान की दृष्टि से जो

---

१. (क) कई प्राचीन पर्चियों में स्वामीजी का सं. १८१६ का चतुर्मास नागौर का लिखा मिलता है, परन्तु जयाचार्य की एक कृति 'दृष्टान्त' (दृ. १३) में लिखा है—'स्वामीजी नवो साधपणो लेवा त्यार थया जद जोधपुर जैमलजी भेलो चोमासो कीधो।' यह चतुर्मास सं. १८१६ का ही हो सकता है, क्योंकि सं. १८१५ के राजनगर चतुर्मास और सं. १८१७ के केलवा चतुर्मास के मध्य यही एक चतुर्मास पड़ता है। तेरापंथ-इतिहास से संबद्ध अन्य किसी प्राचीन ग्रंथ में उक्त वर्ष के चतुर्मास-स्थल का कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

(ख) जयध्वज (आचार्य जयमलजी की जीवनी), प्रकरण ५६ के अनुसार भी आचार्य जयमलजी तथा स्वामी भीखणजी ने सं. १८१६ का चतुर्मास जोधपुर में साथ-साथ किया था।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

विरोध आ गया था, उसकी मीमांसा करते हुए उन्होंने सुधार की दिशा में करणीय उपक्रमों तथा उनमें आकांक्षित सक्रिय सहयोग के विषय में भी विमर्शन किया।

पूर्ण सहयोग का निर्णय

आचार्य जयमलजी स्वामीजी के उद्देश्य से बहुत प्रभावित हुए। सैद्धान्तिक आधार पर किये गये पारस्परिक विमर्शन से दोनों में विचारों का भी पूरा-पूरा सामंजस्य स्थापित हो गया। उन्होंने तब आचार-विचार संबंधी शुद्धिकरण के शुभ कार्य में अपना पूर्ण सहयोग देने का निर्णय व्यक्त किया। आचार्य जयमलजी के संप्रदाय के मुनि थिरपालजी तथा मुनि फतेचन्दजी आदि अनेक साधुओं ने भी स्वामीजी के विचारों को समझा। वे सब उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् हो गये। स्वामीजी वहां के सहयोग तथा सद्भाव से बहुत संतुष्ट हुए।

परिणाम-भंग

आचार्य रुघनाथजी को जब पता चला कि आचार्य जयमलजी के भीखणजी की श्रद्धा बैठ गई है और वे उनका साथ देने को तैयार हैं, तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उनके विचारों को परिवर्तित करने के लिए उन पर नाना स्थानों से दबाव डाले जाने लगे। स्वयं आचार्य रुघनाथजी ने भी अपने प्रभाव का उपयोग करते हुए उन्हें उस कार्य से पृथक् होने के लिए बाध्य किया। उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाला एक पत्र सोजत के भाइयों द्वारा जोधपुर में आचार्य जयमलजी के पास भेजा गया। उसका आशय था—'यदि आप भीखणजी के साथ मिल जायेंगे, तो नाम आपका न होकर भीखणजी का ही होगा। अभी आपको फुसलाने के लिए चाहे कुछ भी कहा जाये, परन्तु निश्चित है कि टोला—सम्प्रदाय भीखणजी के ही नाम से चलेगा। आपके साथ निश्चित ही फकीर के दुपट्टे वाली कहानी घटित होगी। राजा ने किसी फकीर को एक बढ़िया दुपट्टा भेंट किया। सेठ ने उसे अपने पुत्र के विवाह पर मांगा। फकीर ने बरात में ले चलने की शर्त पर वह दे दिया। बरात गांव के समीप पहुंची, तब दर्शकों ने वर के रंग, रूप तथा वस्त्राभूषणों की प्रशंसा की, परन्तु सर्वाधिक प्रशंसा दुपट्टे की की। फकीर ने कहा—'दुपट्टा तो मेरा है। राजा ने मुझे भेंट किया था।' सेठ ने उसे चुप रहने को कहा। बारात गांव में पहुंची। वहां भी लोग दुपट्टे को देखकर वाह-वाह करने लगे। फकीर फिर बोल उठा—'दुपट्टा तो मेरा है।' सेठ ने उसे फिर टोकते हुए कहा—'साईंजी! चुप रहिए।' बारात तोरण पर पहुंची, वहां भी दुपट्टे की प्रशंसा हुई तो फकीर ने उसे अपना बतलाया। सेठ ने तब दुपट्टा लौटाते हुए उसे वहां से चलता कर दिया। ठीक इसी प्रकार की घटना कालान्तर में आपके साथ भी घटित होने वाली है। साधु-साध्वियां आपके होंगे, किन्तु आपको उन्हें अपना कहने का कोई अधिकार नहीं होगा। यदि आप कभी

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

भूल से भी उन पर अपना अधिकार व्यक्त कर देंगे तो आपको तत्काल टोका जाएगा। इतने पर भी चुप नहीं रह सकेंगे तो निश्चित ही आपको वहां से विदा कर दिया जाएगा। फकीर को तो दुपट्टा वापस मिल गया था, परन्तु भीखणजी आपको एक भी साधु वापस देने वाले नहीं होंगे। नया संगठन खड़ा करने का श्रेय वे अकेले लेंगे। सबके मुख पर उन्हीं का नाम होगा। सर्वत्र उन्हीं की प्रशंसा के गीत गाये जायेंगे। आपको कोई पूछेगा तक नहीं।

'एक अन्य बात के लिए भी आपको सावधान कर देना उचित होगा कि यदि आप भीखणजी का सहयोग करेंगे, तो वे आपके विद्वान् साधु-साध्वियों को तो छांट कर ले लेंगे, किन्तु अवशिष्ट सबको 'ढीले' कहकर अवश्य ही पृथक् रखना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में वे सारे निराधार हो जायेंगे। उनके पारिवारिक गृहस्थ उनकी दुविधाओं से दुःखी होकर आपको ही कोसेंगे। अपने इतने बड़े टोले की सुव्यवस्था छिन्न-भिन्न कर किसी बहाव में बह जाना आप जैसे सुविज्ञ संघ-नायक के लिए शोभास्पद नहीं है।'

पत्र को पढ़कर आचार्य जयमलजी के परिणाम भंग हो गये। उन्होंने स्वामीजी के साथ मिलकर आचार-शुद्धि के लिए जो निर्णय किया था, उसे बदल दिया। अपनी उस विवशता को व्यक्त करते हुए उन्होंने स्वामीजी से कहा—'भीखणजी! मैं तो गले तक इसी वातावरण में डूब चुका हूं। मेरा इससे बाहर निकल पाना सहज नहीं है। तुम पंडित हो, मेरी स्थिति को अच्छी तरह समझ सकते हो। तुम शुद्ध साधुचर्या का मार्ग स्वीकार करो। मेरे लिए तो यह लाभ प्राप्त करना अशक्य ही है।'[1]

नव-निर्माण की भूमिका

स्वामीजी को आचार्य जयमलजी के उत्तर से स्पष्ट भासित हो गया कि आचार्य पद पर आसीन किसी भी व्यक्ति से क्रियोद्धार की आशा करना व्यर्थ है।

---

१. दृष्टान्त, दृ. १३ के अनुसार उक्त घटना संवत् १८१६ के जोधपुर-चतुर्मास की है, अतः स्वामीजी के स्थानकवासी श्रमण-संघ में रहते समय की है। परन्तु भिक्खु जस-रसायन (६।दोहा १ से ९) में उक्त विवरण वहां दिया है जहां स्वामीजी संघ-मुक्त होकर बरलू के आगे आचार्य जयमलजी से मिले। उक्त दोनों ही कृतियां जयाचार्य की हैं। 'दृष्टांत' संवत् १९०३ की तथा भिक्खु जस-रसायन सं. १९०८ की है। द्वितीय कृति के समय अवश्य ही प्रथम कृति सामने रही होगी, परन्तु एक व्यक्ति से संबंधित विवरण को टुकड़ों-टुकड़ों में न देकर एक साथ देने की दृष्टि से ही संभवतः ऐसा किया गया है। जयाचार्य की ही एक अन्य कृति 'उपदेश रत्न कथा कोश' (प्रकरण ७, कथा ५) में लिखा है—'भीखणजी! थे निकलो, म्हां सूं तो निकलणी आवै नहीं।' यहां 'थे निकलो' शब्दावलि स्पष्ट सिद्ध करती है कि उक्त घटना स्थानकवासी श्रमण-संघ में रहते समय की है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वह बाह्य वातावरण के दबाव से इतना घिरा होता है कि अपनी स्थिति से तिलभर भी इधर-उधर होने का विचार स्वयं उसे या उसके पद को खतरा पैदा कर देता है। पद को छोटे-बड़े किसी भी परिवर्तन से बड़ी घबराहट रहती है। इसीलिए पदासीन व्यक्ति की मनोवृत्ति क्रांति के लिए कभी उपयोगी नहीं हो सकती। पद और प्रतिष्ठा का प्रलोभन त्याग कर जो स्वतंत्र चिन्तन के आधार पर कार्य करने की क्षमता रखता है, वही क्रान्ति कर सकता है।

स्वामीजी को लगा कि अब जो-कुछ करना है, वह सब स्वयं के बलबूते पर ही करना है। दूसरों की प्रतीक्षा में और अधिक समय व्यतीत करना उचित नहीं। किसी पूर्व-गठित संघ का आचार-विचार के आधार पर उद्धार करने का लक्ष्य उनके अंतरंग से हटा नहीं तो धूमिल अवश्य हो गया। क्योंकि उसके लिए अनेक बार प्रयास करने पर भी उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। आगे के लिए कोई सम्भावना भी दृष्टिगत नहीं हुई। उनके सम्मुख तब आमूलचूल नव-निर्माण का ही मार्ग शेष रहा। उन्होंने उसके लिए भूमिका निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। इतना होने पर भी आचार्य रुघनाथजी से एक बार पुनः मिलकर अंतिम रूप से निर्णय कर लेने का उन्होंने निश्चय किया।

अभिनिष्क्रमण

चतुर्मास समाप्त होने पर स्वामीजी ने जोधपुर से विहार किया और क्रमशः विहरण करते हुए बगड़ी में आकर आचार्य रुघनाथजी के दर्शन किये। उचित अवसर देखकर नम्रता-पूर्वक उन्होंने सत्य-शोध के लिए सानुरोध निवेदन करते हुए कहा—'स्वामिन्! भगवान् महावीर के वचनों पर विचार करें। संघ में शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध आचार की पुनः प्रतिष्ठा करें। आत्म-कल्याण के लिए इस कार्य की अनिवार्य आवश्यकता है।' इस प्रकार विविध रूप से समझाने का प्रयास किया, परन्तु उनकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। वि. सं. १८१५ के राजनगर-चतुर्मास की समाप्ति से लेकर वि. सं. १८१७ के चैत्र शुक्ला नवमी तक प्रायः एक वर्ष और पौने पांच महीने व्यतीत हो गये।[1] उस अवधि में गुरु-शिष्य में परस्पर

---

१. ख्यात (पत्र १) में लिखा है--'इम खप करता बरस दो जाझा भेला रह्या।' ख्यात का ही प्रमुख आधार लेकर लिखे गये 'शासन-प्रभाकर' में यति हुलासजी ने भी यही कहा है--

'इम समझावण माटै खप करी, दोय बरस जाझा भेला रही सार।' (२/५७)

उक्त दोनों ही ग्रंथों में उपर्युक्त कालावधि दो वर्ष से भी कुछ अधिक बतलाई है; किन्तु यह संगत नहीं है; क्योंकि राजनगर और केलवा के चतुर्मासों के सम्वत् क्रमशः १८१५ और १८१७ सुनिर्णीत हैं, तब उनके मध्यवर्ती काल में होने वाले अभिनिष्क्रमण तक का समय साधिक दो वर्ष हो ही नहीं सकता।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

अनेक बार विचार-विमर्श हुआ, उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में चर्चाएं भी हुईं, पर सुधार की ओर एक चरण भी आगे बढ़ने का कोई आसार दृष्टिगत नहीं हुआ। स्वामीजी ने तब स्पष्ट रूप से समझ लिया कि धार्मिक उत्क्रान्ति के लिए यहां से किसी प्रकार की आशा करना व्यर्थ है।

स्वामीजी ने तब अपने चिन्तन-प्रवाह को दूसरी ओर मोड़ दिया। उन्होंने सोचा—'आत्म-कल्याण के जिस महान् उद्देश्य से घर-बार छोड़कर मैं यहां दीक्षित हुआ, उसकी कुछ भी पूर्ति नहीं हो पा रही है। इस स्थिति में संघ के व्यामोह में फंसकर निरुद्देश्य यहां बैठे रहना मेरे लिए शोभास्पद नहीं हो सकता। मुझे आत्म-कल्याण को ही प्राथमिकता देनी चाहिए। उसके बिना प्रत्येक साधना केवल विराधना या विडम्बना बनकर रह जाती है।' उक्त चिंतन-क्रम में उन्होंने संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर अभिनिष्क्रमण का निश्चय कर लिया।

उन्होंने उपयुक्त समय का निर्धारण किया और तदनुसार वि. सं. १८१७ चैत्र शुक्ला नवमी को आचार्य रुघनाथजी से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उनके साथ टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी; इन चार सन्तों ने भी उस मार्ग का अनुसरण किया। ये चारों वे ही संत थे, जो राजनगर चतुर्मास में भी स्वामीजी के साथ थे। तत्काल पांचों साधु 'स्थानक' को छोड़कर बाहर आ गये। 'रामनवमी' नाम से समग्र भारत में प्रख्यात वह पर्व-दिन स्वामी भीखणजी के लिए आत्म-विजय के पथ पर अभिनिष्क्रमण का पुनीत दिन बन गया।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

: ३ :

नवजीवन की ओर

दृढ़ता के साथ

स्वामीजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय से पृथक् होकर शुद्ध साधुता के नवजीवन की ओर अपने चरण बढ़ाये। शुद्ध संयम के लिए जैनागमों में जिस आचार-विचार का प्रतिपादन किया गया है, उसे वे अपने जीवन में उतार कर प्रत्यक्ष कर देना चाहते थे। उस समय के अधिकांश व्यक्तियों में जब यह भावना घर कर चुकी थी कि इस युग में शुद्ध साधुता का पालन असम्भव है, तब स्वामीजी ने उसके विरुद्ध यह सिद्ध कर दिखाने का निर्णय किया कि असम्भव कुछ भी नहीं है, केवल दृढ़ आत्मबल की ही आवश्यकता है। वे उसी प्रकार के सुदृढ़ आत्म-बल को लेकर आगे बढ़े। वे जानते थे कि नवजीवन के इस मार्ग में अनेक बाधाएं आयेंगी। पहले-पहल तो सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति भी विरल ही मिलेंगे। सहयोग के नाम पर केवल अपना आत्म-विश्वास ही होगा। दूसरे तो प्रायः असहयोगी ही नहीं, बल्कि विरोधी होंगे। इतना सब-कुछ सोच-समझ लेने के पश्चात् ही उन्होंने पूर्ण दृढ़ता के साथ उस मार्ग पर आगे बढ़ने का निश्चय किया था।

संघ की 'आण'

आचार्य रुघनाथजी उस समय स्थानकवासी सम्प्रदाय के एक बड़े 'टोले'—सम्प्रदाय के आचार्य थे। स्वामीजी ने उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद किया, तो उन्होंने उनके विरुद्ध नाना विरोध और बहिष्कारों के रूप में विपत्तियों के पहाड़ खड़े कर दिये। फिर से स्थानक में आने को बाध्य करने के लिए योजना बनी। संघ ने सेवक के द्वारा सारे नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया कि कोई भी व्यक्ति भीखणजी को ठहरने के लिए स्थान न दे। यह संघ की 'आण' है। यदि कोई स्थान देगा, तो संघ उसे आज्ञा-भंग का दोषी मानेगा और दण्डित करेगा।

स्वामीजी उस विरोध से विचलित होने वाले नहीं थे। वे अपने विचारों के पक्के थे। आने वाले किसी भी तूफान का सामना कर सकने का उनमें भरपूर

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आत्मबल था। उन्होंने नगर में रहने योग्य स्थान की काफी गवेषणा की, परन्तु संघ की 'आण' के भय से कोई भी व्यक्ति स्थान देने को तैयार नहीं हुआ। उन लोगों की यह एक चाल थी कि सारे नगर में जब कोई स्थान नहीं मिलेगा, तब अन्त में हारकर स्वयं ही इन्हें स्थानक में आना पड़ेगा। स्वामीजी उस चाल को अच्छी तरह से जानते थे, अतः उन्होंने सोचा—'स्थानाभाव से घबरा कर यदि मैं पुनः स्थानक में चला जाऊंगा, तो फिर से उसी छूटे हुए जाल में फंस जाऊंगा। दुबारा वहां से निकल पाना अत्यन्त कठिन हो जायेगा।' उन्होंने तब वहां से विहार कर अन्य ग्राम में चले जाने का निश्चय किया।

जैतसिंह की छत्री में

स्वामीजी विहार करके नगर से बाहर तक ही पहुंचे थे कि जोर से आंधी चलने लगी। तेज आंधी में विहार करना अकल्प्य है, इसलिए वे वहीं पार्श्व-स्थित श्मशान-भूमि में बनी जैतसिंहजी की छत्री में ठहर गए। यह उनका प्रथम निवास-स्थान था। जगत् जिसे अपनी मंजिल का अन्तिम स्थान समझता है, स्वामीजी ने उसे अपनी मंजिल का प्रथम स्थान बनाया। वह था भी ठीक। सामान्य जन जहां अपनी सीमा को समाप्त करते हैं, विशेष वहीं से अपनी सीमा का प्रारम्भ करते हैं। सामान्य और विशेष का अन्तर यहीं तो स्पष्ट होता है।

गुरु के मोहोद्गार

छत्री में ठहरने का संवाद जब आचार्य रुघनाथजी ने सुना, तो वे अनेक लोगों के साथ वहां आए[1] और स्वामीजी पर दबाव डालते हुए कहने लगे—'तुम्हें समय देखकर चलना चाहिए। पंचमकाल में इतनी कठोर चर्या किसी प्रकार से निभ नहीं सकती, अतः निरर्थक हठ को छोड़कर मेरे साथ फिर से स्थानक में चले आओ।'

स्वामीजी ने कहा—'समय के बहाने से शिथिलाचार को प्रश्रय देना उचित नहीं हो सकता। पंचमकाल में भी साधु-चर्या के कठोर नियम उसी प्रकार निभाए जा सकते हैं जिस प्रकार पहले निभाए जाते थे। इसी विश्वास के आधार पर हम लोग जिन-आज्ञा के अनुसार शुद्ध संयम पालना चाहते हैं। आपसे भी इसीलिए निवेदन किया था कि यदि आप क्रियोद्धार के लिए उद्यत हों, तो अब भी पूर्ववत् आप हमारे गुरु हैं और हम आपके शिष्य। इससे न्यून अन्य कोई बात स्वीकार्य नहीं हो सकती।'

---

१. स्थानकवासी मुनि कनीरामजी रचित 'सिद्धान्तसार' की प्रस्तावना में आचार्य रुघनाथजी के छत्री में आगमन को इन शब्दों में व्यक्त किया है—'करुणाशील परम प्रीतीय भाव धारण करता थका तेमने समजाववा खातर सामने पधार्या।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी के दृढ़ रुख से आचार्य रुघनाथजी को बड़ी निराशा हुई। संघ का गौरव बढ़ाने योग्य तथा असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न अपने प्रिय शिष्य के उस निष्क्रमण ने उनके हृदय और आंखों को द्रवीभूत कर दिया। उनके साथ सामजी ऋषि के शिष्य उदयभानजी नामक साधु भी आये हुए थे। वे उनके पास ही खड़े थे। उन्होंने कहा—'आप एक टोले के नायक हैं, अश्रुपात करने की यह दुर्बलता आपको शोभा नहीं देती।'

आचार्य रुघनाथजी ने कहा—'किसी का एक जाता है तो उसे भी चिन्ता होती है, यहां तो भला एक साथ पांच जा रहे हैं।'[1]

गुरु के उस मोह और अश्रुपात को देखकर भी स्वामीजी विचलित नहीं हुए। उन्होंने सोचा—'जिस दिन मैंने घर छोड़ा था, उस दिन मेरी माता ने भी स्नेहवश आंसू बहाये थे, परन्तु मैंने उनकी कोई परवाह न करके गृह-त्याग किया था, तो अब इन आंसुओं का मूल्य ही क्या हो सकता है? यदि मैं इस मोह के प्रवाह में बह जाऊं, तो आत्म-कल्याण के अपने लक्ष्य को किसी भी प्रकार पूरा नहीं कर सकता।' वे पूर्णरूपेण दृढ़-चित्त रहे और मोह का अपने पर कोई प्रभाव नहीं होने दिया।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

१. (क) स्थानकवासी मुनि कनीरामजी रचित 'सिद्धान्तसार' की प्रस्तावना के अनुसार आचार्य रुघनाथजी को यह चिन्ता तथा मोह उस समय हुआ था, जब स्वामीजी उनसे पृथक् होने लगे थे तथा अपने साथ जाने वालों के नामों से उनको अवगत किया था। उस स्थिति को वहां इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है--'तो सांभली श्री गुरु ईषत् धर्मानुराग-रूप सराग-वशे चिन्ता-ग्रसित थया।'

(ख) जयाचार्य ने भि.ज.र. ५।५ से ७ में इसे छत्री की ही घटना कहा है--उनके शब्द इस प्रकार हैं :

'ए वचन सुणी द्रव्य गुरु भणी, तूटी आश तिवार।
मोह आयो तिण अवसरे, चिन्ता हुई अपार।।
सामजी ऋषि नो साध थो, उदैभाण कहै एम।
टोला तणा धणी बाज नै, आंसूपच करो केम।।
किणरो एक जावै तरै, आवै फिकर अपार।
म्हार पांच जावै सही, गण में पड़ै बघार।।'

(ग) पुर-निवासी महात्मा सोहनलालजी से प्राप्त प्राचीन पत्रों (पत्र ५) के अनुसार भी उक्त घटना छत्री की ही है, परन्तु उसके अनुसार स्वामीजी अन्य किसी ग्राम से विहार कर बगड़ी आये थे। अंधड़ आ जाने के कारण वे छत्री में रुक गये। आचार्य रुघनाथजी भी उनके पीछे-पीछे ही विहार कर वहां पहुंचे थे। उक्त पत्र के अनुसार अश्रुपात के समय आचार्य रुघनाथजी को टोकने वाले साधु उदयभानजी आचार्य धर्मदासजी के टोले के थे। वे पहले से ही बगड़ी में आये हुए थे।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

एक धमकी

मोह मनुष्य को जितना द्रवित कर सकता है, उतना ही अधिक कठोर भी बना सकता है। स्वामीजी की दृढ़चित्तता से आचार्य रुघनाथजी के अभिमान को भारी धक्का लगा। वे कठोर हो गये और धमकी भरे शब्दों में कहने लगे—'अच्छा, तो अब तू भी देखना। आगे तू है और पीछे मैं। तेरे पीछे इतने लोगों को लगा दूंगा कि तू फिर याद करता रहेगा।'

स्वामीजी उसी शान्त भाव से बोले—'मैं अपने जीवन में सम्यक् चारित्र की साधना करने जा रहा हूं, अतः आप जो कह रहे हैं, वह तो स्वतः ही होने वाला है, फिर भी इस विशेष अवसर पर मैं आपके इन दोनों ही वाक्यों को अपने लिए आशीर्वाद ही मानता हूं। यदि आप इन वाक्यों में धमकी दे रहे हैं, तो भी मेरे लिए कोई चिन्ता की बात नहीं है, क्योंकि मैं तो परीषह सहन करने के लिए तुला हुआ ही हूं, तब फिर इस प्रकार की धमकियों से क्या डरूंगा? किन्तु आप स्वयं अपनी आत्मा के लिए सोच लीजियेगा और जैसा कल्याणकारी लगे, वैसा ही कीजियेगा।'

इस तरह के शान्त और सन्तुलित उत्तर से आचार्य रुघनाथजी हतप्रभ हो गये। आगे और कुछ कहने को न तो उनके पास कोई बात ही शेष रह गई थी और न साहस ही। जब वे अपनी नरम और गरम, दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों से स्वामीजी को वापस आने के लिए उद्यत नहीं कर सके, तो अनन्योपाय होकर नगर में चले गये।

स्वामीजी ने अपनी शान्त वृत्ति के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि सत्यनिष्ठ और दृढ़निश्चयी को न तो स्नेह, मोह या नरमी ही विचलित कर सकती है और न धमकियां, विरोध एवं गरमी ही, प्रत्युत वे तो उसके आत्मबल की वृद्धि ही किया करती हैं। कई बार तो उन सबके साथ किया गया संघर्ष ही उसके विकास और आत्मबल का मापदंड बन जाता है।

ऐतिहासिक स्थल

बगड़ी और जैतसिंहजी की छत्री—ये दोनों ही तेरापंथ के लिए ऐतिहासिक स्थल बन गये। पहला धर्मक्रांति के लिए स्वामीजी द्वारा किये गये अभिनिष्क्रमण के कारण, तो दूसरा प्रथम प्रवास-स्थल बनने के कारण।

बगड़ी में उक्त छत्री राव जैतसिंहजी की स्मृति में बनी हुई है। वे बगड़ी पर शासन करने वाले अपने वंश के प्रथम पुरुष थे। उनके पूर्व वहां सिंधलों का राज्य था। उस समय बगड़ी का नाम वैरागढ़ था। सं. १३०० के आस-पास राव वैरीसालजी सिंधल (राठौर) ने उसे अपने नाम पर बसाया और अपनी राजधानी बनाया था। सिंधलों ने प्रायः पौने तीन सौ वर्षों तक वहां राज्य किया।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

सोजत के राव पंचायणजी राठौर ने सिंधलों पर आक्रमण किया और उन्हें परास्त कर सं. १५७३ में वैरागढ़ पर अपना अधिकार कर लिया। युद्धकालीन मार-काट तथा लूट-पाट ने नगर को वीरान बना दिया। काफी लंबे समय तक वहां की व्यवस्था ऐसी बिगड़ी हुई रही कि लोगों ने उसका नाम ही बगड़ी कर दिया।

राव पंचायणजी के पुत्र जैतसिंहजी सं. १५७४ में बगड़ी के प्रथम शासक बने। उनके शासनकाल में पुनः लोगों में सुरक्षा की भावना पनपी, अतः बस्ती फिर से बढ़ गई। राव जैतसिंहजी सं. १६०० में एक युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुए। दसवीं पीढ़ी में उनके वंशज राव पहाड़सिंहजी हुए। उन्होंने अपने पूर्व-पुरुष जैतसिंहजी की स्मृति में बगड़ी के बाहर 'जैतल' तालाब और उसकी पाल पर उक्त छत्री का निर्माण करवाया।[1]

सं. १८१७ में रामनवमी के दिन स्वामी भीखणजी द्वारा किये गये अभिनिष्क्रमण ने बगड़ी को तथा स्वल्पकालीन प्रथम प्रवास ने उक्त छत्री को तेरापंथ के गरिमामय इतिहास से अवियोज्य रूप में संबद्ध कर दिया।

बगड़ी से विहार

स्वामीजी ने बगड़ी से विहार कर दिया। वे अपने अभिनिष्क्रमण सम्बन्धी सारे समाचारों से आचार्य जयमलजी को अवगत कराना चाहते थे। समान विचारवाले साधुओं से भी विचार-विमर्श करने का उनका ध्येय था। आचार्य जयमलजी उस समय जोधपुर से उत्तर-पूर्ववर्ती क्षेत्रों में विहार कर रहे थे। बरलू (जिसे अब 'भोपालगढ़' कहते हैं) या उसके आस-पास किसी क्षेत्र में उनके मिलने की संभावना थी। इसीलिए स्वामीजी ने उस ओर विहार किया। यद्यपि आचार्य जयमलजी ने धर्म-क्रांति में प्रत्यक्ष साथ दे पाने की अपनी असमर्थता जोधपुर-चतुर्मास में ही व्यक्त कर दी थी, फिर भी उनके मन में उक्त धर्म-क्रांति के प्रति जो सहानुभूति और सद्भावना थी, उसका आदर करना स्वामीजी अपना कर्तव्य समझते थे। साथ ही आचार्य जयमलजी के जिन शिष्यों ने साथ देने की तैयारी बतलाई थी, उन्हें लेने के लिए भी वहां जाना आवश्यक था।

बगड़ी से बरलू प्रायः सीधा उत्तर की ओर ३२ कोस (लगभग १०० कि. मी.) दूर है। सोजत, बीलाड़ा, भावी और पीपाड़ आदि मार्गवर्ती मुख्य क्षेत्र हैं।

---

१. उक्त विवरण बगड़ी-राजघराने की ख्यात के आधार पर राव जैतसिंहजी के वर्तमान वंशज भूपालसिंहजी द्वारा उपलब्ध करवाया गया है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी इसी सरल तथा उस समय के चालू मार्ग से बरलू पधारे—ऐसा कहा जा सकता है।[1]

बरलू में चर्चा

स्वामीजी बरलू पहुंचे। उनके पीछे के पीछे आचार्य रुघनाथजी भी पहुंच गये। वे अपनी पूर्व प्रदत्त धमकी को मानो क्रियान्वित करने के लिए ही वहां आये थे। उन्होंने आते ही चर्चा करने का वातावरण बनाया। स्वामीजी को उसमें कोई बाधा नहीं थी।

आचार-शैथिल्य के विरुद्ध वे अपना मंतव्य आचार्यजी के सम्मुख तो पहले अनेक बार रख ही चुके थे, अब यदि वही बात जनता के सम्मुख रखने का उन्हें सहज अवसर मिल रहा था तो वे क्यों चूकते? उन्होंने वह आह्वान स्वीकार कर लिया। साध्वाचार के विषय में तब डटकर चर्चा हुई।

आचार्य रुघनाथजी आचार-शैथिल्य को आगम-सम्मत तो बतला नहीं सकते थे, पर उसको छोड़ने का साहस भी उनमें नहीं था। ऐसी स्थिति में उन्होंने उसें पंचम काल के नाम पर डालते हुए कहा—'यह दुष्षमकाल है। इसमें पूरी साधुता नहीं निभ सकती।'

स्वामीजी ने उसका उत्तर देते हुए कहा—'दुष्षमकाल का तात्पर्य यह थोड़े ही है कि उसमें धर्म की पूर्ण साधना नहीं की जा सकती। उसका तात्पर्य तो इतना ही कहा जा सकता है कि उक्त काल में बल, संहनन आदि हीन होंगे, अतः धर्म-साधना में नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक कठिनाइयां रहेंगी। जो व्यक्ति चारित्र का पालन करना चाहेगा, उसे अधिक सावधानी और अधिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होगी। भगवान् ने कहा है—'जो शिथिलाचारी और पुरुषार्थहीन होंगे, वे ही ऐसा कहेंगे कि इस काल में शुद्ध संयम नहीं पाला जा सकता।'

१. स्वामीजी के उस समय के विहार-क्रम का मानचित्र (१ सेंटीमीटर २० कि. मी. के बराबर) इस प्रकार है :

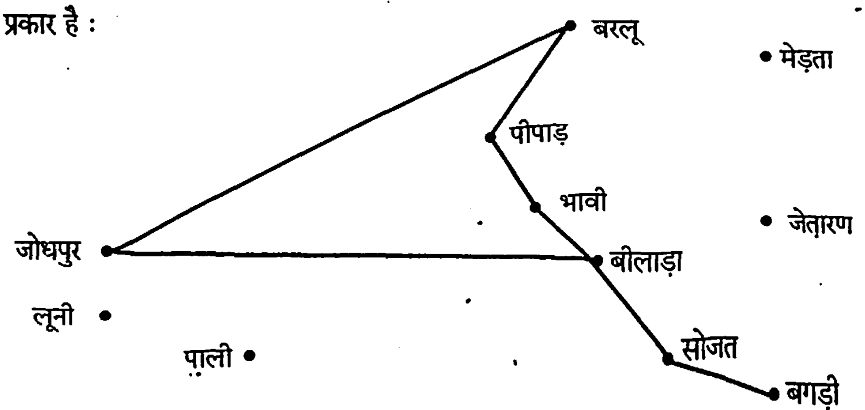

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्य रुघनाथजी ने बात का रुख बदलते हुए कहा—'शुद्ध चारित्र क्या कोई साधारण बात है? यदि केवल दो घड़ी शुद्ध ध्यान कर ले अथवा शुद्ध चारित्र पाल ले, तो वह केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है।'

स्वामीजी बोले—'संयम तो एक निरन्तर की साधना है। घड़ी या दो-घड़ी का कोई तात्पर्य नहीं। एक क्षण का भी प्रमाद किए बिना, लक्ष्य-प्राप्ति तक अविश्रान्त उसी मार्ग पर आगे बढ़ना आवश्यक है। यदि दो घड़ी की शुद्ध साधना से ही केवलज्ञान प्राप्त किया जा सकता हो, तो इतने समय के लिए तो मैं श्वास रोक कर भी शुद्ध ध्यान कर सकता हूं। आचार्य जम्बू के पश्चाद्वर्ती प्रभव और शय्यम्भव आदि आचार्यों को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, तो क्या उन्होंने दो घड़ी के लिए भी शुद्ध संयम नहीं पाला? भगवान महावीर के चौदह सहस्र शिष्यों में से केवल सात सौ ही केवली हुए, तो क्या अवशिष्ट साधुओं ने दो घड़ी के लिए भी शुद्ध संयम की आराधना नहीं की? स्वयं भगवान् महावीर भी संयम ग्रहण करने के पश्चात् लगभग साढ़े बारह वर्षों तक छद्मस्थ रहे। क्या आप कह सकते हैं कि उस अवधि में दो घड़ी के लिए भी उन्होंने शुद्ध ध्यान नहीं किया और शुद्ध चारित्र का निर्वहन नहीं किया? यों तो दो घड़ी क्यों, इससे कम समय में भी मरुदेवी और भरत आदि ने केवलज्ञान प्राप्त किया है, परन्तु देशोन करोड़ पूर्व तक शुद्ध संयम पालने पर भी किसी-किसी को केवलज्ञान नहीं होता। इसीलिए शुद्ध संयम जीवनभर के लिए एक साधना है, चाहे उससे केवलज्ञान प्राप्त हो अथवा न हो।'

स्वामीजी के निर्भीक कथन ने आचार्य रुघनाथजी के चर्चा-उत्साह पर तुषारापात कर दिया। यद्यपि पारस्परिक चर्चा का वह प्राथमिक दौर वहीं समाप्त हो गया, किन्तु स्थिति में किसी प्रकार का कोई अंतर नहीं आ सका।

आचार्य जयमलजी से मिलन

स्वामी भीखणजी बरलू (भोपालगढ़) में अधिक नहीं ठहरे। उन्हें आचार्य जयमलजी से मिलना था, पर वे कुछ ही दिन पूर्व वहां से विहार कर चुके थे। वे जोधपुर की ओर गये थे, अतः स्वामीजी ने भी उधर विहार किया और उनसे मिले। अभिनिष्क्रमण के पश्चात् वह उनका प्रथम मिलन था। उक्त मिलन के स्थान और समय सम्बन्धी असंदिग्ध जानकारी देने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। एतद्-विषयक ग्रंथों से केवल इतना ही ज्ञान होता है कि वे बरलू से विहार करने के पश्चात् उनसे मिले थे।[1] सम्भव है वह मिलन बरलू और जोधपुर के मध्यवर्ती किसी क्षेत्र में हुआ हो।

---

१. (क) भि. ज. र. ६। दोहा १।

(ख) लघु भि. ज. र. ३।३२ से ३४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने आचार्य जयमलजी के सम्मुख सारी घटना तथा परिस्थितियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। अपने आगामी निश्चय से भी उन्हें अवगत किया। आचार्य जयमलजी का स्वामीजी के विचारों से पूरा सामंजस्य था, परन्तु बाह्य दबावों के कारण वे उनका साथ नहीं दे पाये। उनके टोले के मुनि थिरपालजी आदि छह संतों ने स्वामीजी का साथ देने का निश्चय किया और वे वहीं से उनके साथ हो गये। दो संत अन्य टोले से आकर भी सम्मिलित हुए।

आचार्य जयमलजी ने अपने टोले से एक साथ छह संतों के चले जाने पर भी न उनको रोकने का प्रयास किया और न किसी प्रकार का विरोध ही प्रकट किया। मौन रहकर एक प्रकार से वे उनके सहयोगी ही बने। कहा जाता है कि आचार्य रुघनाथजी को जब उनके उक्त व्यवहार का पता चला तो वे बहुत रुष्ट हुए। स्वामीजी के प्रति प्रदर्शित उक्त सहानुभूति ने उनके मन को आहत कर दिया। गुरु-भाई होने पर भी उन्होंने उनसे बोलचाल तक का व्यवहार बंद कर दिया। आचार्य जयमलजी ने उनके रोष की कोई परवाह नहीं की। स्वामीजी के साथ उनका स्नेहपूर्ण व्यवहार यथावत् चालू रहा।[1]

तेरह साधु

स्वामीजी का निर्णय था कि अब उन्हें विशुद्ध जिन-भाषित मार्ग को ध्येय बनाकर ही आगे बढ़ना है। कौन उनके साथी होते हैं और कौन नहीं, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं करनी है। उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था कि संयम-जीवन के प्रासाद का नया पाया रखते समय जो उसकी नींव में अपने आपको सर्वभाव से समर्पित करने के लिए उद्यत हों, वे ही साथ आयें। इसीलिए उनका साथ देने वालों की संख्या अधिक नहीं थी। बलिदानियों की संख्या अधिक हुआ भी नहीं करती। वे कुल मिलाकर तेरह साधु हो गए। उनमें एक तो स्वामी भीखणजी थे ही, जो उस अनुष्ठान के आद्य प्रेरक थे। शेष साधुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :

१. थिरपालजी
२. फतेचन्दजी
३. वीरभाणजी
४. टोकरजी
५. हरनाथजी
६. भारमलजी
७. लिखमीचन्दजी
८. बखतरामजी
९. गुलाबजी
१०. भारमलजी (द्वितीय)
११. रूपचन्दजी
१२. पेमजी

---

१. स्थानकवासी आचार्य जवाहरलालजी द्वारा लिखित 'सद्धर्म-मंडनम्' की प्रस्तावना में उक्त तनाव अभिनिष्क्रमण से पूर्व ही प्रारंभ हो गया बतलाया है। वहां लिखा है--'इसके बाद वे (भीखणजी) आचार्यश्री के गुरु-भाई आचार्यश्री जयमलजी के पास चले गये। इस कारण उभय गुरु-भाइयों में मतभेद हो गया और वह ६ महीने तक चलता रहा।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उक्त तेरह साधुओं में स्वामी भीखणजी, टोकरजी, हरनाथजी, भारमलजी और वीरभाणजी, ये पांच तो आचार्य रुघनाथजी के टोले के तथा थिरपालजी, फतेचन्दजी, लिखमीचन्दजी, बखतरामजी, गुलाबजी और भारमलजी (द्वितीय), ये छः आचार्य जयमलजी के टोले के थे। अवशिष्ट दो साधु रूपचन्दजी और पेमजी किस टोले के थे, इस विषय में कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, परन्तु अनुश्रुति है कि वे श्यामदासजी के टोले के थे। सब अपने-अपने संघों से मुक्त होकर स्वामीजी के साथ सम्मिलित हुए थे।

जोधपुर में

स्वामीजी जोधपुर पधारे। पिछले चतुर्मास (सं. १८१६) में जहां आचार्य जयमलजी तथा उनके अनेक साधु स्वामीजी के विचारों से प्रभावित एवं सहमत हुए थे, वहां अनेक श्रावकों ने भी उन विचारों को हृदयंगम किया था। अब स्वामीजी के सम्मुख ऐसा अवसर उपस्थित हो चुका था कि वे उन श्रावकों को एकत्रित करें और बिखरे मोतियों को पिरोकर बनाई गई एक माला का रूप प्रदान करें। उनके जोधपुर-पदार्पण की सार्थकता मुख्यतः इसी कार्य के साथ जुड़ी हुई थी।[1]

जोधपुर में प्रवेश करने के साथ ही स्वामीजी के सम्मुख ठहरने के लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त करने की समस्या उपस्थित हुई। यद्यपि विगत चतुर्मास उन्होंने जोधपुर के स्थानक में ही किया था, परन्तु परिवर्तित परिस्थितियों में वहां ठहरने का प्रश्न ही नहीं था। स्वामीजी का सिद्धांतवादी मन वैसा करने को कभी उद्यत भी नहीं

---

१. स्वामीजी के जोधपुर-पदार्पण के विषय में भिक्खुचरित, भिक्षु-जस-रसायण तथा ख्यात आदि सभी प्राचीन इतिहास-ग्रंथ मौन हैं। वर्णन का संक्षिप्तीकरण ही संभवनीय कारण है। केवल भिक्षु-युगीन श्रावक गिरधरजी सियाल (नाडोल-निवासी) द्वारा रचित गीतिका में उसका स्पष्ट उल्लेख है। गीतिका का वह पद्य इस प्रकार है :

'बरलू सूं कीधो विहार, आया जोधाणे सेहर मझार।
सुणो चित्त लाय, उठै तेरै भायां पोसा किया ए।।२६

पाठभेद के कारण कई प्रतियों में उक्त पद्य नहीं भी मिलता। परन्तु स्वामीजी के सुप्रसिद्ध श्रावक गुमानजी लूणावत द्वारा लिखित पोथे में उक्त पद्य है। उसका लिपिकाल सं. १८८० फाल्गुन शुक्ला १२-१३ है। पाठभेद भी लगभग उतना ही प्राचीन है, क्योंकि साध्वी कमलूजी (साधना-काल सं. १८७४-१९०२) द्वारा लिखित प्रति में उक्त पद्य नहीं है। वह प्रति सं. १८८१ भाद्र कृष्णा ९ की है और लाडनूं के ग्रन्थ-भंडार में है।

यहां लूणावतजी की प्रति को ही प्रमाण माना गया है। उसमें निम्नोक्त दो कारण हैं :

(१) उपलब्ध प्रतियों में वही सबसे प्राचीन है।

(२) वर्षों तक स्वामीजी के प्रत्यक्ष संपर्क में रहने वाले तथा उनके सब ग्रंथों को कण्ठस्थ कर लिखने वाले व्यक्ति द्वारा लिखित प्रति की अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिकता प्रतीत हुई।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

हो सकता था। वे तो प्रचार करने से पूर्व प्रत्येक सिद्धांत को अपने जीवन की कसौटी पर कसकर देखने वाले व्यक्ति थे। उनकी क्रिया उनके कथन से पीछे रहने की अभ्यस्त नहीं थी।

कंधों पर भार उठाये हुए स्वामीजी ने जब वहां ठहरने के लिए स्थान की गवेषणा प्रारम्भ की तो अनायास ही उन्हें बाजार में कुछ दुकानें खाली मिल गईं। उनके स्वामी की आज्ञा प्राप्त कर वे वहां ठहर गये। बाजार होने के कारण वहां लोगों का आगमन सहज ही अधिक था, फिर स्वामीजी के ठहर जाने से धर्म-चर्चा के निमित्त आने वालों से उसमें और वृद्धि हो गई। वस्तुतः उस समय वह स्थान धर्म-चर्चा का एक केन्द्र बन गया।

उस समय तक स्वामीजी ने अपने विचारों का प्रचार-प्रसार मुख्यतः साधुओं में ही किया था। गृहस्थों को समझाने का अवसर उन्हें स्वल्प ही उपलब्ध हुआ। परन्तु अब वे आगन्तुक व्यक्तियों को भी खुलकर अपने विचारों से अवगत कराने लगे। वे आगम-सम्मत आचार और विचार के सम्बन्ध में बहुत-सी सारगर्भित बातें बतलाते। प्रायः पूरे दिन जिज्ञासु व्यक्तियों का तांता लगा रहता। उनमें से अनेक व्यक्तियों के मन में स्वामीजी के विचार जमे और वे उनके भक्त बन गये। उन श्रद्धालु व्यक्तियों में गेरूलालजी व्यास आदि कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे, जिन्होंने स्वामीजी के विचारों को केवल समझा ही नहीं, अपितु दूसरों को समझाने में भी काफी भाग लिया। जोधपुर के उन व्यक्तियों को तेरापंथ के आद्य श्रावक होने का श्रेय प्राप्त है।

स्वामीजी उस समय जोधपुर में कुछ ही दिन ठहरे, परन्तु उतने ही दिनों में वहां के धार्मिक वातावरण में एक हलचल पैदा हो गई। उनका व्यक्तित्व और विचार उस समय के धार्मिक जगत् में चर्चा के मुख्य विषय बन गये। कोई उनके पक्ष में बोलता, तो कोई विपक्ष में। वह अवसर ही कुछ ऐसा था कि कहीं भी कोई धार्मिक चर्चा प्रारम्भ होती तो वह प्रायः घूम-फिर कर स्वामीजी पर आ जाती और ऊहापोह का एक द्वार ही खुल जाता। व्यासजी आदि श्रावक उस अवसर का अधिक-से-अधिक सदुपयोग करने में लग गये। स्वामीजी के द्वारा प्रज्वलित सत्श्रद्धा की ज्योति को वे अपने प्रयास की आहुति से अधिकाधिक तेजोमय बना देना चाहते थे।

एक केन्द्र

स्वामीजी ने जोधपुर से बीलाड़ा की ओर विहार किया। उनका अनुयायी साधुवर्ग भी उनके साथ ही चला गया। पीछे से जोधपुर के श्रावकों को यह चिंतन करना आवश्यक हो गया कि इतने दिन तो वे स्वामीजी के पास अनायास ही एकत्रित हो जाया करते थे, परन्तु अब क्या व्यवस्था की जाये?

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने स्थानक का परित्याग कर दिया था, अतः उनके भक्तजनों के लिए भी आवश्यक था कि वे स्थानक को किसी प्रकार का प्रश्रय न दें और उसे अपनी गतिविधियों का आधार न बनायें। स्वामीजी के विचार स्थानक के विषय में बिल्कुल स्पष्ट थे। उनका कथन था—'जिस प्रकार साधारण गृहस्थ के 'घर', सेठ के 'हवेली' और राजा के 'प्रासाद' होता है तथा विभिन्न संन्यासियों के मठ, अस्थल, आसन, मढ़ी आदि नाम से भवन होते हैं, उसी प्रकार जैन साधुओं के निमित्त 'स्थानक' बनाये जाते हैं। इन सबमें केवल नाम का ही अन्तर है, वस्तु-दृष्टि से तो ये सब घर ही हैं। यह एक प्रकार का प्रच्छन्न परिग्रह है, जो साधु को अपरिग्रही नहीं रहने देता। अन्य भवनों के निर्माण की ही तरह इनके निर्माण में भी जीव-हिंसा होती है। वह साधु के निमित्त होती है, अतः ऐसे भवनों में ठहरने से साधु अहिंसक नहीं रह सकता। उसे 'उद्दिष्ट' दोष का भागी होना पड़ता है।'[1]

स्वामीजी के विचारों पर श्रद्धा रखने वाले उन थोड़े-से लोगों ने तब यही निर्णय किया कि उन्हें प्रतिदिन उसी दुकान पर एकत्रित होना चाहिए, जहां कुछ दिन पूर्व स्वयं स्वामीजी ने निवास किया था। उसी दिन से वे लोग सामायिक, पौषध आदि धर्म-क्रिया तथा धर्म-चर्चा के लिए वहां एकत्रित होने लगे। आस-पास की अन्य दुकानों में, जहां सांसारिक व्यापार चला करता, वहां उस दुकान में धार्मिक व्यापार चलता। अनेक नये-नये तत्त्व-जिज्ञासु ग्राहक के रूप में आया करते और तत्त्व-चर्चा में भाग लिया करते। उन दिनों वह स्थान स्वामीजी के विचार-प्रसार का एक अच्छा केन्द्र बना हुआ था। इतना ही नहीं, स्वामीजी के सम्बन्ध में परिपूर्ण जानकारी भी लोगों को वहां से मिला करती थी।

किसनोजी की व्यवस्था

स्वामीजी जोधपुर के पश्चात् कुछ दिन बीलाड़ा में बिराजे। वहां बालमुनि भारमलजी के पिता मुनि किसनोजी ने दर्शन किये। पिता-पुत्र—दोनों को स्वामीजी ने ही दीक्षित किया था। पुत्र प्रारम्भ से ही स्वामीजी के साथ रहकर अध्ययन करने लगे और पिता अन्य मुनियों के साथ जनपद-विहार में लग गये। उन्हें जब स्वामीजी के अभिनिष्क्रमण सम्बन्धी समाचार मिले तब वे भी उनके साथ होने के लिए बीलाड़ा आ गये। उनकी प्रकृति बहुत कठोर थी, अतः स्वामीजी ने उनको अपने साथ रखने से इन्कार कर दिया। स्वामीजी के उस

१. भिक्खु दृष्टांत, दृ. ३०८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

अप्रत्याशित व्यवहार से वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए और अपने पुत्र भारमलजी को हाथ पकड़-कर बलात् अन्यत्र ले गये। उस स्थिति में बालमुनि ने अत्यन्त दृढ़ता का परिचय दिया। उन्होंने पिता के द्वारा लाए हुए अन्न-जल का आजीवन प्रत्याख्यान कर दिया। किसनोजी की मनुहारें और घुड़कियां जब सर्वथा अकृतकार्य हो गईं तब तीसरे दिन बाध्य होकर उन्हें स्वामीजी को सौंपना पड़ा। उन्होंने कहा—'यह आपके पास ही रंजित है, अतः इसे रखिये और पारण करवाइये। मुझे अकेले न भटकना पड़े, अतः मेरा भी कोई स्थान जमा दीजिये।' स्वामीजी ने तब मुनि भारमलजी को पारण करवाया और मुनि किसनोजी को आचार्य जयमलजी को सौंप दिया।[1] वे उन दिनों बीलाड़ा में ही प्रवास कर रहे थे। स्वामीजी का वह उनसे तृतीय मिलन था।[2]

श्रावक और महामंत्री

जोधपुर के श्रावक एक दिन बाजार की उसी दुकान पर, जहां पहले स्वामीजी ठहरे थे, एकत्रित होकर सामायिक, प्रतिक्रमण आदि धर्मानुष्ठान कर रहे थे। संयोगवश उसी समय फतहमलजी सिंघी का बाजार में आगमन हो गया। वे

---

१. उक्त घटना की विस्तृत जानकारी के लिए देखें—इसी पुस्तक के तृतीय परिच्छेद का तृतीय अध्याय 'समस्या का वात्याचक्र'।

२. स्वामीजी धर्मक्रांति के सिलसिले में आचार्य जयमलजी से तीन बार मिले थे। परन्तु किसी भी प्राचीन इतिहास-ग्रंथ में इनका एकत्रित विवरण नहीं मिलता। शायद उसका कारण है—वर्णन का संक्षिप्तीकरण। इसीलिए क्षेत्रभेद और कालभेद को उपेक्षित कर समग्र विवरण एक साथ दे दिया गया। ख्यात (भिक्षु-वर्णन) और भिक्खु-जस-रसायण (ढा. ६) के वर्णन उसके उदाहरण हैं। वहां तीनों मिलन-प्रसंग एक साथ वर्णित हैं। उससे लगता है, मानो स्वामीजी आचार्य जयमलजी से अभिनिष्क्रमण के पश्चात् ही तथा एक बार ही मिले। उसी में विचार-सहमति, आचार्य रुघनाथजी का पत्र-प्रेषण, विचार-भंग और किसनोजी को सौंपने तक की सारी घटनाएं घटित हो गईं। परन्तु इन्हीं घटनाओं को जब इतिहास की अन्य विकीर्ण सामग्री के प्रकाश में देखते हैं, तब स्थान और समय का पार्थक्य स्पष्ट दृष्टिगत हो जाता है। जैसे—'दृष्टान्त' (दृ. १३) के अनुसार अभिनिष्क्रमण से पूर्व स्वामीजी ने सं. १८१६ का चतुर्मास जोधपुर में किया। उसी में प्रथम मिलन, विचार-सहमति, पत्र-प्रसंग और विचार-भंग तक की घटनाएं घटित हुईं। वे वहां विस्तार से वर्णित हैं। उसके पश्चात् बगड़ी में अभिनिष्क्रमण, छत्री में चर्चा और बरलू में चर्चा तक की बात भिक्खु-जस-रसायण (ढा.५) में विस्तार से दी गई है। वहीं आगे (ढा. ६ में) बरलू से विहार करने और आचार्य जयमलजी से मिलने का कथन है। यद्यपि यह द्वितीय मिलन था, पर जयाचार्य ने आचार्य जयमलजी से सम्बन्धित विचार-सहमति से लेकर किसनोजी को सौंपने तक की सभी घटनाएं यहीं पर दी हैं। बरलू से जोधपुर पधारने की बात गिरधरजी सियाल की गीतिका में स्पष्ट है। उसके पश्चात् बीलाड़ा-पदार्पण और वहां किसनोजी एवं मुनि भारमलजी की घटना होने का वर्णन भारमल चरित्र (ढा. १-६ से ११) तथा भिक्खु-दृष्टांत (दृ. २०२) में है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

एक जैन श्रावक थे और उस समय जोधपुर राज्य के महामन्त्री (दीवान) भी।[1] बाजार की दुकान में श्रावकों को सामायिक करते देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। वे उस दुकान की ओर आये और श्रावकों से पूछने लगे—'आप लोगों ने स्थानक में सामायिक न करके यहां बाजार में कैसे की है?'

श्रावकों में गेरूलालजी व्यास वहीं थे। उन्होंने आचार्य रुघनाथजी से स्वामी भीखणजी के पृथक् होने की सारी घटना कह सुनाई और बतलाया कि अनेक मतभेदों के साथ-साथ स्थानक के विषय में भी स्वामीजी अपना भिन्न मत रखते हैं। उनका कथन है कि साधुओं के निमित्त कोई स्थान नहीं होना चाहिए। मठाधीश और परिग्रही का साधुता से क्या सम्बन्ध हो सकता है? गृहस्थावस्था का अपना एक घर छोड़ने वाला साधु यदि ग्राम-ग्राम में घर बनवाकर बैठ जायेगा तो वह गृहस्थ से भी गया-गुजरा हो जायेगा। आगम-दृष्टि से भी अपने निमित्त बने स्थान का उपभोग करना सदोष है। स्वामीजी के इन विचारों से हम सब भी सहमत हैं, अतः स्थानक को छोड़कर यहां सामायिक कर रहे हैं।

अन्य मतभेदों के विषय में सिंघीजी ने जिज्ञासा की, तब श्रावकों ने कहा—'सारी बातों को सुनने में काफी समय लग सकता है। आज तो आप किसी कार्यवश जाते हुए मार्ग में से यहां पधार गये हैं, फिर कभी पूरा समय निकालें तो सभी विषयों पर बात की जाये।'

महामन्त्री ने जिज्ञासा की उसी मुद्रा में कहा—'इस समय मुझे अवकाश ही है। कोई ऐसा आवश्यक कार्य सामने नहीं है, जो अभी करना हो। आप लोग निश्चिंत होकर पूरा विवरण सुनाइये।'

श्रावकों ने तब श्रद्धा और आचार-सम्बन्धी सारे मतभेद उनके सम्मुख रखे और प्रत्येक के विषय में स्वामीजी के विचारों से उन्हें अवगत किया।

सारी बातों को ध्यानपूर्वक सुन लेने के पश्चात् उन्होंने पूछा—'इस समय कितने साधु इस विचारधारा का समर्थन कर रहे हैं?'

---

१. सिंघीजी का नाम भिक्खु-जस-रसायण, ख्यात आदि सभी प्राचीन ग्रंथों में फतहचन्दजी लिखा मिलता है, पर वस्तुतः वह फतहमलजी था। जोधपुर में समानान्त नाम देने की पद्धति प्रचलित रही है। अब तक भी वहां वह काफी रूप में चालू है। उनके वंशधरों का कथन है कि वे 'मल्लोत' (मल्लान्त) ही थे।

सिंघीजी सं. १७६३ से १८०७ तक नागौर के दीवान रहे। फिर सं. १८०८ से १८१८ तक जोधपुर राज्य के दीवान रहे। सं. १८२३ आश्विन शुक्ला ५ को वे पुनः जोधपुर राज्य के दीवान बनाये गये। वे फिर आजीवन (सं. १८३७ आश्विन शुक्ला १० तक) उस पद पर रहे। (देखें—ओसवाल जाति का इतिहास, ओसवास जाति के प्रसिद्ध घराने, पृष्ठ ४६०)।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

श्रावकों ने उत्तर दिया—'तेरह'।

उन्होंने फिर पूछा—'अपने यहां जोधपुर में उनका अनुसरण करने वाले आप लोग कितने श्रावक हैं?'

श्रावकों ने कहा—'हम लोग भी तेरह ही हैं, जो सभी यहां उपस्थित हैं।'

महामंत्री ने तब हंसते हुए कहा—'यह अच्छा संयोग रहा कि तेरह ही साधु और तेरह ही श्रावक।'

नामकरण

सिंघीजी के साथ उस समय 'सेवग' जाति का एक कवि भी था। वह उपर्युक्त सारी बातें बड़े ध्यान से सुन रहा था। साधुओं और श्रावकों की संख्या का वह आकस्मिक समान योग उस कवि-हृदय व्यक्ति को प्रेरणादायक बना और उसने उसी समय एक दोहा बनाकर सुनाया। उस दोहे में 'तेरह' की संख्या के आधार पर स्वामीजी और उनके अनुयायियों को 'तेरापंथी' नाम से सम्बोधित किया गया। वह दोहा इस प्रकार है :

साध साध रो गिलो करै, ते आप आपरो मंत।
सुणज्यो रे शहर रा लोगां, ए तेरापंथी तंत।।

पहले-पहल उस नाम को स्वामीजी के विरोधी व्यक्तियों ने ही पकड़ा। अल्प संख्या को आधार बनाकर उपहास के रूप में वे उसका प्रयोग करने लगे और जब-तब स्वामीजी के अनुयायियों को 'तेरापंथी' कहकर चिढ़ाने लगे। उन्होंने उस नाम को दूर-दूर तक फैलाने का भी कार्य किया, ताकि अन्यत्र भी स्वामीजी और उनके अनुयायियों को उपहास-पात्र बनाया जा सके।

तेरापंथ का अर्थ

स्वामीजी के पास नामकरण के समाचार पहुंचे। उस समय वे बीलाड़ा या उसके समीपवर्ती किसी क्षेत्र में थे। उन्होंनें नामकरण के समय की उक्त सारी घटना को सुना तो उनकी मूलग्राहिणी प्रतिभा ने उस शब्द को तत्काल स्वीकार कर लिया। कवि द्वारा सहज रूप से व्यवहृत उस 'तेरापंथी' शब्द में उनको बड़ा अर्थ-गौरव जान पड़ा। उन्हें अपनी आन्तरिक विचारधारा की सारी अभिव्यक्ति उसी एक शब्द में होती हुई दिखाई दी। तत्काल उन्होंने उसे अपना 'प्रतीक शब्द' बना लिया और अपने संघ की 'संज्ञा' के रूप में स्वीकार कर लिया।

राजस्थानी भाषा में संख्यावाची 'तेरह' शब्द को 'तेरा' कहा जाता है और 'तू' सर्वनाम की सम्बन्ध-वाचक विभक्ति का एकवचन भी 'तेरा' बनता है। स्वामीजी ने उन दोनों ही शब्द-रूपों को ध्यान में रखते हुए अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

के द्वारा उक्त शब्द की व्याख्या की। अपने आसन का परित्याग कर वन्दन-मुद्रा में बैठते हुए उन्होंने प्रभु को नमस्कार किया और बद्धाञ्जलि कहा—'हे प्रभो! यह तेरापंथ है। हम सब निर्भ्रान्त होकर इस पर चलने वाले हैं, अतः 'तेरापंथी' हैं।'

मूलतः कवि की भावना को तेरह की संख्या ने ही प्रेरणा प्रदान की थी; अतः स्वामीजी ने उसे भी उतना ही महत्त्व दिया और उस शब्द का दूसरा संख्यापरक अर्थ करते हुए कहा—'पांच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), पांच समितियां (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग) एवं तीन गुप्तियां (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति)—ये तेरह नियम जहां पालनीय हैं, वह तेरापंथ है।'

'तेरापंथ' शब्द का उपर्युक्त अर्थ यद्यपि स्वामीजी की प्रत्युत्पन्न बुद्धि द्वारा तत्काल प्रसूत हुआ था, फिर भी उसमें संयम के जिन तेरह नियमों का उल्लेख किया गया है, वे आगम-सम्मत तथा प्राचीन जैनाचार्यों द्वारा इसी संख्या के रूप में बहुमान्य रहे हैं। इस विषय में जैनाचार्य पूज्यपाद देवनन्दी का निम्नोक्त श्लोक दर्शनीय है :

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनु-मनो-भाषानिमित्तोदयाः
पञ्चेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पञ्चव्रतानीत्यपि।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परै-
राचारं परमेष्टिनो जिनपतेर्वीरान् नमामो वयम्।।[१]

इसका तात्पर्य है—भगवान् महावीर को नमस्कार है। उन्होंने तेरह प्रकार के चारित्र का जैसा प्रतिपादन किया, वैसा पूर्व काल में अन्य किसी ने नहीं किया। वे तेरह प्रकार ये हैं—अहिंसादि पांच महाव्रत, ईर्यादि पांच समितियां और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियां।

नाम और काम का तादात्म्य

स्वामीजी ने 'तेरापंथ' शब्द के साथ उपर्युक्त अर्थ का तादात्म्य स्थापित किया और अपने संघ को इतना आचार-कुशल बनाया कि जो व्यक्ति व्यंग्य के रूप में उसका प्रयोग करना चाहते थे, वे अपनी चाल भूल गये। उन्हें 'तेरापंथ' के नाम से घबराहट होने लगी। उनकी अपनी आचार-शिथिलता ने उनके मन में इस नाम से एक भय उत्पन्न कर दिया।

स्वामीजी का विश्वास नाम पर नहीं, काम पर था। उन्होंने अपने अनुगामियों के सामने केवल काम ही प्रस्तुत किया। नाम की उन्होंने कोई चिन्ता

---

१. चारित्र-भक्ति श्लोक ७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

की ही नहीं। सम्भवतः नामकरण के समय तक भी उनके मन में यह कल्पना नहीं उठी थी। जनता को पहचान की सरलता के लिए प्रत्येक वस्तु, भाव और क्रिया का कोई न कोई पृथक् नाम चाहिए। उसकी पूर्ति एक सेवग कवि ने की, तो प्रचार विरोधियों ने किया और अर्थदान स्वामीजी ने। अर्थ क्या दिया, वस्तुतः उस नाम को फिर से कार्य में पलट दिया। इसीलिए 'तेरापंथ' केवल संज्ञा ही नहीं रहा, बल्कि आचार-कुशलता और विचार-दृढ़ता का एक सक्रिय उदाहरण बनकर संसार के सम्मुख उपस्थित हुआ।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

:४:

तेरापंथ का उदय

उषःकाल

तेरापंथ के उदय को यदि सूर्योदय से उपमित किया जाये, तो स्वामीजी के भाव-दीक्षा से पूर्ववर्ती समय को उषःकाल कहना उपयुक्त होगा। उषःकाल में जन-जागरण प्रारम्भ हो जाता है और धीरे-धीरे अंधकार का स्थान प्रकाश लेने लगता है। उसी प्रकार रामनवमी से आषाढ़-पूर्णिमा तक के उन सवा तीन महीनों में जन-जागृति के साथ-साथ सम्यक्त्व का प्रकाश फैलने लगा था। उन दिनों स्वामीजी तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट साध्वाचार जन-साधारण में चर्चा का विषय बनता जा रहा था।

स्वामीजी बीलाड़ा से विहार कर कांठा क्षेत्र के विभिन्न ग्रामों का स्पर्श करते हुए मेवाड़ की ओर बढ़ रहे थे। साथ ही सहवर्ती साधुओं के साथ सैद्धान्तिक चर्चाओं का क्रम भी चालू था। आगमों के मन्थन और मनन द्वारा स्वामीजी ने जो तत्त्व-नवनीत उपलब्ध किया था, उसका आस्वाद सभी के लिए शक्तिदायक बन रहा था। विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान के आधार पर श्रद्धा और आचार-विषयक मन्तव्यों को सभी मुनि पूर्णरूप से हृदयंगम करने में जुटे हुए थे।

जितना बड़ा वह काम था, उतने दिन हाथ में नहीं थे। चतुर्मास निकट आ जाने से कुछ विषयों पर अन्तिम रूप से विचार नहीं किया जा सका। स्वामीजी ने तब सभी साधुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—'चतुर्मास निकट है, इसलिए अवशिष्ट विषयों पर विचार करने का अवकाश नहीं रह गया है। चतुर्मास समाप्त होने पर हम सब फिर मिलेंगे और चर्चा करेंगे। श्रद्धा और आचार मिलने पर ही हम सम्मिलित रहेंगे, अन्यथा नहीं।' इस प्रकार सबको पहले ही समझा दिया गया कि हमारा पारस्परिक सम्बन्ध किसी घटना-विशेष या आग्रह-विशेष द्वारा प्रेरित नहीं, किन्तु विशुद्ध आचार और विचार के आधार पर अवस्थित है। स्वामीजी ने सब साथियों के लिए चतुर्मास के स्थानों का निर्धारण कर दिया और कह दिया कि आषाढ़-पूर्णिमा के दिन सबको भाव-संयम ग्रहण कर लेना है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

व्यवस्था-सम्बन्धी निर्णय

चतुर्मास-काल की निकटता के उस अवसर पर व्यवस्था-सम्बन्धी जो निर्णय किये गये, वे इस प्रकार थे—स्वामीजी से दीक्षा-ज्येष्ठ मुनि थिरपालजी और फतेहचन्दजी को भाव-दीक्षा के पश्चात् भी ज्येष्ठ रखा जायेगा। आचार्य पद पर श्री भिक्षु रहेंगे।[१]

उक्त निर्णय किस ग्राम में किये गये, इसका उल्लेख किसी भी इतिहास-ग्रन्थ में नहीं है। अनुमानित है कि बीलाड़ा से विहार करने के पश्चात् मारवाड़ के ही किसी क्षेत्र में किये गये थे। उसके पश्चात् सभी मुनि अपने लिए निर्धारित चतुर्मास-क्षेत्रों की ओर विहार कर गये।[२]

केलवा में

स्वामीजी मारवाड़ से विहार करते हुए मेवाड़ में पधारे। उन्होंने अपने चतुर्मास के लिए केलवा नामक ग्राम को चुना। वह राजनगर से लगभग ११ किलोमीटर दूर है। स्वामीजी वहां आषाढ़ शुक्ला १३ को पहुंचे।[३]

वर्षा ऋतु का प्रारम्भकाल ही था, फिर भी प्रथम बार में अच्छी वर्षा हो गई, अतः प्रचुर अन्नोत्पत्ति की सम्भावना में सभी की आकृतियां हर्षोत्फुल्ल थीं। उत्तापहीन स्वच्छ वातावरण और सुकाल के संकेत मानो स्वामीजी के पदार्पण की सफलता के सूचक शुभ शकुन थे। उस वर्ष परिपूर्ण वृष्टि होने का समर्थन सुप्रसिद्ध श्रावक शोभजी की गीतिका के एक पद्य से भी होता है। वे उस समय गर्भावस्था में

---

१. (क) भि. ज. र. ८। दो. ३ :

'थिरपालजी फतेहचन्दजी, बड़ा तात सुत बेह।
भिक्खु आचारज भला, ज्ञानकला गुण गेह।।'

(ख) पुर से प्राप्त गद्य कृति, पत्र ६ में उपर्युक्त कथन से भिन्न कहा गया है। उसका आशय इस प्रकार है : 'चतुर्मास से पूर्व सभी सन्त राजनगर में एकत्रित हुए। ज्येष्ठता-कनिष्ठता पूर्ववत् रखी गई, अतः रूपचन्दजी को सबसे बड़ा माना गया।'

२. स्वामीजी के अतिरिक्त अन्य मुनियों के चतुर्मास-क्षेत्रों का विवरण इतिहास-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। पुरवाली गद्य कृति में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है—स्वामीजी ने ठाणा ५ से केलवा में चतुर्मास किया एवं रूपचन्दजी, बखतमलजी आदि ने ठाणा ४ से बूंदी में। आगे मुनि थिरपालजी, फतेहचन्दजी के सिंघाड़े का नामोल्लेख तो किया है, पर स्थान और ठाणा की जगह खाली छोड़ दी है। अवशिष्ट संख्या के हिसाब से ठाणा ४ का तो निश्चय किया जा सकता है, पर स्थान के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

३. उक्त तिथि राजनगर के बिरधीचन्दजी कोठारी के पास की एक प्राचीन चोपड़ी से ली गई है। वहां लिखा है: 'सं. १८१७ का आषाढ़ सुदी १३ श्री भीकमजी महाराज कंटालिया वाला केलवा पदार वराज्या।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

थे। स्वामीजी के संयम-जीवन सम्बन्धी जन्म-कल्याण का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है :

सोभो गर्भ मांहें वर्ष सतरै, जद बादल जादा झरिया।
जन्म किल्याण श्री पूज केलवै, साध थई संचरिया।।[1]

स्वामीजी के साथ उस समय चार साधु और थे। उनके नाम इस प्रकार हैं : टोकरजी, हरनाथजी, भारमलजी और वीरभाणजी। यद्यपि वीरभाणजी का नाम किसी भी ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं है, परन्तु 'केलवा में स्वामीजी आदि ५ सन्त थे।' यह संख्या निर्धारण उपलब्ध है।[2] तब यही सम्भावना की जा सकती है कि पांचवें सन्त वीरभाणजी ही थे, क्योंकि सं. १८१५ के राजनगर-चतुर्मास में तथा अभिनिष्क्रमण के समय बगड़ी में वे स्वामीजी के साथ थे। उक्त स्थिति में उनका अन्य किसी के साथ जाना सम्भव नहीं लगता।

यद्यपि स्वामीजी चतुर्मास प्रारम्भ होने के लगभग ही केलवा में पहुंचे थे, फिर भी उनके पहुंचने से पूर्व ही वहां विरोधियों द्वारा उनके विरुद्ध प्रचार प्रारम्भ किया जा चुका था। अनेक अपवाद और भ्रान्तियां फैलाई गईं। सामाजिक स्तर पर उनका पूर्ण बहिष्कार करने के लिए श्रीसंघ की ओर से भी अनेक आज्ञाएं प्रचारित की

---

१. पूजगणी, १४।१७।

२. (क) ख्यात में नाम किसी का भी नहीं है, पर संख्या ५ बतलाई है। वहां लिखा है : 'आप केलवे ५ सन्तां सूं आसरे पधार्‌या।'

(ख) शा. प्र. (२।८६) के अनुसार भी केलवे में ५ सन्त थे। वहां चार के तो नाम दिये हैं, पर पांचवें के लिए कहा है—'एकां रो नाम लिख्यो न दिखात।'

(ग) पुर से प्राप्त गद्य कृति (पत्र ६) में लिखा है, 'भीखणजी तो चोमासो गाम केलवे कीदो जणां ५ सुं।'

(घ) मुनि बेणीरामजी ने भिक्खु-चरित (३।१३) में संख्या का निर्धारण तो नहीं किया, परन्तु तीन सन्तों के ही नामों का उल्लेख किया है, अतः वह संख्या निर्धारण जैसा ही है। वे लिखते हैं :

'हरनाथजी हाजर हुंता, टोकरजी तीखा सुवनीत।
परम भगता सिख पाटवी, यां राखी पूजरी परतीत।।'

(ङ) जयाचार्य ने भी भि. ज. र. ८।५ में उक्त क्रम से तीन नामों का ही उल्लेख किया है :

'हरनाथजी हाजर हुंतां, टोकरजी भिक्खु पास।
परम भगता भारीमालजी, पूरो ज्यांरो विश्वास।।'

सम्भव है, उपर्युक्त दोनों ग्रंथों में वीरभाणजी का नाम इसलिए छोड़ दिया कि वे स्वामीजी के प्रति अपने विश्वास को आजीवन नहीं निभा पाये। ऊपर उद्धृत दोनों ही पद्यों के चतुर्थ पद शायद इसी बात की ओर संकेत करते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

गईं। स्थानीय जनता के मन में उनके प्रति घृणा और भय का प्रसार इस रूप में किया गया कि जब वे वहां पहुंचे, तब उन्हें कोई स्थान देने वाला भी नहीं मिला।

अंधेरी कोठरी

स्थान की गवेषणा करने में स्वामीजी को काफी परिश्रम और पूछताछ करनी पड़ी। आखिर ग्राम के कुछ व्यक्तियों ने परामर्श करके एक स्थान देने का निर्णय किया। वह स्थान था स्थानीय जैन मंदिर[1] की एक अंधेरी कोठरी। उसमें न हवा का प्रवेश था और न प्रकाश का। मानो वह स्वयं स्वामीजी से नयी हवा और नये प्रकाश की एक लहर प्राप्त करने की प्रतीक्षा में ही इतनी सदियों तक मौन व एकाकी साधनारत खड़ी थी। लोग उसे स्थानीय बोली में 'अंधेरी-ओरी' कहा करते थे। सम्भव है, उसका यह गुणानुसारी नाम स्वामीजी के उस चतुर्मास-काल में ही प्रचलित हुआ हो। यद्यपि अब वहां काफी परिवर्तन कर दिया गया है, अतः न पूर्ववत् अन्धकार ही रहा है और न निर्वातता, फिर भी स्वामीजी के समय में तो उन दोनों का ही वहां साम्राज्य था। वर्षों पूर्व से वह शून्य और उपेक्षित स्थान रहता आया था, अतः भयप्रद भी हो गया था। लोग दिन में भी वहां जाने से सकुचाते थे। रात्रि में तो भूलकर भी कोई उधर नहीं जाता। जनता में यह अनुश्रुति प्रचलित थी कि वह स्थान भूत-प्रेत आदि अदृश्य शक्तियों द्वारा गृहीत है, अतः रात्रि में जो वहां रहेगा, वह प्रातःकाल तक बचकर बाहर नहीं आ पायेगा। उसी अनुश्रुति के आधार पर किसी दुरभिसन्धि से प्रेरित होकर लोगों ने स्वामीजी को वह स्थान देने की बात सोची। सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे—इस कहावत को वे चरितार्थ करना चाहते थे। स्वामीजी को स्थान बताते हुए उन लोगों ने कहा—'हमारे पास तो यही एक स्थान है, वह बता दिया, अब रहने-न रहने के विषय में आप स्वयं सोच लें।'

स्वामीजी के सामने न रहने का तो कोई कारण ही नहीं था। वे निर्णयपूर्वक ही वहां आये थे। चतुर्मास करना ही था। स्थान की प्रतिकूलता उन्हें क्या प्रभावित कर सकती थी, जबकि कुछ समय पूर्व वे श्मशान-भूमि में भी ठहर चुके थे। अन्य स्थान न मिलने पर वह स्थान तो प्रायः हर ग्राम में मिल ही सकता है। वहां तो फिर उन्हें एक मन्दिर में स्थान मिल रहा था। वह चाहे कैसा भी क्यों न हो, श्मशान-भूमि से तो ठीक ही होना सम्भव था। स्वामीजी अभाव में से भी भाव को निचोड़ लेने वाले व्यक्ति थे, अतः किसी प्रकार के अभाव का उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं था। उन्होंने उस स्थान को तत्काल स्वीकार कर लिया और वहां ठहर गये। गृहस्थ-वर्ग भी निश्चिन्त हुआ कि चलो, बला टली।

---

१. उक्त मन्दिर भगवान् चंदप्रभ का है। वहां एक शिलालेख भी है, जिसके अनुसार मन्दिर का निर्माणकाल सं. १०२३ आषाढ़ शुक्ला द्वितीया है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वहां उस समय हर कोई स्वामीजी का विरोधी था। न कोई उनकी चर्या की चिन्ता करने वाला था और न अन्य आवश्यक सुविधाओं की। आत्मबली स्वामीजी और उनके संत निरपेक्ष भाव वाले थे। वे सब दिनभर स्वाध्याय, अध्ययन तथा मनन आदि में निमग्न रहे। ऐसे कार्यों के लिए एकान्तता की अपेक्षा रहा करती है। उस दिन उन सबको वह परिपूर्णता से प्राप्त हुई। दिनभर में कोई एक व्यक्ति भी सत्संग अथवा धर्म-चर्चा के लिए नहीं आया। सन्त जनों ने दैनिक चर्या के अपने सभी कार्य बिना किसी व्याघात के सानन्द सम्पन्न किये।

उपसर्ग-विजय

प्रथम दिन की ही बात है। सायंकालीन प्रतिक्रमण कर लेने के पश्चात् मुनि भारमलजी परिष्ठापन के लिए मन्दिर से बाहर गये। जब वे वापस आ रहे थे, तब द्वार के सामने ही एक सर्प ने उनके पैरों को अपनी कुण्डली में जकड़ लिया। चौदह वर्ष के बालक होने पर भी वे घबराये नहीं, हल्ला भी नहीं मचाया, वहीं पर स्थिर खड़े रह गये।

स्वामीजी ने उन्हें बाहर 'अच्छाया' में खड़ा देखा, तो वहीं से पुकार कर कहा—'भारमल! अन्दर आ जाओ, बाहर क्यों खड़े हो?'

मुनि भारमलजी बोले—'गुरुदेव! सर्प-जाति के जीव ने पैरों में आंटे दे रखे हैं, कैसे आऊं?'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

परिस्थिति की विकटता को भांपते हुए स्वामीजी तत्काल वहां आये और 'नमस्कार-मंत्र' का उच्चारण कर कहने लगे—'आर्य! यदि तुम कोई देव हो और यहां तुम्हारा कोई स्थान है, तथा तुम यह चाहते हो कि हम यहां न रहें, तो हमें स्पष्ट बतला दो। तुम्हारी आज्ञा के बिना हम यहां रहना नहीं चाहेंगे। पर इस तरह का उपसर्ग करना तो बिल्कुल उपयुक्त नहीं है।'

स्वामीजी के उन शब्दों के साथ ही सर्प वहां से हट गया। वे भी मुनि भारमलजी को साथ लेकर अन्दर आ गये।

स्वामीजी को लगा कि इस स्थान के विषय में लोगों में जो भय की भावना बनी हुई है, वह बिल्कुल निष्कारण तो नहीं है। उस प्रथम रात्रि में उन्हें विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अन्य सब साधुओं के सो जाने पर भी स्वामीजी धर्म-जागरण करने में लगे रहे।

अर्धरात्रि व्यतीत होने के पश्चात् स्वामीजी को मन्दिर में प्रवेश-द्वार की ओर से कोई श्वेत वस्त्रधारी व्यक्ति अन्दर आता हुआ दिखाई दिया। वह कुछ निकट आया और वन्दन कर कहने लगा—'आगे के लिए आपको कोई उपसर्ग नहीं होगा। सानन्द यहां रहिये। दो प्रार्थनाएं हैं, प्रथम यह कि प्रातःकाल सर्प के द्वारा खींची गई एक रेखा

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आपको मिलेगी, उसके इस ओर कोई साधु परिष्ठापन न करे। द्वितीय यह कि गर्भ-गृह के द्वार पर दोनों ओर दो चबूतरियां हैं, उन पर आपके अतिरिक्त अन्य कोई न बैठे।'

स्वामीजी ने उसकी दोनों प्रार्थनाएं 'ठीक है' कहकर स्वीकार कर लीं।

एक क्षण ठहर कर वह व्यक्ति पुनः बोला—'आप मुझे मनुष्य मत समझियेगा।'

स्वामीजी ने कहा—'नहीं, महानुभाव! मैंने तुम्हें मनुष्य नहीं समझा है। मनुष्य तो यहां दिन में आने से भी घबराता है, तब अर्धरात्रि की इस विकट वेला में आने का तो साहस ही कौन करेगा?'

उस व्यक्ति ने स्वामीजी को एक बार फिर नमस्कार किया और सहसा अन्तर्धान हो गया। स्वामीजी ने पूरी रात्रि धर्म-जागरण में ही व्यतीत की।

प्रातःकाल के प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन से निवृत्त होने के पश्चात् स्वामीजी ने सब साधुओं को रात की घटना बतलायी और पूर्वोक्त रेखा को देखकर उसके इस ओर परिष्ठापन करने तथा चबूतरियों पर बैठने का सबको निषेध कर दिया।

सभी प्रभावित

जिन लोगों ने अपनी दुरभिसन्धि के आधार पर स्वामीजी को वह स्थान बतलाया था, वे प्रातःकाल होते ही उसका परिणाम देखने की उत्सुकता से वहां आये। उन्होंने देखा कि स्वामीजी तथा उनके सभी सन्त सानन्द हैं। वे बहुत चकित हुए। उनके विचार से वह कोई अघटित घटना थी। उनकी धारणा थी—'आज तक रात्रि में वहां रहकर कोई व्यक्ति जीवित बाहर नहीं निकल पाया।' उन सबको अपनी चाल के विफल हो जाने का बड़ा दुःख हुआ। यद्यपि किसी ने भी उस समय अपने दुःख को व्यक्त करने के लिए मुख नहीं खोला, परन्तु उद्देश्य-पूर्ति की विफलता से उत्पन्न खिन्नता उनकी आकृतियों पर स्पष्ट उभर आई। सबसे बड़ा दुःख तो उनको यह था कि स्वामीजी को वहां चतुर्मास करने के लिए स्थान प्राप्त हो गया।

वे लोग प्रभावित भी हुए कि स्वामीजी उस भय-स्थान में भी निर्भय रहने की क्षमता रखते हैं। जब उन लोगों को सर्प-सम्बन्धी उपसर्ग का पता लगा, तब तो उन्होंने दांतों तले अंगुली ही दबा ली। मुनि भारमलजी की निर्भीकता और स्वामीजी की सतत जागरूक आत्म-शक्ति का उन लोगों को वह प्रथम परिचय प्राप्त हुआ। यद्यपि मानसिक स्तर पर उनका विद्वेष शान्त नहीं हुआ, फिर भी उस घटना से वह दब अवश्य गया। कुछ व्यक्तियों के लिए वह घटना कालान्तर में स्वामीजी के प्रति श्रद्धाशील बनने का हेतु भी बनी।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

भाव-संयम

केलवा में स्वामीजी का प्रथम दिन उपसर्ग-विजय का रहा और द्वितीय दिन चातुर्मासिक चतुर्दशी का। तृतीय दिन वि. सं. १८१७ की आषाढ़ पूर्णिमा[1] का था, जो कि भाव-संयम ग्रहण करने के लिए निर्णीत किया गया था। उस दिन एक प्रकार के नये जीवन का प्रारम्भ होने जा रहा था, अतः पुराने जीवन के लिए व्युत्सर्ग-भाव और नये जीवन के लिए स्वीकार-भाव से सब साधुओं की मुखाकृति आनन्दातिरेक से दमक रही थी। सभी का मन अपूर्व उत्साह से भरा हुआ था।

अनुश्रुति है कि उस दिन स्वामीजी आदि सभी सन्तों के तेले की तपस्या थी। सायंकाल में चातुर्मासिक पाक्षिक प्रतिक्रमण करने से पूर्व, रात्रि के प्रारम्भकाल में साढ़े सात बजे के लगभग[2] स्वामीजी और उनके सहवर्ती साधु सम्मिलित होकर पूर्व-दिशि ईशान कोण के अभिमुख बैठे। अरिहन्त भगवान् की आज्ञा लेकर तथा सिद्धों के साक्ष्य से[3] सर्वप्रथम स्वामीजी ने मेघ-मन्द्र स्वर से सामायिक-सूत्र का उच्चारण करते हुए सामायिक-चारित्र ग्रहण किया। तत्रस्थ अन्य साधुओं ने भी स्वामीजी द्वारा उच्चारित सामायिक-पाठ के द्वारा चारित्र ग्रहण किया। तेरापंथ की वास्तविक स्थापना स्वामीजी के भाव-संयम ग्रहण करने के साथ उसी दिन हुई।

युग-प्रवर्तक स्वामीजी ने नये युग का प्रारम्भ करने के लिए जो दिन चुना, वह वस्तुतः जैनागम-सम्मत ऐसा सन्धि-दिन था कि जहां से काल-परिवर्तन की गणना सदा से की जाती रही है। कालचक्र, अवसर्पिणी काल, उत्सर्पिणी काल, अर तथा सम्वत्-परिवर्तन के लिए मान्य सन्धि-दिन, द्रव्य-संयम और भाव-संयम का भी सन्धि-दिन हो गया।

तेरापंथ की कुंडली

तेरापंथ का व्यावहारिक स्तर पर नामकरण कुछ दिन पहले जोधपुर में हो चुका था, परन्तु वैधानिक स्तर पर वह तब हुआ जब स्वामीजी ने उसे अपनी

---

१. 'अष्टादश सोले समे, सुद पूनम आषाढ़।
संयम स्वाम समाचर्‌यो, गुण गिरवो दिल गाढ़।।'
उपर्युक्त प्रकार के कुछ पद्यों में सं. १८१६ का उल्लेख मिलता है, वह संवत्-परिवर्तन के श्रावणादि-क्रम पर आधारित है।

२. भाव-दीक्षा ग्रहण करने के विषय में एक दूसरी अनुश्रुति इस प्रकार है—सभी ने चतुर्दशी का उपवास किया और उसके पारण से पूर्व पूर्णिमा के प्रातः संयम ग्रहण किया।

३. भि. ज. र. ८।४
'अरिहंत नी लेई आगन्या, पचख्या पाप अठार।
सिद्ध साखे करी स्वामजी, लीधो संजम भार।।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

व्याख्या के साथ स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् क्रियान्वयन के स्तर पर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा तब हुई जब भाव-संयम ग्रहण किया गया। उसी समय को आधार बनाकर निर्मित की गई तेरापंथ की जन्म कुंडली[1] इस प्रकार है :

वि. सं. १८१७ आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा तदनुसार ईस्वी सन् २६ जून[2], १७६०, शनिवार, सायंकाल समय ७.३० इष्टकाल ३४-१४-३७ घटी। स्थान—केलवा (जिला-राजसमन्द) राजस्थान-१

लग्न कुंडली

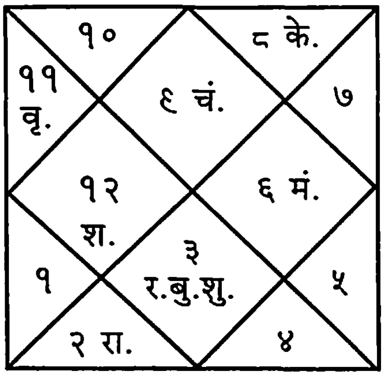

नवांश कुंडली

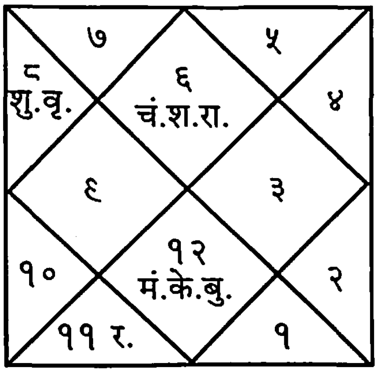

चलित कुंडली

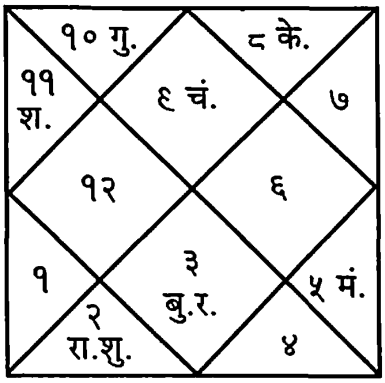

प्रथम दान

भावसंयम ग्रहण करने के पश्चात् श्रावण कृष्णा १ को प्रथम गोचरी के लिए स्वयं स्वामीजी पधारे। पहले-पहल वे राजभवन में गये। उस समय वहां के शासक रावल मोखमसिंहजी थे। वे अत्यन्त भक्त प्रकृति के व्यक्ति थे। स्वामीजी को पधारते

---

१. उक्त कुंडली 'भविष्य दर्शन' संस्थान में विजयसिंह लूनिया द्वारा कंप्यूटर से निर्मित है।

२. 'ऐतिहासिक तिथि-पत्रक' (जगदीशसिंह गहलोत द्वारा संकलित) के अनुसार उक्त पूर्णिमा को दिनांक २८ जून, १७६० शनिवार होता है।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

देखा तो बहुत प्रसन्न हुए। स्वयं रसोईघर तक साथ-साथ गये और सर्वप्रथम अपने हाथ से पात्र दान देने का लाभ प्राप्त किया। प्रथम दान का वह अवसर राज-परिवार के लिए एक वरदान ही सिद्ध हुआ। उसके पश्चात् उस परिवार के सदस्य सत्संगति का लाभ लेने लगे। कालान्तर में तो वे श्रावक के समान भक्त ही बन गये। तब से आज तक उस परिवार की भक्ति और निष्ठा तेरापंथ के प्रति अजस्र चलती आ रही है। उससे वह स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता रहा है।

ठाकुर मोखमसिंहजी

ठाकुर मोखमसिंहजी उस चतुर्मास में अनेक बार स्वामीजी के सम्पर्क में आये। उन्हें धर्म-चर्चा की अभिरुचि थी, तो स्वामीजी उसके अगाध समुद्र थे। प्रत्येक बार वे स्वामीजी से अधिकाधिक प्रभावित होकर गये। आगे के चतुर्मासों में तो उन पर स्वामीजी का ऐसा रंग चढ़ा कि एक दिन भी व्याख्यान में अनुपस्थित रहना उन्हें अखरने लगा। उनकी स्वामीजी के प्रति अत्यन्त दृढ़ आस्था हो गई। स्वामीजी के आगमन को वे अपने सौभाग्य का सूचक मानते थे।

मोखमसिंहजी प्रतिदिन व्याख्यान में आया करते थे। एक बार वर्षा के कारण गलियों में बड़ा कीचड़ हो गया। आधे मार्ग तक आने के पश्चात् इतना कीचड़ आ गया कि उसमें पैर रखे बिना आगे बढ़ सकना असम्भव था। उनको बड़ी निराशा हुई। वे सोच ही रहे थे कि अब क्या किया जाये? इतने में एक 'छुट-भाई' ने उनकी मानसिक असमंजसता को ताड़ लिया। कीचड़ पर अपनी ढाल रखते हुए वह बोला—'आप इस पर पैर रखकर पधार जाइये।' ठाकुर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कीचड़ पार करके स्वामीजी के दर्शन किये और व्याख्यान सुना। जब वापस जाने का समय हुआ तब स्वामीजी को वन्दन करते हुए उस भाई की ओर संकेत करके कहने लगे—'आज का सत्संग-लाभ तो इस भाई के कारण ही हो सका है। इस वर्ष में मैं इसे 'केरिंगपुरा'[१] ग्राम प्रदान करता हूं।' लोगों को तब पता चला कि ठाकुर साहब के मन में स्वामीजी के प्रति कितनी गहरी भक्ति है।

श्रद्धा के अंकुर

केलवा का जैन समाज प्रारम्भ में स्वामीजी का कट्टर विरोधी रहा। विद्वेष-वश कुछ लोगों ने उनके विरुद्ध अनेक गलत धारणाएं फैलाईं। फलस्वरूप कुछ दिनों तक लोगों का आगमन अत्यन्त विरल रहा। जो आते, वे भी सहृदयता से नहीं, द्वेष-बुद्धि

---

१. उक्त ग्राम का पूरा नाम 'केसरीसिंहपुरा' है, किन्तु स्थानीय उच्चारण तथा संक्षेप की स्थिति में उसे 'केरिंगपुरा' ही कहा जाता है। ऐसा भी कहते हैं कि उस 'छुट-भाई' का नाम केसरीसिंह था; अतः ग्राम का उक्त नाम बाद में प्रचिलत हुआ, पहले कुछ और ही नाम था।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

से प्रेरित होकर ही आते। तत्त्व-जिज्ञासा से तो कोई-कोई ही आया करता था। धीरे-धीरे लोगों की द्वेष-बुद्धि में परिवर्तन आने लगा। स्वामीजी की सहिष्णुता और शांत वृत्ति ने उनके द्वेष पर विजय पाई। श्रद्धा के अंकुर फूटने लगे। अनेक समझदार व्यक्ति जिज्ञासा लेकर भी आने लगे और तत्त्व को समझने का प्रयास करने लगे।

चतुर्मास के अन्त तक केलवा में अनेक परिवार स्वामीजी के भक्त बन गये। सर्वप्रथम वहां के कोठारी (चोरड़िया) परिवार ने गुरु-धारणा की। उनमें मुख्यतः ये व्यक्ति थे—केलवा ठिकाणे के प्रधान मूणदासजी, सुप्रसिद्ध श्रावक शोभजी के छोटे दादा भैरोजी और केसोजी आदि।

सफल चतुर्मास

केलवा के चतुर्मास का प्रारम्भ परीषहों के साथ हुआ, परन्तु उसकी सम्पन्नता अनेक परिवारों के भक्त बन जाने के साथ हुई। अंधेरी कोठरी पर प्राप्त विजय ने लोगों के हृदय की अंधेरी कोठरी पर भी विजय पाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। कालान्तर में तो राज-परिवार से लेकर साधारण किसान तक प्रायः सभी व्यक्ति स्वामीजी के प्रति श्रद्धावनत हो गये। परिपूर्णता की वह स्थिति धीरे-धीरे अनेक वर्षों में प्राप्त हुई।

प्रथम चतुर्मास में तो जो-कुछ हुआ, वह उसका बीजरूप ही कहा जा सकता है। प्रत्येक वृक्ष अपने विस्तार-काल से पूर्व एक छोटा-सा बीज ही होता है। उसका समग्र भाव-विस्तार उस समय उस नन्हें-से बीज में ही निहित रहता है। स्वामीजी के उस चतुर्मास में यद्यपि उपकार की अपेक्षा प्रतिकार की ही बहुलता रही, परन्तु संघर्षों पर विजय पाने का क्रम भी वहीं से प्रारम्भ हुआ। बाद में संघर्षों पर पाई गई प्रत्येक विजय के मूल में केलवा की सफलता का ही स्वर सुनाई देता है। इसलिए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि स्वामीजी का वह प्रथम चतुर्मास अपनी बीजात्मकता में अत्यन्त सफल रहा।

तेरह में से छह

चतुर्मास समाप्त हुआ, तब पूर्व निर्णय के अनुसार तेरह ही सन्त एकत्रित हुए। एकमत हो जाने के पश्चात् ही आहारादि सम्भोग सम्मिलित करने की बात स्वामीजी ने चतुर्मास से पूर्व निर्णीत की थी, अतः उस समय वे अपने-अपने सिंघाड़े के साथ ही साम्भोगिक रहे।

अधिकांश सैद्धान्तिक 'बोल' भाव-संयम ग्रहण करने से पूर्व चर्चित हो चुके थे। जो अवशिष्ट थे, उन्हें समुचित रूप से चर्चित कर ऐकमत्य प्राप्त करने के लिए उक्त उपक्रम किया गया था। स्वामीजी ने एक-एक चर्चनीय विषय को लेकर सबके साथ पुनः चर्चा प्रारम्भ की। कई दिनों की चर्चा के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

पहुंचे कि तेरह में से आठ साधु ही एक मत हैं, शेष पांच साधुओं की मान्यता भिन्न है। उनमें से मुनि बखतरामजी और गुलाबजी का झुकाव कालवादियों की ओर था तथा मुनि भारमलजी (द्वितीय), रूपचन्दजी और पेमजी अनेक 'बोलों' में भिन्न मत रखते थे। स्वामीजी ने उक्त पांचों ही साधुओं को अपने संघ में सम्मिलित नहीं किया। वे भाव-संयम के पश्चात् एक बार के लिए भी स्वामीजी से साम्भोगिक नहीं बन सके, अतः तेरापंथ के अंग भी नहीं बन सके। यही कारण है कि तेरापंथ के किसी भी इतिहासकार ने स्वामीजी के शिष्यों की क्रमिक नामावली देते समय उनके नामों का उल्लेख नहीं किया।

अवशिष्ट आठ साधु उस समय साम्भोगिक बने और अनेक वर्षों तक तेरापंथ के अंग बनकर रहे। कालान्तर में मुनि वीरभाणजी को अविनीत होने के कारण संघ से पृथक् कर दिया गया। लिखमोजी भी कुछ वर्ष पश्चात् संघ से पृथक् हो गये। इस प्रकार आदि के तेरह साधुओं में से केवल आचार्य भीखणजी, मुनि थिरपालजी, फतेहचन्दजी, टोकरजी, हरनाथजी और भारमलजी—ये छह साधु ही आजीवन साथ निभाकर तेरापंथ के अंगभूत रहे। संघ के विकास और गौरव-वृद्धि में इन्हीं का प्रशस्य योगदान रहा, अतः ये ही हमारे नमस्य आदि पुरुषों की गणना को अलंकृत कर सके।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

:५:

जन-उद्धारक आचार्य

जन-भ्रांति

स्वामी भीखणजी का मूल लक्ष्य आत्मोद्धार था, परन्तु जनोद्धार को भी वे बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य मानते थे। उनके विचार से वह आत्मोद्धार का ही अंग था। संयम, स्वाध्याय, ध्यान और तपश्चरण आदि से आत्मोद्धार के मार्ग पर वे निरन्तर अग्रसर थे, तो व्याख्यान, ध्यान, धर्म-चर्चा; वार्तालाप और प्रश्नोत्तर आदि से जनता में धार्मिक संस्कार भरने में भी पूरे प्रयत्नशील थे। परन्तु उनके लिए वह समय बड़ा विकट था। उनका प्रत्येक कार्य बाधाओं और विरोधों से घिरा हुआ था। वे जहां भी पहुंचते, वहां उन्हें विरोध का एक दावानल-सा सुलगता हुआ मिलता। आचार्य रुघनाथजी और उनके अनुयायियों ने उनके मार्ग में पग-पग पर कांटे बिछा देने में कोई कसर नहीं रखी। केलवा की ही तरह प्रत्येक गांव उनके विरुद्ध किसी-न-किसी षड्यन्त्र में संलग्न हो गया। उनके प्रति जन-मानस में घृणा भर देने के लिए अनेक प्रकार की अनर्गल बातें फैलाई गईं। कोई उन्हें 'निह्नव' करार देता, तो कोई गोशालक और जमाली से उनकी तुलना करता। कोई कहता—'उन्होंने देव, गुरु और धर्म को उठा दिया है। ये दान और दया के घोर विरोधी हैं। ये जीव को मारने में एक पाप और बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं, आदि।' कहा जाता है कि असत्य को सौ बार दुहरा देने से वह सत्य प्रतीत होने लगता है। स्वामीजी पर लगाये गये आरोप तो फिर सहस्रों बार दुहराये गये थे, अतः उनसे जन-साधारण का भ्रांत हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। स्वामीजी के प्रति घृणा का वातावरण बनाने के उक्त प्रयास की तुलना जयाचार्य ने आगम-वर्णित[1] भृगु पुरोहित के प्रयास से की है। उसने अपने पुत्रों के मन में साधुओं के प्रति घृणा भरने की अत्यन्त व्यग्रता के साथ चेष्टा की, परन्तु उसका वह प्रयास पूर्णतः असफल रहा। वे कहते हैं :

भग्गु भिड़काया पुत्रां भणी, साधां में चूक बताय।
ज्यूं भिखु स्यूं भिड़काविया, ओ हिज मिलियो न्याय।।[2]

---

१. उत्तराध्ययन; अ. १४।

२. भि.ज.र.; ६, दोहा ५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

निराशा के क्षण

जनता में प्रायः गड्डरी-प्रवाह चलता है। सत्यासत्य के निर्णय की तत्परता किसी विरल व्यक्ति में ही देखी जाती है, अधिकांश तो अनुकरण-प्रवण होते हैं। वे कुछ भी सोचे-समझे बिना अंधे की तरह एक के पीछे एक, पल्ला पंकड़ कर चल पड़ते हैं। विरोधी जनों ने जब स्वामीजी के विरुद्ध वातावरण निर्मित किया, तब मानो सर्वत्र वही हवा चल पड़ी। बाल, वृद्ध और युवा, हर कोई उसी में रस लेने लगा। स्वामीजी तथा उनके अनुयायियों को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाना, उन्हें अपमानित करना अथवा अपशब्द कह देना आदि मानो समाज में सम्मान प्राप्त करने का प्रमाण-पत्र बन गया।

स्वामीजी चाहते थे कि भगवान् महावीर के सिद्धांतों का शुद्ध स्वरूप जनता के सम्मुख रखा जाये और उसके प्रकाश में समग्र धार्मिक आचार-विचारों का विशदीकरण किया जाये, किन्तु उस समय जनता की मानसिक स्थिति स्वामीजी के विचारों को सुनने और उन पर मनन करने के अनुकूल नहीं थी। विरोधियों के प्रचार ने स्वामीजी के विरुद्ध घृणा के भाव इतने तीव्र उभार दिये थे कि साधारणतया कोई उनके पास आता ही नहीं था। कभी कोई आता भी तो तत्त्व-जिज्ञासु होकर नहीं, किन्तु स्वामीजी को कुछ अवज्ञापूर्ण शब्द सुनाकर अपने मन की भड़ास निकालने के लिए ही।

लोगों की द्वेष-बुद्धि और अज्ञान को देखकर स्वामीजी को बड़ी निराशा हुई। उन्होंने सोचा—'इस समय जनता धर्म-द्वेष से भरी हुई है। अन्ध-श्रद्धा का आवेग इतना तीव्र है कि सम्यग् दर्शन की उपलब्धि तथा सुरक्षा की ओर किसी का ध्यान नहीं है। स्थिति-पोषकता के विषमय वातावरण से बाहर निकलकर भगवान् महावीर के उदात्त सिद्धांतों के मलय-पवन का आसेवन उनके चिर-दूषित फेफड़ों को अनुकूल नहीं लग रहा है। सत्य को विवेक की तुला पर न तोल कर 'करते आये हैं' की तुला पर तोला जा रहा है। ऐसी स्थिति में धर्म-प्रचार के लिए समय लगाना, उसे सर्वथा व्यर्थ गमाना ही होगा। जब लोग बात सुनने से ही कतराते हैं तो शुद्ध श्रद्धा धारण कर श्रावक-श्राविका बनने तथा चारित्र धारण कर साधु-साध्वी बनने की बात तो बहुत दूर की है। धर्म-प्रचार सम्भव नहीं है, तब मुझे उस ओर से ध्यान हटाकर सर्वभाव से आत्म-कल्याण पर ही अपने आपको केन्द्रित कर लेना चाहिए।'

उक्त निर्णय के पश्चात् उन्होंने अपनी शक्ति के सम्पूर्ण प्रवाह को स्वकल्याण की ओर मोड़ दिया।

लोमहर्षक तपस्या

स्वामीजी के जीवन में वे क्षण अत्यन्त दुविधापूर्ण थे। सन्तजनों की परम्परा में स्व-पर कल्याण का मार्ग चिर-परिचित और चिर-अनुष्ठित रहा है, परन्तु

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी को उस उभयात्मक क्रम से हटकर एकात्मक क्रम पर लगना पड़ा। इस प्रकार जीवनक्रम को सहसा बदल लेना बहुत कठिन होता है। वैसे क्षणों में साधारण व्यक्ति परिस्थितियों के सम्मुख हार मान लेता है और निराश होकर बैठ जाता है, परन्तु स्वामीजी एक असाधारण व्यक्ति थे। उन्होंने न तो परिस्थितियों के सम्मुख हार मानी और न निराश होकर ही बैठे। चट्टान से अवरुद्ध होकर स्रोत जिस तरह अपना मार्ग जरा हट कर निश्चित कर लेता है, फिर भी उस चट्टान से लगातार टकराता रहता है और एक दिन उसकी जड़ खोद डालता है, वैसे ही स्वामीजी ने जन-कल्याण का मार्ग अवरुद्ध पाकर स्वयं को आत्म-कल्याण की ओर पूर्ण वेग से लगा दिया, किन्तु उनका संघर्षशील जीवन अंध-श्रद्धा और अंध-परम्परा से संधि करने को कभी उद्यत नहीं हुआ। जन-कल्याण और आत्म-कल्याण, इन दो प्रवाहों में बहने वाले जीवन की धारा का रुझान केवल आत्म-कल्याण की ओर ही हो जाने से उसमें और भी प्रखरता आ गई।

उन्होंने अन्य सहयोगी साधुओं के साथ एकान्तर तप प्रारम्भ कर दिया और नित्य सूर्य की आतापना लेने लगे। चौविहार उपवास, ग्रीष्म-ऋतु के दिन, मरु प्रदेश की झुलसा डालने वाली लू के झोंके और अंगार जैसी उत्तप्त वन्य धूलि—इन सबको मन की कल्पना में समन्वित करके जब स्वामीजी और उनके साथी साधुओं की उस तपस्या को समझने का प्रयास किया जाता है तो रोमांच होने लगता है। उनकी लोमहर्षक तपस्या इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि उनमें आत्म-कल्याण की कितनी उत्कट भावना थी।

पारणे के दिन भी स्वामीजी सहित सभी साधु गांव से यथाप्राप्त आहार-पानी लेकर जंगल में चले जाते। किसी वृक्ष की छाया में प्रासुक स्थान देखकर आहार-पानी को वहां रख देते और फिर आतापना लेने के लिए अंगारों से भरी अंगीठी की तरह धधकती हुई रेतीली धरती पर लेट जाते। आतापना के साथ-साथ ध्यान तथा स्वाध्याय का कार्य भी चलता रहता। उस कार्य से निवृत्त होने के पश्चात् भी वे दिनभर जंगल में ही रहते और वहीं गांव से लाया हुआ आहार-पानी ग्रहण करते। सायंकाल होने पर वापस गांव में आ जाया करते। जन-सम्पर्क के प्रायः सभी सूत्र उन्होंने स्वयं विच्छिन्न कर दिये। तपस्या के द्वारा अपने-आपको अधिकाधिक कस लेना ही उनका उस समय ध्येय हो गया था।

महापुरुषों की परम्परा में

विरोधी लोग स्वामीजी को कष्ट देने का प्रयास करते थे, पर स्वामीजी तपस्या प्रारम्भ करके उन कष्टों के साथ ही अपनी ओर से कुछ और कष्ट मिलाकर मानो जनता को यह जता देना चाहते थे कि तुम जो कष्ट पहुंचाना चाहते हो, उससे भी कहीं

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

अधिक कष्ट सहन करने की क्षमता हम रखते हैं। कष्ट और तपस्या में वस्तुतः बहुत थोड़ा ही अन्तर होता है। भावनाहीन तपस्या कष्ट बन जाती है, तो समभाव से सहा गया कष्ट तपस्या बन जाता है। जनता की दृष्टि में जो कष्ट था, स्वामीजी की दृष्टि में वह कर्म-विनाश का एक साधन था। इसीलिए उन्होंने प्रत्येक कष्ट के सामने अपने-आपको पूर्ण रूप से उपस्थित किया और पूर्ण शक्ति के साथ उसका सामना किया। उन्होंने कष्ट-भोग को दैन्य के प्रतीक से उठाकर वीरत्व के सिंहासन पर ला बिठाया।

महापुरुषों की परम्परा में कष्ट-सहन की जो अनिवार्यता देखी गई है, स्वामीजी उसके अपवाद कैसे हो सकते थे? उन्होंने कष्ट सहे और वीरतापूर्वक सहे। अपना मार्ग चुनते समय उन्हें आगामी कष्टों का भान नहीं था, ऐसी बात नहीं है। वे जानते थे कि जरा-सा झुक कर या स्थिति-पोषकता के महायन्त्र का एक पुर्जा बनकर वे दुःख के स्थान में परिपूर्ण सुख पा सकते हैं, किन्तु उन्हें वह स्वीकार्य नहीं था; किसी भी महापुरुष को स्वीकार्य नहीं हो सकता। उसका मार्ग तो कांटों के ऊपर से ही जाता है। कष्ट उसके उस महत्त्वपूर्ण जीवन के सम्बल होते हैं।

करेंगे या मरेंगे

स्वामीजी अपने कार्य को प्राणों की बाजी लगाकर करने वाले व्यक्ति थे। या तो वे कार्य को कर लेते थे या फिर उसकी सिद्धि में अपने को मिटा देने को उद्यत रहते थे। यही दृढ़ता उनकी सफलता का मन्त्र था। अपने कष्टमय जीवन और उसके पश्चात् मिली आशातीत सफलता का उल्लेख करते हुए उन्होंने मुनि हेमराजजी को अपने संस्मरण सुनाते समय जो कुछ कहा है, वह उनकी इसी दृढ़ता को सिद्ध करता है। उनके वे प्रेरक शब्द इस प्रकार हैं :

म्हे उणा नै छोड्या जद पांच वर्ष तांई तो पूरो आहार न मिल्यो...। आहार-पाणी जाच नै उजाड़ में सर्व साध परहा जावता। रूंखरा री छांयां आहार-पाणी मेल नै आतापना लेता। आथण रा पाछा गांव में आवता। इण रीते कष्ट भोगवता, कर्म काटता। म्हे या न जाणता, म्हारो मारग जमसी, नै म्हां में यूं दीक्षा लेसी, नै यूं श्रावक-श्राविका हुसी। जाण्यो, आत्मा रा कारज सारसां, मर पूरा देसां, इम जाण नै तपस्या करता....।[1]

स्वामीजी के उपर्युक्त कथन से जहां यह अच्छी तरह जाना जा सकता है कि उन्हें अनेक वर्षों तक जनता की उत्कट अवज्ञा का सामना करना पड़ा था और उन्हें जितनी सफलता मिली थी, उसकी स्वयं उन्हें कोई सम्भावना नहीं थी, वहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने निश्चय से अंशमात्र भी विचलित होने वाले नहीं

---

१. भिक्खु दृष्टांत; दृ. २७६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

थे। जनता का सहयोग न मिलने पर वे अकेले ही अभीष्ट मार्ग पर बढ़ चले थे। कवीन्द्र रवीन्द्र की निम्नोक्त पंक्तियां उनके उस एकाकी गमन पर बहुत ही ठीक उतरती हैं :

जोदि तोर डाक सुने केउ ना आसे,
तबे एकला चल ओरे।
एकला चल, एकला चल, एकला चल ओरे।।

अर्थात् 'यदि तुम्हारा आह्वान सुनकर भी कोई साथ चलने को उद्यत न हो तो तुम अकेले ही चल पड़ो, अकेले ही चल पड़ो।'

सत्य तथा न्याय के पथ पर चलते रहने का स्वामीजी का अद्वितीय आग्रह भर्तृहरि के इस सूक्त को याद दिला देता है :

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।[1]

अर्थात् 'धीर पुरुष न्याय-पथ से एक पग भी इधर-उधर नहीं होते। ऐसा करने में लोग चाहे उनकी निन्दा करें या स्तुति, सम्पत्ति ठहरे या जाये, मृत्यु चाहे आज ही आ जाये या युगों के बाद, वे उनकी कोई परवाह नहीं करते।' **आत्मा रा कारज सारसां, मर पूरा देसां**—स्वामीजी के ये **शब्द कार्यं वा साधयेयं, देहं वा पातयेयम्** अर्थात्—'करेंगे या मरेंगे' की भारतीय ऋषि-मानस से उद्‌भूत शाश्वत प्रतिज्ञा को एक बार फिर से दुहरा देने वाले थे। उनकी वह अपराजेय प्रतिज्ञा ही उनके जीवन-सूत्र की संचालक थी।

जनभावना में मोड़

स्वामीजी की तपस्या चालू थी। उनका प्रायः समस्त समय अपनी ही धर्म-क्रियाओं में लगने लगा। लोगों पर विशेष परिश्रम करने का उनका ध्येय नहीं रहा। कोई आ जाता और जिज्ञासा करता तो उत्तर दे देते, अन्यथा अपने ही चिन्तन-मनन में लगे रहते।

एकान्त साधना और मौन तपस्या का धीरे-धीरे किन्तु अज्ञात रूप से जनता पर प्रभाव पड़ने लगा। लोगों ने समझना प्रारम्भ किया कि जो व्यक्ति शुद्ध जीवन के लिए प्राणों की भी बाजी लगा सकता है, वह बहुत बड़ा त्यागी और महान् ही हो सकता है। साधारणजन की तरह उसकी भावना खान-पान की समस्या में ही

---

१. नीतिशतक; श्लोक ८४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उलझ कर नहीं रह जाती। उसकी दृष्टि बहुत गहरी और लक्ष्य बहुत ऊंचा होता है। वह इन्द्रियों का दास बनकर नहीं, किन्तु स्वामी बनकर जीने वाला होता है। इस प्रकार जन-भावना में एक नया मोड़ आया और लोगों की सहानुभूति स्वामीजी के प्रति जागरित होने लगी। जो पहले उनके मार्ग में बाधक बनना ही श्रेयस्कर मानते थे, वे तब श्रेय की खोज में उनके पास आने लगे। जो नहीं आते थे उनके मन में भी यह भावना उठने लगी कि कम-से-कम उनकी बात तो सुननी ही चाहिए। इन भावनाओं से प्रेरित होकर जो लोग स्वामीजी के पास आते, उन्हें वे आगमिक आधार से धर्म-अधर्म, व्रत-अव्रत आदि का तत्त्व बहुत ही विश्लेषणात्मक ढंग से समझाते। धीरे-धीरे लोग उनके सिद्धांतों की सत्यता को पहचानने और हृदयंगम करने लगे। अनेक व्यक्तियों ने स्वामीजी की शुद्ध श्रद्धा को ग्रहण भी किया, परन्तु स्वामीजी उस ओर से पूर्ववत् उदास ही बने रहे। वह उदासी सम्भवतः और भी लम्बी चलती, परन्तु एक प्रेरक घटना ने उनके जीवन-क्रम को ऐसा बदल दिया कि वे सहसा ही एक जन-उद्धारक आचार्य के रूप में जन-जीवन में आ गये।

एक प्रेरणा

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को बोधि प्राप्त हुई, तब उन्हें लगा कि सुखैषी लोग उनकी बात नहीं सुनेंगे और उसका अनुसरण नहीं करेंगे, अतः एकान्त में मौन धारण कर रहना ही ठीक होगा। उस समय ब्रह्मदेव ने आकर उन्हें प्रेरणा दी कि धर्म को समझने वाले अनेक लोग आपको मिलेंगे, आप उपदेश दें। आपके मौन से उन धर्म-जिज्ञासुओं को भारी हानि हो रही है जो आपके धर्म-वाक्य सुनकर उद्बुद्ध होने वाले हैं।

स्वामी भीखणजी के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी। उन्हें भी मौन साधना करते देखकर ब्रह्मदेव की तरह दो साधुओं ने धर्म-प्रचार के लिए प्रेरित किया। उन प्रेरक संतों के नाम थे—मुनि थिरपालजी और मुनि फतहचन्दजी। वे दोनों ही साधु आचार्य जयमलजी के टोले से स्वामीजी के साथ आये थे और संसार-पक्ष से पिता-पुत्र थे। दोनों ही बड़े तपस्वी, भद्र और विचारशील साधु थे। स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहते समय वे दीक्षा पयार्य में स्वामीजी से बड़े थे, अतः परमार्थी और नम्र स्वभावी स्वामीजी ने अपनी निरहंकारिता और उदारता का परिचय देते हुए भाव-चारित्र लेते समय भी उन्हें दीक्षा-पर्याय में अपने से बड़ा ही रखा। पर्याय-वृद्ध सन्तों के प्रति स्वामीजी की आदर-भावना का यह सजीव उदाहरण कहा जा सकता है।

दोनों साधुओं ने जब देखा कि लोग आते हैं, जिज्ञासा करते हैं और अन्ततः ी भी हैं, परन्तु स्वामीजी उन पर अधिक ध्यान नहीं देते, तब एक दिन वे आये ैनयपूर्वक स्वामीजी से निवेदन करने लगे—'आप तपस्या के द्वारा अपने शरीर

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

को इस प्रकार क्षीण मत कीजिये। तपस्या करने के लिए तो हम बहुत हैं, क्योंकि इससे आगे हमारी पहुंच नहीं है। आप धर्म-प्रचार कर सकते हैं। आपकी प्रत्युत्पन्न-बुद्धि, अगाध शास्त्र-ज्ञान, मर्मस्पर्शिनी प्रतिपादन-शैली और भावोपयुक्त भाषा संसार को प्रकाश देकर सन्मार्ग दिखला सकती है। आप भगवान् महावीर के अमृतमय धर्म का जनता को उपदेश दीजिये। आपके द्वारा प्रतिपादित धर्म-रहस्य को हृदयंगम करने की योग्यता रखने वाले अनेक व्यक्ति आपको मिलेंगे। जगत् में ऐसे अनेक जीव हैं, जिनकी ज्ञान-शक्ति पर काई आई हुई है। आपके धर्म-वाक्य कान में पड़ने पर वह हटेगी और जनता को ज्ञान-लाभ होगा। आपने जो आलोक पाया है, उस पर समस्त संसार का अधिकार है, क्योंकि आप समस्त संसार के आत्मीय हैं। अपने इस आलोक को मुक्त-भाव से वितरित कीजिये। हमें विश्वास है कि वह उत्तरोत्तर फैलेगा और जनता उससे अपना लक्ष्य प्राप्त करेगी।'

प्रेरणा की प्रतिक्रिया

मुनि-युगल के अन्तःकरण से निकली हुई सहज वाणी ने स्वामीजी के हृदय को बहुत प्रभावित किया। उन्होंने उस सत्परामर्श को सम्मान देते हुए कहा—'मुनिजनो! आप दोनों रात्निक हैं, अतः पूजनीय हैं। आपकी यह लोक-हितैषिता बहुत ही प्रशंसनीय है। आप जिस कार्य की प्रेरणा देने आये हैं, वह तो मेरे स्वभाव के सदा अनुकूल रहा है, किन्तु जनता की उदासीनता ही उसमें बाधक थी। आज आपके सरल हृदय से उद्गत विचारों ने जो मांग की है, मैं उसे ठुकराऊंगा नहीं। आपकी भविष्य-वाणी को कार्यरूप में परिणत करने के लिए जिस प्रयास की आवश्यकता है, उसका भार अपने ऊपर लेने में मुझे तनिक भी हिचकिचाहट नहीं है।' मुनि थिरपालजी और मुनि फतहचन्दजी अपने परामर्श की सहज स्वीकृति से गद्गद हो उठे।

अवसर पर दी गई उक्त छोटी-सी प्रेरणा उस समय केवल एक सामान्य बातचीत ही थी, परन्तु आज स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य एक विशिष्ट गौरवपूर्ण घटना के रूप में वह हमारे सामने है। उस समय स्वयं प्रेरकों को भी यह अनुमान नहीं होगा कि उनकी वह साधारण-सी प्रेरणा लाखों जीवों के कल्याण की हेतु बनकर संसार के लिए एक अलौकिक देन सिद्ध होगी तथा नवोदित तेरापंथ के जीवन में एक नया मोड़ ला देगी। स्वामीजी के जन-उद्धारक जीवन का सूत्रपात करने का श्रेय इसी घटना को दिया जा सकता है।

धर्म-प्रचार की ओर

स्वामीजी उसी दिन से धर्म-प्रचार की ओर विशेष ध्यान देने लगे। जो लोग जिज्ञासु बनकर आते, उन पर अथक परिश्रम करते और आगम-न्याय के आधार पर उनके हृदय में सम्यग्-दर्शन का बीजारोपण करते। क्रमशः लोगों का आगमन

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

बढ़ने लगा और तात्त्विक विचारों की जिज्ञासा जोर मारने लगी। अनेक व्यक्तियों ने धर्म के मर्म को समझा और उसे ग्रहण किया।

स्वामीजी उस समय मारवाड़ में विहार कर रहे थे। केलवा-चतुर्मास के पश्चात् बहुत स्वल्प समय तक ही वे मेवाड़ में ठहरे प्रतीत होते हैं। तपस्या प्रारम्भ करने से लेकर धर्म-प्रचारार्थ मुनि-द्वय द्वारा दी गई प्रेरणा तक की सभी घटनाएं मारवाड़ में ही घटित हुईं। स्वामीजी जब पुनः धर्म-प्रचार में लगे, तब मारवाड़ में अच्छी धर्म-जागरणा हुई। उससे उत्साहित होकर वे पुनः मेवाड़ में पधारे। **प्रगढ़ मेवाड़ में पूज्य पधारिया**[1]—जयाचार्य का यह पद्यांश इसी बात की ओर इंगित करता है।

मारवाड़ की ही तरह मेवाड़ में भी उन्होंने लोगों की जिज्ञासा-वृत्ति को अतिशय जागरित पाया। यद्यपि उनकी द्वेष-बुद्धि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था, फिर भी वे आते और धर्म-चर्चा करते, तब सौ में से दो तो समझते ही। स्वामीजी उतने मात्र से भी अपने श्रम को सफल मानते। दिनभर लोगों को समझाते रहने पर स्वामीजी को लगा कि अपने विचारों को जन-सुलभ बनाने के लिए उन्हें पद्य-बद्ध कर देना चाहिए। तभी से उन्होंने आचार, अनुकम्पा, व्रत, अव्रत आदि तत्कालीन चर्चास्पद विषयों पर 'जोड़'—पद्य-रचना प्रारम्भ की।[2] उसके माध्यम से उन्होंने तत्कालीन जिज्ञासाओं को जहां समाहित किया, वहीं आगम-सम्मत विचारों की बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री भी संकलित कर दी। कालान्तर में तो उन्होंने नव पदार्थ, श्रावक के बारह व्रत और श्रद्धा आदि अनेक विषयों पर विवेचनात्मक तथा प्रेरणास्पद ग्रंथों का निर्माण किया।

जन-उद्धार के लिए विभिन्न प्रदेशों में स्वामीजी के विहार और प्रत्यक्ष परिचय ने जितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उतना ही उनके ग्रंथों ने भी किया। साधारण श्रावक भी उनकी गीतिकाओं को सीखकर जहां तत्त्व तथा आचार-विषयक विशेषज्ञ हो जाता था, वहां उस समय चलने वाले शास्त्रार्थों या चर्चाओं में भी अजेय हो जाया करता था।

आत्म-बल ही सहायक

स्वामीजी के पास उस समय हर प्रकार की सामग्री का प्रायः अभाव ही था। वे जहां जाते, वहां अधिकांश व्यक्ति उनके विरोधी होते, सहायक बहुधा कोई नहीं होता। यदि कोई होता भी, तो वह सामाजिक बहिष्कार के भय से खुलकर सामने नहीं आ पाता। प्रायः प्रत्येक गांव में शास्त्रार्थ या चर्चा का वातावरण बना रहता। अपने विरुद्ध प्रसारित की गई भ्रान्तियों का निराकरण करने में भी उन्हें काफी

---

१. भि.ज.र.; १०।१०।

२. जिन रचनाओं में स्वामीजी ने रचना-काल नहीं दिया है, कहा जाता है कि वे सब उक्त प्रारम्भ-काल की रचनाएं हैं।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

शक्ति लगानी पड़ती। स्वयं सहित आठ साधुओं का छोटा-सा संघ और अंगुलि-गणनीय श्रावक-वर्ग, बस इसी नगण्य सामग्री के आधार पर उन्होंने अपना कार्य प्रारम्भ किया। उस समय यदि कोई उनका प्रबल सहायक था, तो वह एकमात्र आत्म-बल ही था। उसी के आधार पर उन्होंने वैसा कार्य कर दिखाया, जैसा सभी प्रकार की साधन-सम्पन्नता में भी हो पाना सम्भव नहीं होता। चारों ओर से घुमड़ कर आती हुई विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने कभी अपना धैर्य नहीं खोया और धीरे-धीरे उन सभी पर विजय प्राप्त कर ली, यह उनके व्यक्तित्व की विरल-प्राप्य विशेषता थी।

संस्कृत-कवि वागीश्वर ने एक नीति श्लोक में लंका-अभियान के समय राम की विषम स्थितियों का वर्णन करते हुए लिखा है :

विजेतव्या लङ्का चरण-तरणीयो जलनिधिः,
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्येको रामः सकलमवधीद् राक्षस-कुलं,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे।।

अर्थात् 'लंका जैसी दुर्जेय नगरी को जीतना था, समुद्र के अगाध जल को लांघना था, रावण जैसे बलिष्ठ शत्रु से भिड़ंत थी, रण-भूमि में सहायक थे मात्र बन्दर, फिर भी अकेले राम ने समग्र राक्षस-वंश को पराजित कर दिया, क्योंकि कार्य-सिद्धि महापुरुषों के आत्म-बल पर जितनी आधारित होती है, उतनी बाह्य उपकरणों पर नहीं।' राम की उपर्युक्त स्थिति से स्वामीजी की तत्कालीन स्थिति बहुत-कुछ मेल खाती है। उनकी विजय का मूल भी उन्हें प्राप्त साधारण साधन-सामग्री में नहीं, किन्तु उनके अपार आत्मबल में निहित था। अन्यथा उतने बड़े सुनियोजित विरोध के सम्मुख अकेले व्यक्ति का टिक पाना और फिर उसमें विजय प्राप्त करना असम्भव ही होता। एकमात्र स्वामीजी के आत्मबल ने ही वहां असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया। उसी के बल पर वे सभी समस्याओं के सम्मुख अडिग धैर्य के साथ डटे ही नहीं रहे, अपितु उन सभी को परास्त भी किया।

संदेशवाहक

धीरे-धीरे प्रचार-कार्य में उन्हें अकल्पनीय सफलता मिलने लगी। लोग उनसे अपने-अपने ग्रामों में पधारने के लिए प्रार्थना करने लगे। क्वचित् ग्राम के ग्राम उनके भक्त बन गये। स्वामीजी का मन उस भक्ति-भाव से कभी अहंकार-पूरित नहीं हुआ। वे तो अपने आपको भगवान् का एक संदेश-वाहक ही मानते रहे। केलवा के रावल ठाकुर मोखमसिंहजी के एक प्रश्न पर दिये गये उत्तर से उनकी यह भावना एकदम स्पष्ट हो जाती है। एक बार केलवा में स्वामीजी

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

विराजमान थे। धर्म-परिषद् जुड़ी हुई थी। रावल मोखमसिंहजी दर्शन करने तथा व्याख्यान सुनने के लिए आये। व्याख्यान के पश्चात् वे बातचीत करने के लिए उपपात में बैठ गये। कुछ लोग बाहर से आये हुए थे। वे स्वामीजी से अपने यहां पधारने के लिए प्रार्थना कर रहे थे। स्वामीजी जब उनसे निवृत्त हुए तो रावलजी ने प्रश्न करते हुए कहा—'स्वामीजी! आपके पास गांव-गांव की प्रार्थनाएं आती हैं, लोग आपकी इतनी भक्ति करते हैं, आपको अपने यहां आया देखकर हर्ष-विभोर हो उठते हैं। आप में ऐसी क्या विशेषता है कि जिससे आपके प्रति लोगों का इतना आकर्षण है?'

स्वामीजी ने कहा—'जिस प्रकार किसी पतिव्रता नारी का पति परदेश में हो और उसका संदेशवाहक बनकर कोई व्यक्ति उसके यहां आये, तो वह बहुत प्रसन्न होती है। उसको ससम्मान पास में बिठाकर सारे समाचार पूछती है, भोजन आदि सुविधाओं की भी व्यवस्था करती है। संदेशवाहक का वह सम्मान उसकी अपनी गुण-गरिमा से नहीं, किन्तु पति का संदेश लेकर आने से होता है। उसी प्रकार जनता हमारा जो सम्मान करती है तथा हमें जो चाहती है, उसका कारण भी यही है कि हम भगवान् के संदेशवाहक हैं। हम उन्हें भगवद्-वाणी सुनाते हैं। उससे सभी को आत्म-सुख और शांति की प्राप्ति होती है।'[1]

ठाकुर मोखमसिंहजी का उपर्युक्त प्रश्न तथा स्वामीजी का उत्तर, इस बात के प्रमाण हैं कि स्वामीजी जब धर्म-प्रचार की ओर ध्यान देने लगे तब जनता में उनके प्रति आकर्षण बढ़ा और वह उनकी भक्त बनने लगी। स्वामीजी में एक चुम्बकीय शक्ति थी, जिससे लोग स्वतः ही उनकी ओर आकृष्ट होते चले जाते थे। जो लोग स्वामीजी के भक्त बने, उनके प्रति उनके पूर्व गुरुओं ने सम्भवतः पूर्ण निराश होकर ही यह कहा होगा—**भीखण रा भरमाया, कदे न पाछा आया।** स्वामीजी वस्तुतः एक महान् साधक, महान् सुधारक, महान् आचार्य तथा महान् जन-उद्धारक पुरुष के रूप में इस धरती पर आये और अपने लक्ष्य में पूर्णरूपेण सफल होकर जनता के हृदयेश्वर बन गये।

चतुर्विध संघ

जैन परम्परा में संघ की परिपूर्णता उसकी चतुर्विधता में मानी गई है। प्रारम्भिक वर्षों में तेरापंथ में साध्वियां नहीं थीं, अतः लगभग चार वर्षों तक वह त्रिविध ही रहा। उस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए एक दिन किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—'भीखणजी! तुम्हारे संघ में तो केवल तीन ही तीर्थ हैं—साधु, श्रावक और श्राविका। साध्वियों के अभाव में तुम्हारे संघ का यह मोदक अपूर्ण ही है।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ८७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने उस व्यंग्य का उत्तर देते हुए कहा—'हमारा यह मोदक अपूर्ण भले ही हो, पर है चौगुनी चीनी का। इसलिए जितना है, उतना पूर्ण रूप से स्वादिष्ट है।'[1]

स्वामीजी ने इस उत्तर से यह भी समझा दिया कि जिस प्रकार चीनी के अभाव में पूर्ण मोदक भी स्वादहीन होता है, उसी प्रकार चारित्र के अभाव में संघ की चतुर्विधता भी महत्त्वहीन ही होती है। जिस संघ में गुणी तथा चारित्रवान् व्यक्ति रहते हैं, वहां चतुर्विधता चाहे न हो, पर उसकी महत्ता और वास्तविकता कहीं नहीं जाती।

इस घटना के थोड़े दिन पश्चात् ही स्वामीजी के संघ में दीक्षित होने के लिए तीन बहिनें आईं। तीनों ने एक साथ मिलकर स्वामीजी से अपनी दीक्षा की भावना निवेदित की। स्वामीजी प्रत्येक कार्य को अत्यन्त दूरदर्शिता और सावधानी से किया करते थे, अतः अपने स्वभावानुसार उन्होंने सोचा कि जैनागमों के नियमानुसार कम-से-कम तीन साध्वियों का साथ रहना आवश्यक है। यदि इनके प्रव्रजित होने के पश्चात् किसी एक का भी वियोग हो जाये, तो शेष दो साध्वियों के लिए 'संलेखना' के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह जाता। उन्होंने अपना यह विचार दीक्षार्थिनी बहिनों के सम्मुख रखा और दीक्षा लेने से पूर्व उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेने के लिए कहा।

तीनों ही बहिनों ने उस बात पर गहराई से विचार कर स्वामीजी से निवेदन किया कि यदि हम में से किसी एक का वियोग हुआ, तो शेष दो संलेखनापूर्वक शरीर विसर्जन के लिए प्रस्तुत रहेंगी। बहिनों के उस वीरता-सूचक उत्तर से स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। उनके वैराग्य-भाव से तो वे पहले से ही आश्वस्त थे, अब उनकी दृढ़ता का भी परिचय मिल गया। इस प्रकार पूर्ण परीक्षा कर लेने के पश्चात् स्वामीजी ने तीनों बहिनों को एक साथ दीक्षा प्रदान की। तेरापंथ में सर्वप्रथम दीक्षित उन साध्वियों के नाम क्रमशः कुशालांजी, मट्टूजी और अजबूजी थे।

साध्वियों के तीर्थ की वह स्थापना सं. १८२१ में हुई। तेरापंथ की क्रमिक विकासशीलता में उक्त घटना को एक नई कड़ी कहा जा सकता है। चतुर्विधता की उस पूर्ति के पश्चात् वह परम्परा निरन्तर चालू रही। यद्यपि उन तीनों साध्वियों में से एक अजबूजी को प्रकृति की खराबी के कारण कालान्तर में संघ से पृथक् कर दिया गया, फिर भी शेष साध्वियों के समक्ष संलेखना करने की कोई परिस्थिति पैदा नहीं हुई, क्योंकि उस समय तक और भी बहिनें दीक्षित हो चुकी थीं।

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

संख्या वृद्धि

जनता स्वामीजी के विचारों को धीरे-धीरे, किन्तु विचारपूर्वक अपनाती गई, अतः श्रावकों और श्राविकाओं की संख्या संतोषजनक क्रम से वृद्धिंगत होती रही। बहिनों की दीक्षा हो जाने के पश्चात् संघ की त्रिविधता भी चतुर्विधता में परिणत हो गई। परन्तु साधुओं की संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई। वह आठ की आठ ही रही। अनेक वर्षों तक न कोई भाई दीक्षित हुआ और न अन्य संघों से आकर कोई सम्मिलित ही हुआ। वह बाधा तब टूटी, जब सर्वप्रथम सं. १८२२ में मुनि सुखरामजी दीक्षित हुए। वे नवम साधु थे।

यद्यपि तेरापंथ के नामकरण में साधुओं की तेरह संख्या का महत्त्वपूर्ण योग रहा था, फिर भी लम्बे समय तक वह संख्या पुनः प्राप्त नहीं की जा सकी। सं. १८४४ और ४७ के बीच में एक बार संतों की संख्या १२-१४ हुई थी, परन्तु वह अल्पकालिक ही सिद्ध हुई। उस अस्थायी संख्या को नगण्य मानकर कहा जा सकता है कि लगभग ३६ वर्षों तक संघ में आठ और बारह के बीच में ही साधु रहे। तेरहवीं संख्या की स्थायी पूर्ति सं. १८५३ में तब हुई, जब स्वामीजी के पास मुनि हेमराजजी ने दीक्षा ग्रहण की। उसके पश्चात् उस संख्या में कभी ह्रास नहीं हुआ।[1] तेरापंथ के लिए चतुर्मुखी प्रगति का समय वस्तुतः वहीं से प्रारम्भ हुआ समझा जाता है।

---

१. भि.ज.र.; १।१४

'द्वादश मुनि था तेपनै, स्वाम भिक्खु रै जोय।
तब हेम हुआ मुनि तेरमा, पछै न घटियो कोय।।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

: ६ :

जीवन-संग्राम

समस्या-संकुल वर्ष

स्वामीजी का जीवन सैनिक का-सा जीवन था। उन्होंने उसे सदैव एक संग्राम समझा। सफल योद्धा की तरह एक-एक मोर्चे पर विजय प्राप्त करते हुए वे अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर होते रहे। असंयम को पराजित कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संयम के वर्चस्व की स्थापना करना उनका लक्ष्य था। उसमें वे पूर्णतः सफल हुए।

आभ्यन्तर मोर्चे पर यद्यपि अपने लक्ष्य में उन्हें निर्विकल्प विजय प्राप्त हुई थी, फिर भी बाह्य मोर्चे पर काफी लम्बे समय तक उनका संग्राम चालू रहा। भाव-संयम की स्थापना के पश्चात् वे प्रकृति-जनित तथा विरोधियों द्वारा उद्भावित परीषहों से जूझते रहे। वे उस संग्राम में कभी थके नहीं, ऊबे नहीं और झुके भी नहीं। पराजय तो कभी उनके सामने आ नहीं सकी। फिर भी जीवन-संग्राम के उस विजयी योद्धा को संन्यस्त जीवन के अपने अनेक वर्ष समस्याओं से घिरे रहकर बिताने पड़े।

स्थान, वस्त्र और आहार—शरीर-धारण के साथ ये तीन अनिवार्य आवश्यकताएं जुड़ी हुई हैं। इन्हें उत्तरोत्तर अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। स्वामीजी को इन तीनों में से किसी एक की भी पूरी सुविधा प्राप्त नहीं थी। उनके विरुद्ध किये जाने वाले दुष्प्रचार के प्रवाह में बहकर लोगों द्वारा वैयक्तिक रूप से तथा जहां संभव हो सका वहां सामाजिक रूप से भी उन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाते रहे। यही कारण था कि साधना-काल के उनके प्रारम्भिक वर्ष अत्यन्त समस्या-संकुल तथा कष्टपूर्ण रहे।

स्थान की समस्या

स्वामीजी किसी गांव में जाते तो पहले-पहल स्थान की समस्या उनके सामने आती। सहज रूप में उपयुक्त स्थान मिल पाना प्रायः कम ही सम्भव होता। जब कभी कोई स्थान मिल जाता, तो विरोधी लोग उसे छुड़ाने का प्रयत्न करने लगते। मकान-मालिक पर अनेक प्रकार से दबाव डाला जाता कि वह अपना

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्थान खाली करा ले। उनके जीवन में ऐसे अनेक अवसर आये, जब उन्हें आवास छोड़कर और कभी-कभी गांव छोड़कर भी जाना पड़ा, परन्तु उन्होंने उन घटनाओं से कभी अपने मन को विक्षुब्ध नहीं होने दिया। वे एक महान् सन्त थे। सन्त-पुरुषों की महान् परम्परा के अनुरूप ही उन्होंने उन सबको समभाव से सह लिया। उसके लिए कभी किसी पर दोषारोपण नहीं किया।

पाली में स्थान-परिवर्तन

एक बार पाली में चतुर्मास करने के लिए स्वामीजी पधारे। वहां बाजार में एक दुकान खाली थी। उसके स्वामी की आज्ञा लेकर वहां ठहरे। आचार्य रुघनाथजी भी पाली में ही थे। उन्होंने दुकान वाले के घर जाकर उसकी पत्नी को बहका दिया कि चतुर्मास प्रारंभ हो जाने के पश्चात् ये तुम्हारी दुकान किसी भी स्थिति में खाली नहीं करेंगे। बहिन ने स्वामीजी को स्थान खाली करने का निर्देश देते हुए कहा—'यहां ठहरने के लिए मेरी आज्ञा नहीं है।'

स्वामीजी ने उसे समझाने का बहुत प्रयास किया, परन्तु वह टस-से-मस भी नहीं हुई। उसने कहा—'मुझे तुम्हारे जैसे ही पट्टीवाले साधुओं ने आकर बतलाया है कि चतुर्मास प्रारम्भ होने के पश्चात् तो तुम किसी भी प्रकार से यह स्थान नहीं छोड़ोगे, इसलिए मेरा मकान तो अब ही खाली कर दो।'

आखिर स्वामीजी ने दूसरे मकान की गवेषणा करके उसे खाली कर देने का निश्चय बतलाया तब वह मान गई। स्वामीजी स्वयं गोचरी के लिए गये तब स्थान-विषयक पूछताछ भी की। उदयपुरिया बाजार में एक दुकान की दूसरी मंजिल उन्हें प्राप्त हो गई। स्थानदाता को भ्रांत करके पीछे से कोई उसे बंद न करवा दे—इसलिए स्वामीजी वहीं ठहर गये और साथ के साधु को भेजकर उपकरण मंगवा लिए। दिन में ऊपर रहते और रात को नीचे बाजार में व्याख्यान देते। प्रथम स्थान की अपेक्षा वह कहीं अधिक अच्छा तथा मौके का था। रात्रिकालीन व्याख्यान में वहां लोग काफी आने लगे। आचार्य रुघनाथजी ने उस स्थान को छुड़ाने के लिए भी अनेक प्रयास किये, किन्तु गृहस्वामी ने कहा—'कार्तिक-पूर्णिमा तक तो मैं वचन-बद्ध हूं, अतः किसी भी स्थिति में उन्हें निषेध नहीं करूंगा। उसके पश्चात् वे ठहरेंगे नहीं।'

उस चतुर्मास में वर्षा बहुत हुई। स्वामीजी जिस दुकान में पहले ठहरे थे, वह संयोगवश गिर गई। स्वामीजी को जब पता चला, तब उन्होंने कहा—'स्थान छुड़ाने की प्रेरणा करने वालों पर छद्मस्थता के कारण आक्रोश की लहर आने का प्रसंग था, पर मानना चाहिए कि उन्होंने हमारा उपकार ही किया।'[1]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने पाली में अपना प्रथम चतुर्मास वि. सं. १८२३ में किया था। अनुश्रुति है कि उसी समय की यह घटना है।

किराये पर दे दो

उस युग में ऐसे मतान्ध व्यक्तियों की कोई कमी नहीं थी, जो हर प्रकार से स्वामीजी का विरोध करने को उद्यत रहा करते थे। यदि कहीं रुपये व्यय करके भी उन्हें स्थान या ग्राम से हटाया जा सकता, तो वे वैसा करने में किंचित् भी नहीं हिचकते थे। पाली के ही किसी चतुर्मास की घटना है। स्वामीजी बाजार की एक दुकान में ठहरे। लोगों का आना-जाना काफी होने लगा। विरोधी व्यक्तियों को उसमें खतरा दिखाई दिया। मूर्तिपूजक आम्नाय के बाबेचा परिवार के कुछ व्यक्ति तो विद्वेषाग्नि में मानो जल उठे। वे नहीं चाहते थे कि स्वामीजी का वहां चतुर्मास निर्विघ्न सम्पन्न हो जाये। अनेक दिनों तक तो वे व्याख्यान आदि में तरह-तरह से विघ्न डालते रहे, पर छोटे-मोटे विघ्नों का जब कोई प्रभाव पड़ता दिखाई नहीं दिया, तब उन्होंने स्थान छुड़ाने की योजना बनाई।

गृहस्वामी के पास जाकर कहने लगे—'हमें एक दुकान की आवश्यकता है। तुम्हारी वह दुकान दे दो तो बाजार भाव से दुगुना किराया दे दिया जायेगा।'

गृहस्वामी उन लोगों की भावना को तत्काल समझ गया। वह बोला—'अभी तो वहां स्वामीजी ठहरे हुए हैं, अतः यदि तुम पूरी दुकान को रुपयों से मढ़ दो, तो भी नहीं दूंगा। चतुर्मास समाप्त होने पर जब वे विहार कर दें, तब भले ही ले लेना।'

उनको दुकान थोड़े ही लेनी थी? वह तो मात्र एक बहाना था। मूल उद्देश्य तो स्वामीजी से स्थान छुड़ाने का था। गृहस्वामी की दृढ़ता को देखकर वे समझ गये कि यहां कृतकार्य होना संभव नहीं है।[1]

या भीखणजी, या हम

स्थान छुड़ाने में असफल होने पर भी बाबेचा आदि लोग चुप होकर नहीं बैठे। उन्होंने उससे भी बड़ी दूसरी योजना बनाई। वे स्वामीजी को पाली से ही निकलवा देने का स्वप्न लेने लगे। एक दिन वे सब मिलकर हाकिम जेठमलजी के पास गये। उनके सम्मुख अपने मकानों तथा दुकानों की चाबियां रखकर कहने लगे, 'इन्हें संभालिये और हमें पाली से चले जाने की आज्ञा दीजिए।'

एक साथ अनेक साहूकारों द्वारा पाली छोड़ने की तैयारी देखकर हाकिम चकराये। उन्होंने पूछा—'ऐसी कौन-सी विकट स्थिति उत्पन्न हो गई है कि आप सबको नगर-त्याग का निर्णय करना पड़ा?'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ६५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वे बोले—'पाली में अब या तो भीखणजी रहेंगे या हम। दोनों कदापि नहीं रह सकते।'

हाकिम और भी अधिक चकराये। उन्होंने कहा—'ऐसा अन्याय तो मैं कभी नहीं कर सकता। नगर में तो वेश्या तथा कसाई जैसे पापिष्ठ व्यक्ति भी रहते हैं। उन्हें भी जब नहीं निकाला जाता, तब भीखणजी को कैसे निकाला जा सकता है? वे तो एक असाधारण सन्त पुरुष हैं।'

उन लोगों ने कहा—'ठीक है, आप उन्हें रखिये, हम जा रहे हैं।'

हाकिम ने आकृति पर थोड़ी अन्यमनस्कता लाते हुए कहा—'कुछ ही वर्ष पूर्व की एक घटना सुनाता हूं। जोधपुर राज्य में मोती नामक एक बनजारा आया करता था। वह बाहर से लाया हुआ माल यहां बेचता और यहां से नमक ले जाता था। व्यापारिक सामान को ढोने के लिए उसके पास एक लाख बैल थे। इसीलिए लोग उसे 'लक्खी बालदिया' अथवा 'लक्खी बिणजारा' कहा करते थे। वह जिस मार्ग से आता-जाता, उस मार्ग के खेत बैलों द्वारा रौंद दिये जाते थे। किसानों ने जोधपुर नरेश विजयसिंहजी के पास उसकी शिकायत की। नरेश ने मोती को बुलाया और कहा—'खेतों को बचाकर आया-जाया करो।'

मोती अपनी व्यापारिक शक्ति के मद में बोला—'मोती आयेगा, तब तो यों ही होगा।'

नरेश उसकी उद्दण्डता से क्रुद्ध होकर बोले—'यों ही होगा, तो आगे के लिए मेरे राज्य में आने की आवश्यकता नहीं है। हमारे यहां नमक है, तो उसके ग्राहक अन्य व्यापारी आते रहेंगे। व्यापार के नाम पर तुम्हें अन्याय की छूट नहीं दी जा सकती।'

हाकिम ने कहा—'मोती चला गया, तो जोधपुर राज्य का कुछ नहीं बिगड़ा। स्वयं उसी का व्यापार चौपट हो गया। तुम लोग भी अपना हानि-लाभ सोच लो। यदि चले जाओगे, तो हम यहां अन्य व्यापारियों को ला बसायेंगे। तुम्हारे लिए सन्तों को निकालने का अन्याय नहीं किया जायेगा।'

बाबेचों ने चाबियां उठाईं और चुपचाप अपने-अपने घर चले गये।[1]

उदयपुर से निष्कासन

स्वामीजी शेष काल में एक बार उदयपुर पधारे। वहां गवेषणा करने पर मौके का स्थान मिल गया। लोगों का आगमन काफी होने लगा। विरोधीजनों को वह कैसे अच्छा लग सकता था? उन्होंने स्वामीजी के विरुद्ध अन्दर-ही-अन्दर षड्यन्त्र

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ६५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

करना प्रारम्भ कर दिया। उनमें अनेक प्रभावशाली तथा पहुंच वालें व्यक्ति थे। उन्होंने उल्टी-सीधी बातें बताकर महाराणा को भ्रांत कर दिया। महाराणा ने भी आगे-पीछे का चिंतन किये बिना एक अविमृश्यकारी की तरह आदेश दे दिया कि भीखणजी को उदयपुर से चले जाने के लिए कह दिया जाये।

महाराणा का आदेश-पत्र लेकर हरकारा स्वामीजी के पास आया और उक्त आदेश से उनको अवगत किया। उस अप्रत्याशित आदेश से स्वामीजी को आश्चर्य अवश्य हुआ, परन्तु वे क्षुब्ध किंचित् भी नहीं हुए। सहज भाव से उन्होंने वहां से विहार कर दिया।

उदयपुर में उस समय तक स्वामीजी के अनेक अनुयायी बन चुके थे। फिर भी वे बहुत स्वल्प थे। विरोधियों की संख्या के सम्मुख तो वे नगण्य थे। न उनके पास बहुत बड़ा अर्थ-बल था और न कोई विशेष पहुंच वाला व्यक्ति ही। महाराणा का आदेश उन्हें अत्यन्त अपमानजनक लगा, पर वे कुछ नहीं कर पाये। उन भक्तों में एक मनजी पोरवाल थे। वे मारवाड़ से आकर उदयपुर में बसे थे। व्यापार के द्वारा उन्होंने अच्छा धनार्जन किया था। व्यापारियों आदि में जान-पहचान काफी थी, पर महाराणा तक पहुंचने का कभी अवसर नहीं आया। उन्होंने कभी वैसा प्रयास भी नहीं किया। स्वामीजी के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी, अतः उनके नगर-त्याग से क्षुब्ध होकर उन्होंने महाराणा से मिलने का निर्णय किया। वे राजसभा में गये और 'नजराना' करके कुछ निवेदन करने की मुद्रा में खड़े हो गये। महाराणा ने उनको अपने समीप बुलाया, तब उन्होंने निवेदन किया कि नगर में सभी प्रकार के लोग रहते हैं, वहां सन्तों को नगर-त्याग का आदेश देना महाराणा-परिवार और उदयपुर की परम्परा के अनुकूल कैसे हो सकता है? महाराणा ने तब उनसे स्वामीजी के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त की। सारी स्थिति समझ में आने पर महाराणा को पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने भ्रान्त धारणाओं के फेर में आकर सन्तों का अपमान कर दिया। उन्होंने तत्काल अपना पूर्व आदेश वापस ले लिया।[1] इतना ही नहीं, अनुश्रुति है कि उन्होंने मनजी के साथ अपने व्यक्ति को भेजकर स्वामीजी को पुनः उदयपुर पधारने का निवेदन करवाया। स्वामीजी उदयपुर से विहार करके वेदला चले गये थे। महाराणा के उक्त निवेदन पर वे पुनः उदयपुर पधार गये।

नाथद्वारा से निष्कासन

वि. सं. १८४३ में स्वामीजी ने नाथद्वारा में चतुर्मास किया। वहां पर उनका वह प्रथम चतुर्मास था। विरोधी लोग यह नहीं चाहते थे कि नाथद्वारा भी उनके विहार-क्षेत्र की सूची में आये। वे स्वामीजी के विरुद्ध जनता को उकसाने लगे। उस

---

१. प्रकीर्ण पत्र-संग्रह, पत्र २८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वर्ष वहां वर्षा बहुत कम हुई। विरोधी लोगों ने उसका दोष स्वामीजी पर ही मढ़ा। वे गोसाईंजी के पास पहुंचे और उन्हें इस प्रकार से बहका दिया कि जब तक ये लोग यहां रहेंगे, तब तक आपके नगर में वर्षा नहीं हो सकेगी। उन सबकी बातों में आकर गोसाईंजी ने अपने हरकारों को आज्ञा दी कि मुंहपट्टी वाले साधुओं को यहां से निकाल दो।

हरकारों ने आकर जब स्वामीजी को गोसाईंजी का आदेश बतलाया, तो उन्होंने किसी प्रकार का आग्रह या अनुनय किये बिना वहां से कोठारिया की ओर विहार कर दिया। नाथद्वारा से प्रस्थान करते समय मार्ग में स्थानक आ गया। वहां भी कुछ साधुओं का चतुर्मास था। उन्हें यह पता तो पहले ही लग गया था कि भीखणजी को यहां से चले जाने का आदेश हो गया है, फिर तत्काल यह भी पता चला कि वे इसी मार्ग से कोठारिया की ओर जा रहे हैं। सम्भवतः उनकी उस स्थिति का आनन्द लेने के लिए कुछ साधु स्थानक के मुख्य द्वार पर तथा कुछ ऊपर की खिड़कियों में खड़े होकर देखने लगे।

स्वामीजी जब स्थानक के सामने आये, तब उन लोगों को इस प्रकार खड़ा देखकर सहज भाव से उधर बढ़े और ज्ञात तथा अज्ञात भाव से हुई किसी भी प्रकार की कटुता के लिए 'खमत-खामणा' करते हुए आगे बढ़ गये। स्वामीजी के साथ कुछ स्थानीय श्रावक भी थे। वे स्वामीजी के प्रति बहुत श्रद्धावान थे, परन्तु तत्काल कोई उपाय नहीं कर पाए। विवश होकर वे स्वामीजी को पहुंचाने के लिए आए थे। वे भी 'खमत-खामणा' करके आगे बढ़ गये।

हरकारों ने स्वामीजी तथा उनके अनुवर्ती भाइयों को उन लोगों से बातचीत करते देखा और उनको भी मुंह पर पट्टी बांधे हुए देखा, तो गोसाईंजी का आज्ञा-पत्र दिखलाते हुए बोले—'आप लोगों को यहां ठहरने की आज्ञा नहीं है, अतः यहां से चले जायें।'

उन लोगों ने इस विषय पर हरकारों से काफी उत्तर-प्रत्युत्तर किये और उन्हें समझाने का प्रयास किया कि यह आज्ञा तो केवल तेरापंथियों के लिए ही है, हम लोगों के लिए नहीं। हरकारों ने उनके उस कथन को नहीं माना। वे तो सभी मुंहपट्टी वालों को निकालने पर ही आज्ञा का पालन मान रहे थे। उनके श्रावकों को जब पता लगा, तो वे गोसाईंजी के पास दौड़े। परन्तु अपने ही हाथों से किया कार्य उन्हें अपने ही लिए भारी पड़ गया। गोसाईंजी को उनका कोई भी तर्क समझ में नहीं आया। वे बोले—'मुंहपट्टी वाले साधुओं ने यदि वर्षा रोक रखी है, तो उनमें से एक को निकाला जाये और दूसरे को नहीं, यह न्यायसंगत कैसे हो सकता है?'

आखिर वे लोग अपने प्रयास में सफल नहीं हो सके। गोसाईंजी ने भेदभाव करने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप उन साधुओं को भी विवश होकर वहां से

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जाना पड़ा। स्वामीजी के विरुद्ध प्रयुक्त अपने ही शस्त्र के वे स्वयं शिकार हो गये। कहा नहीं जा सकता कि स्वामीजी का वह निष्कासन उन लोगों के लिए उल्लास का विषय रहा या विषाद का?

नाथद्वारा में उस समय दाऊजी तलेसरा उत्तरदायी श्रावक थे। वे स्वामीजी के परमभक्त तो थे ही, संपन्न होने के कारण नगर में भी सम्माननीय स्थान रखते थे। उन्होंने स्थानीय श्रावकों से विचार-विमर्श किया। सभी का कहना था कि स्वामीजी का निष्कासन हम श्रावकों का घोर अपमान है। स्वामीजी तो संत होने के कारण मानापमान में सम रहकर सहज रूप से अन्यत्र पधार गये, परन्तु हम तो गृहस्थ हैं। सम्मानपूर्वक जीना चाहते हैं। यदि एक बार चुपचाप अपमान सह लिया तो बार-बार अपमानित होते रहने की संभावना हो जाएगी। इसलिए या तो इस आदेश को बदलवाना चाहिए, अन्यथा हमें यह नगर छोड़ देना चाहिए। आदेश बदलवाने के लिए गोसाईंजी पर दबाव डालने की पद्धति भी यही निश्चित की गई कि नगर-त्याग की तैयारी कर ली जाए। महाजनों का गांव से चले जाना उस समय ग्रामाधिपतियों की आय को प्रभावित करता था, अतः यथासंभव वे उनको अन्यत्र चले जाने से रोका करते थे।

दाऊजी आदि कई परिवारों ने नगर-त्याग का निर्णय किया। गृह-सामान से लदी बैलगाड़ियां उनके परिवारों को लेकर कोठारिया की ओर विदा हो गईं। दाऊजी आदि श्रावकों ने गोसाईंजी के पास जाकर घरों तथा दुकानों की चाबियां उनके सम्मुख रख दीं। गोसाईंजी ने ऐसा करने का कारण पूछा तो दाऊजी ने कहा—'आपने हमारे धर्मगुरु स्वामी भीखणजी को निकाल दिया तब हमारा यहां रहना संभव नहीं रह गया है।'

गोसाईंजी ने कहा—'उन्हें निकालना तो प्रजा-हित के लिए आवश्यक था, क्योंकि वे वर्षा नहीं होने दे रहे थे। उनके विषय में अन्य भी अनेक शिकायतें हैं। वे दया और दान के विरोधी हैं।'

दाऊजी ने कहा—'ये विचार लोगों को भ्रांत करने के लिए उनके विरोधियों द्वारा प्रचारित हैं। आप तो मालिक हैं। आप यदि दूसरे पक्ष की बात सुनकर सत्यासत्य के आधार पर आदेश देते तो शायद इस तीर्थभूमि से संतों को नहीं निकाला जाता। जो संत एक चींटी को भी कष्ट नहीं देते, वे कैसे दया और दान के विरोधी हो सकते हैं तथा वर्षा को रोककर कैसे लाखों प्राणियों को पीड़ित कर सकते हैं?' प्रसंगवश तलेसराजी ने स्वामीजी की मान्यता और चर्या से भी उन्हें अवगत किया।

गोसाईंजी ने सारी स्थिति समझी तब उन्हें अपने आदेश पर बहुत अनुताप हुआ। उन्होंने दाऊजी आदि सभी श्रावकों से वहीं बसे रहने का आग्रह किया और

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

अपने हरकारे को भेजकर बनास नदी के तट तक पहुंची हुई बैलगाड़ियों को ससामान वापस बुला लिया। एक हरकारे को कोठारिया भेज कर स्वामीजी को भी वापस पधारने की प्रार्थना करवाई।

स्वामीजी ने कहा—'अब चतुर्मास-काल में कौन बार-बार इधर-उधर चक्कर मारता रहे?' वे आश्विन कृष्णा १० तथा आश्विन शुक्ला १४ के बीच किसी दिन कोठरिया पधारे थे।[1] चतुर्मास का अवशिष्ट काल उन्होंने वहीं व्यतीत किया।

वस्त्र की समस्या

प्रथम वर्षों में स्वामीजी को वस्त्र बहुत कठिनता से मिल पाता था। जो मिलता था, वह भी अत्यन्त साधारण तथा स्वंल्प मात्रा में होता था। एक बार अपने संस्मरण सुनाते समय स्वयं स्वामीजी ने उस स्थिति का वर्णन करते हुए मुनि हेमराजजी से कहा—'कभी रुपये मूल्य की वाससी (रेजा) मिल जाती, तब भारमल कहता कि आप इसकी पछेवड़ी बना लीजिए। मैं कहता कि पछेवड़ी नहीं, चौलपट्टे बनाओ। एक तुम्हारे काम आ जायेगा और एक मेरे।'[2]

वस्त्राभाव के ऐसे दिनों में भी उनके मुख पर कभी मालिन्य की छाया नहीं आई। एकमात्र संयम की आराधना के लिए जिसने सब-कुछ का परित्याग कर दिया हो, उसे वह वस्त्राभाव अपने गन्तव्य मार्ग से कैसे विचलित कर सकता था?

आहार की समस्या

आहार-प्राप्ति के लिए स्वामीजी को अनेक वर्षों तक असाधारण कष्ट उठाने पड़े। लगभग पांच वर्षों तक तो रूखी-सूखी रोटियां भी पूरी नहीं मिल पाईं, घृत आदि स्निग्ध द्रव्यों की बात ही कहां थी। स्वामीजी की उक्त स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए जयाचार्य ने कहा है :

पंच वर्ष पहिछाण, अन्न पिण पूरो ना मिल्यो।
बहुल पणै वच जाण, घी-चोपड़ तो ज्यांहि रह्यो।।[3]

स्वामीजी को एक बार किसी ने पूछ लिया—'क्यों भीखणजी! गोचरी में घृत आदि भी कभी आता है या नहीं?'

---

१. स्वामीजी ने 'विरत-अविरत री चौपई' चौथी ढाल की रचना आश्विन कृष्णा १० को नाथद्वारा में सम्पन्न की तथा नवमीं ढाल की रचना आश्विन शुक्ला १४ को कोठारिया में।

२. भिक्खु-दृष्टान्त; दृ. २७६।

३. भि. ज. र.; १०। दो. २।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने अपने ही अभाव का आनन्द लेते हुए फरमाया—'गोचरी में आने-न आने की बात छोड़ो, पाली के बाजार में बिकता तो प्रायः प्रतिदिन देखते ही हैं।'

पूछने वाले ने सम्भवतः उन्हें चिढ़ाने के लिए व्यंग्य में ही पूछा था, परन्तु स्वामीजी ने अपने उत्तर के द्वारा मानो उस व्यंग्य की आधारभूमि को ही खिसका दिया।

रोटी पर दण्ड

संसार के प्रायः प्रत्येक क्रान्तिकारी महापुरुष को अज्ञ जनता के अन्ध प्रकोप का भाजन होना पड़ा है। स्वामीजी ही फिर उसके अपवाद कैसे हो सकते थे? विरोधी लोगों ने उनके विपरीत इतने प्रकार की भ्रान्तियां फैलाईं कि लोगों में विद्वेषाग्नि जल उठी। गांव-गांव में कहीं व्यक्तिगत, कहीं सामूहिक प्रतिबंध किए जाने लगे कि जिससे उन्हें भिक्षाचरी में आहार-पानी तक मिलना बन्द हो जाए। एक बार बीलाड़ा में स्वामीजी पधारे। पता लगते ही समाज के प्रमुखों ने प्रतिबन्ध लगा दिया—'जो भीखणजी को रोटी देगा, उसे प्रत्येक रोटी पर ग्यारह सामायिक दण्ड की दी जायेगी।'

एक दिन एक घर में स्वामीजी गोचरी पधारे। आहार-पानी की पूछताछ करने पर बहिन ने कहा—'तुम्हें रोटी दे दूं तो स्थानक में सामायिक कर रही मेरी ननद की सामायिक गल जाये।'[१] इस प्रकार के अनेक भ्रम फैलाकर विरोधियों ने उन्हें पराजित करना चाहा, परन्तु वे सदा अपराजित ही रहे।

तीन गोचरी

लोगों ने संभवतः यह समझा था कि ऐसे प्रतिबन्ध लगा देने तथा भ्रान्तियां फैला देने पर आहार-पानी की प्राप्ति कठिन हो जायेगी, तब वे शीघ्र ही अन्यत्र चले जायेंगे। परन्तु स्वामीजी ने वैसा नहीं किया। उनकी प्रतिक्रिया भिन्न रही। उन्होंने सोचा—'सम्पर्क के अभाव में लोग द्वेष करते हैं। यदि सम्पर्क में आयेंगे तो विचारों को समझेंगे। तब द्वेष-भाव में स्वतः ही न्यूनता आ जायेगी।' उन्होंने सन्तों को बुलाकर कहा—'अब तो यहां पूरा मासकल्प ही रहने का विचार है।'

सन्तों ने कहा—'आहार-पानी की इतनी न्यूनता में पूरा महीना कैसे निकाला जा सकेगा?'

स्वामीजी बोले—'गोचरी के लिए जैन-अजैन सभी घरों में जाओ। सामुदायिकता के भाव को और अधिक व्यापक बनाओ। केवल महाजनों पर ही

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ४२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आधारित मत रहो। इतने पर भी आहार-पानी की न्यूनता रहे, तो अपनी कष्ट-सहिष्णुता को और प्रखर बनाओ।'

स्वामीजी के उक्त कथन को सन्तों ने शिरोधार्य किया। दूसरे ही दिन से उन्होंने विभिन्न वर्गों में गोचरी जाना प्रारम्भ कर दिया। एक गोचरी गांव से बाहर की ओर बसने वाली खाती, कुम्हार, जाट आदि जातियों की कराई जाने लगी, तो दूसरी सेवगों के बास की और तीसरी महाजनों की।

पूरा या अधूरा, जितना और जैसा भी आहार उन्हें मिला, उसी में सन्तोष करके वे वहां पूर्ण मास तक रहे। आहार की समस्या को उन्होंने अपने पर कभी छाने नहीं दिया।[१]

घी सहित घाट

प्रारम्भिक वर्षों में तो स्वामीजी को आहार सम्बन्धी अनेक कठिनाइयां रही ही थीं, अन्तिम वर्षों तक भी गोचरी में उन्हें कहीं-कहीं अनेक कटु अनुभव हो जाया करते थे। वि. सं. १८५६ (श्रावणादि १८५५) के आषाढ़ मास में स्वामीजी नाथद्वारा पधारे। उस समय उनके साथ काफी साधु तथा साध्वियां थीं। एक दिन साध्वी अजबूजी (जयाचार्य की संसारपक्षीया बुआ) किसी घर में गोचरी के लिए गईं। वहां उन्हें घी दिया गया। दूसरे घर में गईं, तो वहां एक बहिन ने 'घाट' लेने को कहा। अजबूजी ने घी वाले पात्र में ही 'घाट' भी ले ली। अभी पात्र झोली में रखा भी नहीं गया था कि बहिन ने पूछा—'आप कौन-से टोले की हैं?'

अजबूजी ने कहा—'हम तो स्वामी भीखणजी के टोले की हैं।' यह सुनते ही उस बहिन ने गुस्से में आकर कहा—'अरे रंडियो! तुम पिछली बार भी भूल ही भूल में मेरे घर से आहार ले गयी थी। इस बार फिर आ गई। दे दो मेरी 'घाट' वापस।' उसने आव देखा न ताव, पात्र को झट उठाकर घृत और 'घाट' को वापस अपने पात्र में उंड़ेल लिया।

उसकी पड़ोसिन एक ब्रजवासिनी बहिन ने उससे कहा—'कीकी! यह क्या कर रही हो? संन्यासी को दिया हुआ भी क्या कभी कोई वापस लेता है?'

कीकी ने उसका उत्तर देते हुए कहा—'यह भोजन मैं कुत्तों को डाल दूंगी, किन्तु इन्हें नहीं दूंगी।'

अजबूजी ने आकर स्वामीजी को जब यह घटना सुनाई, तो उन्होंने कहा—'इस कलिकाल में जो न हो जाये, वही कम है। आज तक ऐसी घटनाएं तो अनेक हो गई हैं कि कोई न दे, इन्कार कर दे अथवा जान-बूझकर अशुद्ध

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ४२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

होने का बहाना कर दे, किन्तु दिया हुआ वापस लेने की घटना तो यहीं सुनने में आई है।'

उस व्रजवासिनी बहिन के द्वारा उपर्युक्त घटना का जब लोगों को पता लगा, तो वे कीकी के पति को चिढ़ाने लगे कि वाह साहब! दुकान पर तो तुम कमाई करते हो और घर पर तुम्हारी पत्नी। वह बेचारा इस व्यंग्य से बड़ा लज्जित होता, पर कर क्या सकता था?

स्वामीजी के परम भक्त श्रावक शोभजी ने इस घटना पर एक व्यंग्यपूर्ण दोहा कह सुनाया। वह इस प्रकार है—

बादर साह री डीकरी, कीकी थारो नाम।
घाट सहित घी ले लियो, ठाली कर दियो ठाम।।

इस घटना के कुछ दिन पश्चात् राखी के त्यौहार पर अचानक ही कीकी का लड़का गुजर गया। पुत्र का शोक मध्यम भी नहीं पड़ पाया था कि उसका पति भी गुजर गया। उन दोनों मौतों से कीकी के मन पर बड़ा आघात लगा। जन-क्षय के साथ ही उसे धन-क्षय की स्थिति का भी सामना करना पड़ा। मानसिक क्लेशों के अथाह समुद्र में भटकती हुई वह बिलकुल अकेली रह गई। इन दुःखद घटनाओं के पश्चात् कीकी को साध्वियों के साथ किये गये अपने व्यवहार का बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह अपनी उस विपत्ति का मूल कारण उसी दुर्व्यवहार को मानने लगी।

तेरापंथी साधु-साध्वियों में कीकी का नाम और उसका द्वेष प्रसिद्ध हो गया, अतः वर्षों तक उसके यहां कोई गोचरी के लिए नहीं गया। अनेक वर्षों के पश्चात् कोई अपरिचित साधु उसके घर में गोचरी के लिए गया। कीकी ने बड़ी भावना से आहार दिया। उस अज्ञात घर में इतनी भावना और भक्ति देखकर उस साधु ने जब परिचय की जिज्ञासा की तो कीकी की आंखें भर आईं। पश्चात्ताप के दावानल में दग्ध हुई वाणी में उसने कहा—'क्या आप मुझे नहीं जानते? मैं तो वही पापिनी कीकी हूं, जिसने साध्वियों के पात्र से 'घाट' वापस ले ली थी। कोई तो इस भव के कर्म अगले भव में भोगता है परन्तु मैंने तो अपने किये का फल यहीं हाथो-हाथ पा लिया।'

उसका नाम सुनते ही वे साधु एक बार के लिए सकपका गए। उन्हें लगा कि अज्ञानवश उस घर में आकर उन्होंने गलती की है। वापस जाने के लिए वे तत्काल मुड़े ही थे कि कीकी ने कहा—'महाराज! उस दिन के पश्चात् आप लोगों ने तो आज ही मेरे घर में पदार्पण किया है। आप आते रहियेगा, जिससे मेरा वह पाप कुछ तो धुलेगा।'[1]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २९१।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

मुझे तो त्याग है

एक अन्य घर में मुनि हेमराजजी गोचरी के लिए गये तो बहिन ने कहा—'मुझे तो तेरापंथियों को आहार देने का त्याग है।'

मुनि हेमराजजी ने बड़े शान्त भाव से कहा—'कोई बात नहीं, आहार न सही, तू अचित्त पानी हो तो वही दे दे।'

आखिर उसने थोड़ा-सा पानी का दान किया।

मुनि हेमराजजी ने वापस आकर उस दिन की गोचरी के अपने अनुभव स्वामीजी को बतलाये तो वे उनकी सहिष्णुता और व्यवहारकुशलता से बड़े प्रसन्न हुए।[1]

घेरों का बिखराव

प्रारम्भिक वर्षों में स्वामीजी के चारों ओर अभावों के घेरे बहुत सबल थे, परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वे स्वयं ही ढीले होते गये। जिन महारथियों ने उनको उस चक्रव्यूह में फंसाकर परास्त करने की बात सोची थी, उन्हें यह पता नहीं था कि जीवन-संग्राम का यह महान् योद्धा चक्रव्यूह में प्रविष्ट होना ही नहीं, उसका भेदन भी जानता है। अभिमन्यु की तरह स्वामीजी को भी सब ओर से घेरा गया था, परन्तु उन्हें एक क्षण के लिए भी निरस्त्र नहीं किया जा सका। फलस्वरूप उनके अगाध शास्त्र-ज्ञान और समर्थ तर्क-बल के सामने सभी महारथियों को झुक जाना पड़ा। अभावों के घेरे पहले चरमराये और फिर छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये। स्वामीजी न कभी अभावों से त्रस्त हुए और न भावों से बद्ध। उभय स्थितियों से निर्लिप्त रहकर उन्होंने जिस आत्म-विजय की अवस्था को प्राप्त किया था, वस्तुतः वही उनके जीवन-संग्राम की महान् विजय थी।

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २९२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

:७:

संघर्षों के निकष पर

प्रवाह के समान

स्वामी भीखणजी का जीवन एक संघर्षशील व्यक्ति का जीवन था। धर्म-क्रान्ति के निर्णय के साथ ही उन्होंने अपने जीवन को संघर्षों के लिए समर्पित कर दिया। वे संघर्ष ही कालान्तर में उनके जीवन के निखार की अद्वितीय कहानी बन गये। उनके गतिशील जीवन की तुलना महानदी के प्रवाह से की जा सकती है। उसके सम्मुख लक्ष्य तो निर्धारित होता है, किन्तु वहां तक पहुंचने के लिए मार्ग स्वयं ही बनाना पड़ता है। अनेक घुमाव, अनेक कटाव-छंटाव तथा अवरोधक बनकर खड़ी अनेक बाधाएं उसके मार्ग को दुर्गम बनाये रहती हैं। उस दुर्गमता की छाती को चीरते हुए ही उसे आगे बढ़ना होता है। प्रारम्भिक अवस्था में प्रवाह दुर्बल होता है और अवरोध प्रबल, किन्तु बाद में आगे बढ़ता हुआ प्रवाह क्रमशः प्रबल होता जाता है और अवरोध निर्बल। कोई भी महानदी अपने उद्गम पर महानदी नहीं होती। वहां तो वह एक छोटे से स्रोत के रूप में ही अवतरित होती है। महानदी तो वह तब बनती है, जब उसमें सहस्रों-सहस्रों अन्य स्रोत अपना आश्रय खोजते हैं। प्रवाह की उक्त कहानी ही स्वामीजी के जीवन की कहानी है। उनका जीवन आदि, मध्य और अवसान—तीनों ही अवस्थाओं में सफल संघर्षों से परिपूर्ण तथा निरन्तर गतिशील रहा।

स्थायी भाव

स्वामीजी अध्यात्म-योगी होने के साथ-साथ एक क्रान्तिकारी महापुरुष भी थे। कहा जा सकता है कि उनके जीवन-पट का ताना अध्यात्म का था, तो बाना संघर्ष का। उनका संघर्ष किसी व्यक्ति-विशेष से न होकर उस युग के धार्मिकों में फैले कदाचार और अनाचार से तथा कुरूढ़ियों और मिथ्या धारणाओं से था। उस संघर्ष-पथ पर चलते समय सहस्रों-सहस्रों व्यक्ति उनके अनुगामी बने, तो सहस्रों ही विरोधी भी। यही कारण है कि सामान्य बातचीत से लेकर शास्त्रार्थ तक और सामयिक दृष्टांतों से लेकर कविता तक में, कहना चाहिए कि उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संघर्ष स्थायी भाव की तरह दृष्टिगत होता है। यद्यपि संघर्ष की प्रत्येक घटना का अपना एक पृथक् स्वरूप होता है, फिर भी वर्गीकरण की दृष्टि से उन

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

सबको यहां दो विभागों में विभक्त किया गया है—बाह्य संघर्ष और आन्तरिक संघर्ष।

बाह्य संघर्ष

निकष पर समर्पित

स्वामीजी को अधिकांशतः बाह्य संघर्षों से ही जूझना पड़ा था। बाह्य संघर्षों से यहां तात्पर्य है—विरोधी व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न की गई विचार-मूलक या वृत्तिमूलक विरुद्ध स्थितियों के साथ संघर्ष। स्थान, वस्त्र और आहारादि वस्तुमूलक विरुद्ध स्थितियों की अपेक्षा उपर्युक्त स्थितियां कहीं अधिक सूक्ष्म और गम्भीर होती हैं। स्वामीजी ने उन सभी का सामना बड़े साहस और धैर्य के साथ किया।

संघर्षों को उन्होंने सदैव अपने लिए एक निकष समझा। सामान्य जन निकष पर चढ़ते घबराता है, क्योंकि उसे अपनी विशुद्धता पर पूर्ण आत्मविश्वास नहीं होता, परन्तु स्वामीजी कभी नहीं घबराये। जब-जब अनिवार्यता हुई, उन्होंने सहर्ष स्वयं को निकष पर समर्पित किया। प्रत्येक बार उस पर खरे उतरकर उन्होंने संसार को चकित कर दिया। ऐसा व्यक्ति संसार में प्रायः दुर्लभ ही होता है, जिसमें कोई खोट न हो, कोई मिलावट न हो। वस्तुतः स्वामीजी उन्हीं दुर्लभ पुरुषों में से एक थे। उनके विरोधियों में से अनेक इसी विशुद्धता के आधार पर उनके प्रशंसक बन गये। जो प्रशंसक नहीं थे, वे भी इसी आधार पर उनसे घबराते थे।

'तूंतड़ों' की तरह

स्वामीजी का सर्वाधिक विरोध आचार्य रुघनाथजी तथा उनके अनुयायियों ने किया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि स्वामीजी उस सम्प्रदाय से पृथक् हुए थे। जो जितना समीप होता है, सामीप्य टूटने पर वह उतना ही अधिक दूर भी हो जाता है। आचार्य रुघनाथजी ने उस विरोध में आचार्य जयमलजी को भी अपने साथ मिलाने का प्रयास किया। उनका कथन था—'हम बहुत हैं, वे तेरह ही हैं। सम्मिलित साहस करें, तो इन्हें 'तूंतड़ों' की तरह बिखेर दें।'

आचार्य जयमलजी उनके उस अभियान में सम्मिलित नहीं हुए, प्रत्युत उन्होंने उनको समझाते हुए कहा—'हम लोग भीखणजी का सामना नहीं कर सकते। वे प्रबल आगमज्ञ हैं। तर्क-बल भी उनका उत्कट है। अपनी प्रत्येक मान्यता को वे आगम का आधार प्रदान करते हैं, जबकि हमें अपनी कमजोरियों के लिए वैसा कोई आधार नहीं मिल सकता। वे हमारे साथ वर्षों तक रहे हैं, अतः हमारी आन्तरिक दुर्बलताओं से सुपरिचित हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे आचार-विचार में हम सबकी अपेक्षा अधिक दृढ़ हैं। इसलिए पहले सोच लीजिए कि विरोध करने पर कहीं हमें पराजय का मुंह तो नहीं देखना पड़ेगा?'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्य रुघनाथजी ने उक्त परामर्श पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने लम्बे समय तक स्वामीजी का पीछा किया। गांव-गांव में शास्त्रार्थ करने की धूम मचा दी। फल यह हुआ कि उनके ही श्रावक स्वामीजी से अधिकाधिक प्रभावित हुए और तेरापंथी बने।[1]

छुरा मार दूं

स्वामीजी के विरुद्ध उस समय इतना विषमय प्रचार किया गया था कि गृहस्थों के लिए क्या कहा जाये, अनेक मुनियों के मन में भी विद्वेष की ऐसी ज्वाला भड़क उठी थी कि वे उनके प्राणों के प्यासे हो गये। यद्यपि अपनी भावना को कार्यक्रम में परिणत करने की स्थिति किसी के भी सम्मुख नहीं आ पाई, फिर भी वाचिक रूप में तो अनेक ने उन्हें मार डालने की भावना व्यक्त की ही थी।

एक बार एक विरोधी मुनि ने कहा—'यदि एक भीखणजी को छुरा मार दूं, तो हमारे मार्ग की सब बाधाएं साफ हो जायें।' कालान्तर में आचार-सम्बन्धी किसी स्खलना पर उस मुनि को नई दीक्षा दी गई। जनता में तत्संबंधी ऊहापोह उठा, तो उसे शांत करने के लिए प्रचारित किया गया कि इन्होंने भीखणजी को छुरा मार देने की बात कही थी, उसी का यह दण्ड दिया गया है।

स्वामीजी ने भी वह बात सुनी, पर मन में उतरी नहीं। उनका अनुमान था कि अवश्य ही इसके पीछे कोई व्रत-भंग की घटना है। वास्तविकता जानने के लिए एक दिन उन्होंने स्वयं उस मुनि से ही पूछ लिया कि तुम्हारा व्रत-भंग अमुक स्थिति से हुआ या अमुक से? उसने किंचित् संकोच करते हुए दबे स्वर से बतलाया कि अमुक स्थिति में छोटा-सा दोष हो गया था। उसकी आत्म-स्वीकृति से स्वयं ही सिद्ध हो गया कि प्रचार अन्य दोष का किया जा रहा था, जबकि वह दण्ड किसी अन्य दोष के लिए दिया गया था।[2]

स्वामीजी सोचने लगे—विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लिया जाता है, परन्तु जो लोग उसकी ओट में भी अपने असत्य का महल खड़ा करना चाहते हैं, उनका निस्तार कैसे होगा?

साला हो सकता हूं

मुनि खंतिविजयजी बड़े उग्र स्वभाव के व्यक्ति थे। लोग उन्हें दुर्वासा का ही प्रतिरूप कहते थे। अहंकारी भी इतने कि आगमज्ञान में स्वयं को सर्वोपरि मानकर चलते थे। शास्त्रार्थ करने की अभिरुचि बड़ी तीव्र थी, परन्तु पराजय की सम्भावना

१. श्रावक-दृष्टान्त, दृ. ३४।

२. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ७४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

होने पर न्याय, नीति और शालीनता को दूर ढकेल कर धौंस-पट्टी या हो-हल्ले द्वारा अपनी विजय घोषित करने में भी बड़े निपुण थे। एक बार पाली में आचार्य रुघनाथजी से शास्त्रार्थ करते समय सम्भावित पराजय से बचने के लिए उन्होंने आचारांग सूत्र का वह पत्र ही झपट कर फाड़ डाला, जो कि आचार्यजी ने अपने पक्ष के समर्थन में उनको दिखलाने के लिए निकाला था। साथ ही अपने समर्थकों द्वारा शास्त्रार्थ में अपनी विजय का ऐसा हल्ला मचवाया कि अन्य सारे कथन उसी के नीचे दब कर रह गये। उस तथाकथित विजय से उनके अहंकार की मात्रा अतिरिक्त रूप में बढ़ गई। वे कहने लगे—'मैंने सब ढूंढियों के मुंह में अंगुली डाल कर देख लिया है, कहीं भी दांत नहीं मिला। अब तो मात्र एक कालिया भीखण ही शेष रहा है।'

आचार्य रुघनाथजी बलात् थोपी गई उस पराजय से बहुत खिन्न हुए। वे खंतिविजयजी को पराजित करने के उपाय खोजने लगे। उस स्थिति में उन्हें स्वामी भीखणजी की बुद्धिमत्ता एवं प्रचंडता का स्मरण हो आया। उन्होंने अपने श्रावकों से कहा— 'खंतिविजयजी को जीत सके वैसा तो एक भीखण ही है।'

गुरु के इंगित को समझकर उनके श्रावकों ने तेरापंथी श्रावकों से कहा—'प्रार्थना करो और भीखणजी को मेवाड़ से यहां बुलाओ।'

तेरापंथियों ने जब उनकी उस भावना का कारण पूछा तो वे बोले—'यह तो भीखणजी के आने पर उनके सामने ही बतलाना ठीक रहेगा।'

कालान्तर में स्वामीजी मारवाड़ में पधार गये। क्रमशः विहार करते हुए वे पाली भी पधारे। वहां स्थानकवासियों के अनेक श्रावक मिलकर स्वामीजी के पास आये। उन्होंने कहा—'पूज्यजी चाहते हैं कि खंतिविजयजी से शास्त्रार्थ करें। वे बहुत कटुभाषी एवं बड़बोले हैं। आप ही ऐसे व्यक्ति को वश में कर सकते हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'ठीक है, जैसा अवसर होगा, देखा जायेगा।'

कुछ दिनों बाद स्वामीजी काफरला पधारे। मुनि खंतिविजयजी भी वहीं आये हुए थे। उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया, तो स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर लिया। बाजार में जन-सभा के बीच शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। हिंसा-अहिंसा की चर्चा में स्वामीजी ने कहा—'धर्म के निमित्त की गई हिंसा में दोष नहीं है—यह अनार्य-वचन है, ऐसा भगवान् महावीर ने कहा है।'

मुनिजी बोले—'ऐसा कथन कहीं नहीं है।'

स्वामीजी ने आचारांग की प्रति निकालकर जब उक्त विषय का पाठ पढ़कर सुनाया तो मुनिजी ने कहा—'तुम्हारी प्रति का विश्वास नहीं किया जा सकता। मैं अपनी प्रति देखूंगा।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उन्होंने अपनी प्रति मंगवाई और देखा, तो वहां भी वही पाठ मिला। बात हाथ से निकलती देखकर उनके हाथ कांपने लगे।

स्वामीजी ने कहा—'जनता आगम-पाठ सुनने को उत्सुक है, अतः जो भी लिखा हो, पढ़कर सुना दीजिए।'

मुनिजी फिर भी चुप रहे, तब स्वामीजी बोले—'आप कांप क्यों रहे हैं? कम्पन के चार कारण होते हैं—वायु प्रकोप, क्रोध, पराजय आदि का भय और कामोत्तेजना। आप इनमें से कौन से कारण से कांप रहे हैं?'

मुनिजी का क्रोध एकदम भड़क उठा। बोले—'साले का सिर तोड़ दूंगा।'

स्वामीजी ने गम्भीर होते हुए कहा—'मैं मुनि हूं। संसार की सभी स्त्रियां मेरी बहिनें हैं। यदि आपके कोई पत्नी है तो वह मेरी बहिन है। उसी आधार पर आपने मुझे साला कहा है, तब तो कोई बात नहीं, किन्तु पत्नी के अभाव में यदि ऐसा कहा है, तो मुनि होकर मिथ्याभाषी बने हैं। दूसरी बात यह है कि मुझे साधु तो चाहे मानें या न मानें, किन्तु पंचेन्द्रिय प्राणी तो मानेंगे ही। मेरा सिर तोड़ देने की बात कहते हैं, तो क्या साधुता स्वीकार करते समय आपने मुझे मारने की कोई छूट रखी थी?'

स्वामीजी के उक्त प्रश्नों से जनता खिलखिला उठी, तो मुनिजी क्रोधावेश में और भी अधिक खौल उठे। मोतीरामजी चौधरी आदि उनके प्रमुख श्रावकों ने उनका हाथ पकड़कर चर्चा-स्थल से उठाते हुए कहा—'यहां से अब चलो, अक-बक बोलकर आपने भरी सभा में हमको लज्जित कर दिया।'

उस जन-सभा में स्वामीजी ने शास्त्रार्थ में जो विजय प्राप्त की, उससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उन्हें एक दूसरी विजय प्राप्त हुई, जो कि वहां के जन-मानस पर थी। विपक्ष की कटुतम बातों को भी उन्होंने जिस अनुत्तेजित प्रकार से सह लिया और अपने व्यंग्य-मिश्रित विनोद द्वारा उन्हें निष्प्राण बना दिया, उससे वहां की जनता सहज ही उनकी भक्त बन गई।[1]

निन्दित कर डालूंगा

स्वामीजी के विरोधियों में अनेक ऐसे थे, जो असत्य दोषारोपण करने में भी नहीं झिझकते थे। एक बार स्वामीजी बहिर्भूमि की ओर जा रहे थे। अन्य सम्प्रदाय के एक मुनि भी उधर ही जा रहे थे। स्वामीजी को देखा, तो वे भी साथ-साथ चलने लगे। मार्ग अधिक चौड़ा नहीं था, अतः दो व्यक्तियों का बराबर चल पाना कठिन था। वे संभवतः बराबर ही चलना चाहते थे, अतः न स्वामीजी के रुकने पर आगे

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ६१।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

हुए और न तेज चलने पर पीछे रहे। बराबर चलने के लिए उन्हें हरियाली पर चलना पड़ रहा था। स्वामीजी ने हरियाली की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—'साफ मार्ग पड़ा है, तब हरियाली पर क्यों चल रहे हो?'

स्वामीजी के इतना कहते ही उन्होंने बड़ी अकड़ के साथ धमकी भरे स्वर में कहा—'मेरे विषय में कहीं कुछ कहोगे तो मैं पूरे गांव में तुम्हें निंदित कर डालूंगा और प्रचारित कर दूंगा कि भीखणजी हरियाली पर बैठे थे।'[1]

इससे झगड़

अनेक व्यक्तियों के मन में स्वामीजी के प्रति इतना रोष था कि उन्हें देखते ही आपे से बाहर हो जाया करते थे। न उन्हें अपने मुनि-वेष का ध्यान रहता और न व्यावहारिक सीमा का ही। पुर की बात है। स्वामीजी शौच के लिए बाहर जा रहे थे। अन्य सम्प्रदाय के एक मुनि भी उधर ही जा रहे थे। उन्होंने स्वामीजी को देखा, तो उन्हें सुना-सुना कर अक-बक बोलने लगे। स्वामीजी ने उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और चलते ही रहे। वे मुनि तब सम्मुख आकर मार्ग रोककर खड़े हो गये। स्वामीजी पार्श्व से गुजरने लगे, तब उनके चारों ओर लकीर खींचकर बोले—'इससे बाहर जाओगे, तो तुम्हें तीर्थंकरों की सौगन्ध है।' स्वामीजी फिर भी आगे बढ़ने लगे, तो उन्होंने पीछे की ओर धकेल कर रोकना चाहा।

वहीं पास में एक चरवाहा गायें चरा रहा था। उसने जब यह सब देखा, तो पास आकर उक्त मुनि से कहने लगा—'ये तो गुरु हैं, इनसे क्यों झगड़ता है? झगड़ना ही है, तो इस जवान साधु से झगड़।' उसका संकेत स्वामीजी के साथ चल रहे मुनि भारमलजी की ओर था।

आखिर चरवाहे की उस झिड़की ने स्वामीजी के मार्ग की उस बाधा को दूर हटाया, तब कहीं वे अपने गन्तव्य की ओर बढ़ पाये।[2]

शत्रु-सेना से लड़ो

स्वामीजी आचारहीनता का बड़ी तीव्रता से खण्डन किया करते थे। परन्तु वे व्यक्ति-विशेष का नाम न लेकर समुच्चय के आधार पर ही अपनी बात कहा करते थे। इतने पर भी कुछ लोग यह सोचकर बहुत चिढ़ा करते कि यह सारा उल्लेख हमारे ही व्यक्तियों को आधार बनाकर किया जा रहा है। इस विचार वाले व्यक्ति पूर्वाग्रह के कारण प्रत्येक उल्लेख को अपने पर ले लेते और निष्कारण ही झगड़ने पर उतारू हो जाते।

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ५६।

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ५८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वि. सं. १८५७ में स्वामीजी भीलवाड़ा पधारे। रात्रिकालीन व्याख्यान में जनता बहुत एकत्रित हुई। साध्वाचार का विवेचन करते हुए स्वामीजी ने 'तुम जोइज्यो अंधारो इण भेख में'—इस गीतिका के कुछ पद्य सुनाए और शिथिलाचारी साधुओं के आचार-व्यवहार की कुछ त्रुटियों की समीक्षा की। वहां के नागोरी बन्धुओं में उसकी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। व्याख्यान की समाप्ति पर उन्होंने स्वामीजी को घेर लिया। वे दबाव देने लगे कि आप उस व्यक्ति का नाम बतलायें, जिसको लक्ष्य करके यह सब कहा गया है।

स्वामीजी ने कहा—'मैं व्यक्ति-विशेष के लिए कुछ भी कहना नहीं चाहता। मैंने तो साध्वाचार और उसके दोषों की समुच्चय रूप से बात कही है। यदि आपको ऐसा कदाचार बुरा लगता है तो अपने साधु-संघ को टटोल कर देख लीजिए कि वहां ऐसा होता है या नहीं? यदि होता है, तो उसे सुधारने का प्रयास करिये। यदि नहीं होता है तो इस प्रसंग में चिढ़ने जैसी कोई बात ही नहीं है।'

स्वामीजी द्वारा इतना स्पष्टीकरण करने पर भी वे लोग शान्त नहीं हुए। उन्होंने धमकी भरे स्वर में कहा—'नाम बताये बिना आपको यहां से विहार नहीं करने दिया जायेगा। यदि जायेंगे, तो आपको तीर्थंकरों की सौगन्ध है।'

स्वामीजी ने जब देखा कि उन लोगों का ध्यान दोष-सुधार की ओर न होकर केवल झगड़ने की ओर ही है, तो उन्होंने कुछ समय के लिए पूर्ण मौन ग्रहण कर लिया।

उन लोगों ने फिर भी काफी समय तक वहां बक-झक की। धनराजजी नागोरी ने कहा—'अब प्रतिमा की तरह मौन होकर बैठ गये हैं, उत्तर क्यों नहीं देते?'

स्वामीजी फिर भी नहीं बोले। तब धमकियां देते हुए वे लोग चले गये।

उन्हीं दिनों उदयपुर राज्य के प्रधानमंत्री शिवदासजी गांधी किसी सैनिक कार्य के लिए वहां आये हुए थे। उन्होंने स्वामीजी के साथ लोगों द्वारा की गई बक-झक की बात सुनी तो धनराजजी नागोरी को उपालम्भ देते हुए कहा—'संत पुरुषों के सम्मुख अयुक्त बोलने तथा झगड़ने में कौन-सी वीरता है? लड़ना ही चाहते हो तो देश पर आक्रमण करने वाली शत्रु-सेना के साथ क्यों नहीं लड़ते?'

प्रधानमंत्री के इस उपालम्भ के पश्चात् नागोरियों का लड़ने-झगड़ने का साहस समाप्त हो गया।[1]

---

१. श्रावक-दृष्टान्त, दृ. २४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

क्यों भ्रान्त करते हो?

तत्कालीन अनेक मुनि तथा आचार्य स्वयं तो स्वामीजी का विरोध करते ही थे, पर बहुत बार अजैन व्यक्तियों को भी उनके विरोध में खड़ा करने का प्रयास करते रहते थे। बीलाड़ा में आचार्य रुघनाथजी ने ब्राह्मणों को सुलग़ा दिया कि मेरा शिष्य अविनीत हो गया है। वह हमें तो असाधु कहता ही है, किन्तु ब्राह्मणों को दान देने में भी पाप कहता है।

ब्राह्मण इस पर बहुत क्रुद्ध हुए। एकत्रित होकर वे स्वामीजी के पास आये और झगड़ा करने लगे।

स्वामीजी उनको समझाने के लिए कुछ कहें, उससे पूर्व ही वहां उपस्थित श्रावक रामचन्द्रजी कटारिया बोले—'स्वामीजी! आप तो प्रतिदिन लोगों को समझाते ही रहते हैं। इन्हें समझाने का अवसर मुझे दीजिये।

स्वामीजी ने उनके सुझाव को स्वीकार कर लिया। उन्होंने तब आगन्तुक ब्राह्मणों से कहा—'स्वामीजी के मन्तव्य को समझने से पूर्व यह पता तो अवश्य लगा ही लेना चाहिये कि वे लोग तो इसमें धर्म ही मानते हैं न?'

ब्राह्मण—'धर्म नहीं मानते होते तो वे तुम्हारे मन्तव्य के विरुद्ध हमें कुछ कह ही कैसे सकते थे?'

रामचन्द्रजी—'ठीक है, मेरे सामने उनके मुख से धर्म कहलवा दो, तो मैं पच्चीस मन गेहूं तुम्हें दान कर दूंगा।'

ब्राह्मण—'हमारे साथ चलो, यह तो अभी कहलवा सकते हैं।'

ब्राह्मण और रामचन्द्रजी आचार्य रुघनाथजी के पास आये। रामचन्द्रजी ने कहा— 'आप धर्म कहें, तो मैं पच्चीस मन गेहूं इन ब्राह्मणों को दे दूंगा। आप आज्ञा करें तो उनकी 'घूघरी' बनाकर खिला दूं, या फिर आटा पिसाकर रोटी बनवाकर साथ में दो मन चनों के आटे की कढ़ी बनवाकर खिला दूं। जिसमें अधिक धर्म होता हो, वही बतलायें।'

आचार्यजी—'हम साधु हैं। हमें इस विषय में कुछ भी कहना नहीं कल्पता।'

रामचन्द्रजी—'जब आप स्वयं इसमें धर्म नहीं कहते हैं तो फिर स्वामी भीखणजी का नाम लेकर इन्हें क्यों भ्रान्त करते हैं? वे तो आपसे कहीं अधिक कठोर चर्या का पालन करते हैं।'

आचार्यजी ने रामचन्द्रजी की उक्त बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उनके मौन से ब्राह्मणों ने तत्काल समझ लिया कि उन्हें मूर्ख बनाया गया है।[1]

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ४२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

रावण के सामन्त

अनेक व्यक्ति ऐसे थे, जो स्वामीजी तथा उनके सिद्धान्तों को ठीक समझते हुए भी केवल सम्प्रदाय-मोह के कारण उनका विरोध किया करते थे। मुनि दुर्गादासजी की गणना ऐसे व्यक्तियों में की जा सकती है। वे पहले स्थानकवासी सम्प्रदाय में थे, तब स्वामीजी के मन्तव्यों का बड़ी तीव्रता से विरोध किया करते थे। कालान्तर में जब उससे पृथक् हो गये, तब स्थानक आदि को उद्दिष्ट होने के कारण अकल्प्य बतलाते हुए उसका प्रचण्ड विरोध करने लगे।

एक बार स्वामीजी ने उनसे पूछा—'जब हम स्थानक को सदोष बतलाते थे, तब तुम उसे निर्दोष बतलाया करते थे और हमारे से द्वेष किया करते थे, परन्तु अब स्वयं ही उसे अकल्प्य कैसे कहने लगे?'

मुनि दुर्गादासजी ने कहा—'रावण के सामन्त उसे दोषी मानते थे, फिर भी युद्ध के समय राम की सेना पर ही बाण चलाते थे। हमारी भी वही स्थिति थी। पहले पक्षपात के आधार पर कहते थे, परन्तु अब स्वतंत्र बुद्धि से जैसा भासित होता है, वैसा कहते हैं।'[१]

मुंह भी न देखूं

स्वामीजी के प्रति फैलाये गये विरोध की तीव्रता ने न जाने कितने अज्ञजनों को निष्कारण द्वेष के प्रवाह में बहा दिया था। अनेक तो ऐसे थे जिन्होंने कभी स्वामीजी को देखा तक नहीं था, फिर भी वे उनके प्रति विद्वेष के भाव रखते थे। अग्रोक्त उदाहरण से यह बहुत स्पष्ट हो जाता है। अणदोजी पटवा सोजत के रहने वाले थे। उनके मन में स्वामीजी के प्रति बड़ा द्वेष था। कहीं भी स्वामीजी के विषय में कोई बात चलती होती तो वे उनके प्रति अपमानजनक कटु शब्दों का प्रयोग किये बिना नहीं रहते।

एक दिन कुछ व्यक्तियों ने उन्हें चिढ़ाने के लिए कहा—'अणदोजी! चलो, तुम्हें भीखणजी से बातचीत करवा दें।'

अणदोजी ने मुंह बनाते हुए कहा—'मैं तो उस काले-कलूटे भीखणिये का मुंह भी देखना पसन्द नहीं करता, तुम बातचीत की कह रहे हो!'

कहा नहीं जा सकता, उनकी विद्वेष-भावना की तीव्रता का उनके शरीर पर कोई प्रभाव पड़ा अथवा पूर्वकृत पाप-कर्मों का ही कोई उदय हुआ, उस कथन के दो दिन पश्चात् ही वे अन्धे हो गए।

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

लोग कब चूकने वाले थे। उन्होंने कहा—'वचन का पालन करना तो कोई अणदोजी से ही सीखे। इन्होंने अपने वचन का पूरा-पूरा पालन किया है। अब तो यदि भीखणजी स्वयं सामने आकर खड़े हो जायें तो भी इनके वचन का भंग करा पाना संभव नहीं है।'[1]

आन्तरिक संघर्ष

एक विद्रोह

स्वामीजी को बाह्य संघर्षों के साथ ही कुछ आन्तरिक संघर्षों का भी सामना करना पड़ा। आंतरिक संघर्ष से यहां तात्पर्य है, संघ के व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न किया गया संघर्ष। स्वामीजी का शिष्य-वर्ग बहुत नम्र और अनुशासित था, फिर भी वैयक्तिक स्वार्थ तथा सामयिक स्थितियां किसी-किसी का मति-भ्रम कर ही देती हैं। मानव-स्वभाव की यह दुर्बलता हर युग तथा हर स्थान में अपना कार्य करती रही है।

स्वामीजी ने तेरापंथ संघ की नींव डाली, उस समय उसके सभी सदस्य स्थानकवासियों से आये थे। कुछ वर्ष पश्चात् नई दीक्षाएं भी होने लगीं, फिर भी स्थानकवासियों में से आगमन काफी रूप में चालू रहा। कुछ पूर्ववर्ती संघ में गृहीत संस्कारों के कारण तथा कुछ नवीन संघ के निर्मीयमाण संस्कारों की अपरिपक्वता के कारण समय-समय पर उनमें मतभेद और मनोभेद उत्पन्न होते रहे, परन्तु वे प्रायः कभी लंबे संघर्ष का रूप नहीं ले पाये। केवल एक संघर्ष ही ऐसा था, जो लंबा चलने के साथ-साथ स्वामीजी को बहुत चिन्तित भी करता रहा। वह था, मुनि तिलोकचन्दजी और मुनि चन्द्रभाणजी का विद्रोह।

उपयुक्त उत्तराधिकारी कौन?

स्वामीजी उक्त दोनों ही संतों को अपने संघ के विद्वान् और बुद्धिमान संत माना करते थे। वे उन्हें बहुमान भी दिया करते थे। वि. सं. १८३२ में जब स्वामीजी ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में मुनि भारमलजी को नियुक्त किया, तब संघ की सुव्यवस्था के लिए एक मर्यादा-पत्र लिखा। वह तेरापंथ का प्रथम मर्यादा-पत्र था। उसमें उन्होंने उक्त दोनों ही संतों के लिए बहुमान-सूचक शब्दों का प्रयोग किया और भावी आचार्य भारमलजी को निर्देश दिया कि वे तिलोकचन्दजी, चन्द्रभाणजी आदि बुद्धिमान साधुओं के परामर्श से कार्य करें।

उक्त अवसर तक उन दोनों का व्यवहार ठीक रहा, किन्तु युवाचार्य की नियुक्ति के साथ ही उनका व्यवहार पलट गया। संघर्ष के बीज तभी से अंकुरित

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

होकर बाहर उभर आये। उन दोनों को वह नियुक्ति अच्छी नहीं लगी। स्वामीजी के सम्मुख अपना विरोध प्रकट करते हुए मुनि चन्द्रभाणजी ने एक बार कह भी दिया कि मुनि भारमलजी भोली प्रकृति के हैं। आचार्य-पद का भार निर्वहन करने जैसी योग्यता उनमें नहीं है।

स्वामीजी ने पूछा—'तुम इस पद के योग्य किसे समझते हो?'

इस प्रश्न का उत्तर देने में उन्हें बड़ी असमंजसता का सामना करना पड़ा। व्यवहार की सीमाओं में रहकर वे अपना नाम प्रस्तुत नहीं कर सकते थे। उन्होंने तब अपने साथी मुनि तिलोकचन्दजी का नाम प्रस्तुत करते हुए कहा—'वे इस पद के सर्वथा योग्य हैं।'

स्वामीजी ने उनकी धारणा को उचित नहीं माना और कहा—'मैं उन्हें इस पद के उपयुक्त नहीं समझता। मेरी दृष्टि से भारमल ही सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति है।'

पृथक् होने की धमकी

उक्त घटना के पश्चात् एक घटना और हो गई। स्वामीजी ने किसी प्रसंग पर अनेक संतों के सामने मुनि चन्द्रभाणजी को उपालम्भ दे दिया। तब से वे स्वामीजी के प्रति द्वेष-भाव रखने लगे। अन्दर-ही-अन्दर अन्य संतों का मनोभंग कर उन्हें अपने पक्ष में करने लगे। श्रावकों में अश्रद्धा व्याप्त हो, वैसे प्रयास भी करने लगे। कई साधु उनके बहकावे में आ भी गये। स्वामीजी को इस स्थिति का पता चला, तब उन्होंने धीरे-धीरे अन्य सभी सन्तों को समझाकर सुस्थिर कर लिया। उसके पश्चात् मुनि तिलोकचन्दजी तथा मुनि चन्द्रभाणजी को भी समझाने का प्रयास किया। अपने पक्ष के सभी साधुओं के विचार बदल जाने के कारण वे शीघ्र नम्र हो गये। स्वामीजी के सम्मुख उन्होंने अपने दोषों को स्वीकार कर लिया और प्रायश्चित्त की भी याचना करने लगे। स्वामीजी ने उनको अत्यन्त सरल हुआ देखकर यह छूट दी कि अपने दोषों का वे स्वयं ही प्रायश्चित्त कर लें।

स्वामीजी के इस मृदु व्यवहार का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने कहा—'हम ऐसा नहीं समझते थे कि इतना विरुद्धाचरण करने पर भी आप हमारे साथ इतना मृदु व्यवहार करेंगे।' उन्होंने अपने अविनय के लिए बार-बार क्षमा-याचना की।

उनकी यह नम्रता स्वल्पकालिक ही सिद्ध हुई। वे पुनः पूर्ववत् स्वामीजी के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करने लगे। ऊपर से बड़ी नम्रता प्रदर्शित करते किन्तु अन्दर-ही-अन्दर अव्यवस्था फैलाने में सूत्रधार का कार्य करते रहते। जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि अनेक साधु-साध्वियां उनके पक्ष में हो गये हैं, तब वे खुलकर स्वामीजी का विरोध करने लगे। उन्हें शिथिल और असाधु बताने लगे।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी को जब उनके बदले हुए रुख का पता चला तो तत्परतापूर्वक उनसे प्रभावित व्यक्तियों को एक-एक करके समझा लिया। उसके पश्चात् मुनि चन्द्रभाणजी से बातचीत की। वे उल्टा स्वामीजी को ही दोषी बताने लगे और संघ से पृथक् हो जाने की धमकी देने लगे।

आओ, संथारा करें

स्वामीजी ने शान्तिपूर्वक समझाते हुए मुनि चन्द्रभाणजी से कहा—'संघ को छोड़ने से तो अच्छा है कि संलेखना तथा संथारा करके आत्म-कल्याण करो।'

चन्द्रभाणजी ने कहा—'मुनि भारमलजी करते हैं, तो मैं भी तैयार हूं।'

स्वामीजी बोले—'आओ, हम दोनों करें।'

चन्द्रभाणजी ने कहा—'आपके साथ नहीं, भारमलजी के साथ कर सकता हूं।'

निष्कासन और ग्रहण

स्वामीजी ने मुनि चन्द्रभाणजी के ईर्ष्या-भाव को बहुत अच्छी तरह से पहचान लिया। उन्होंने उसके पश्चात् मुनि तिलोकचन्दजी से बातचीत की। वे पूर्णतः मुनि चन्द्रभाणजी के ही पक्षधर बने हुए थे। स्वामीजी ने तब मांढा गांव में उन दोनों को संघ से पृथक् कर दिया।

जाते समय चन्द्रभाणजी ने धमकीभरे स्वर में कहा—'आपके श्रावकों को शीतदग्ध आक जैसा न कर डालूं तो मेरा नाम चन्द्रभाण नहीं।'

स्वामीजी की सेवा में बैठे श्रावक चतरोजी बोले—'आप तो विहार करते हुए विलम्ब से पहुंचेंगे, मैं 'कासीद' के द्वारा पहले ही सर्वत्र सूचना करवा दूंगा कि आप संघ से पृथक् हो गये हैं। फिर आपको कोई नहीं पूछेगा।'

चतरोजी की बात सत्य निकली। न उनके पक्षपाती साधुओं ने साथ दिया और न विशेष किसी श्रावक ने ही। उन्हें तब अपनी स्थिति का अच्छी तरह से भान हो गया। अहंभाव को कहीं से कोई पोषण नहीं मिल पाया, तब वे पुनः गण में आने का प्रयास करने लगे। कई बार की बातचीत के पश्चात् स्वामीजी को लगा कि अब उनके भावों में सरलता आई है, अनुताप और प्रायश्चित्त के भाव भी उभरे हैं। उन्होंने तब उनको पुनः गण में लेने का निर्णय तो किया, परन्तु उससे पूर्व कुछ शर्तें भी स्वीकार करवाईं। उनमें कुछ शर्तें ये थीं—'व्यक्तिगत शिष्य न करना, दलबन्दी न करना, दोष एकत्रित न कर तत्काल बतलाना, अपने पूर्व दोषों की आलोचना और प्रायश्चित्त करना इत्यादि।' उक्त लेखपत्र पर चेलावास में उन्होंने साधुओं और श्रावकों की उपस्थिति में हस्ताक्षर किये। तब उन्हें संघ में ले लिया गया।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

पुनः निष्कासन

उनका पुनरागमन संघ के लिए बड़ा गुणकारक रहा। जिन व्यक्तियों को उन्होंने शंकाशील बना दिया था, उन सबने अनुभव कर लिया कि संघ और स्वामीजी निर्दोष हैं, ये ही दण्ड स्वीकार कर संघ में आये हैं। इस तरह की बात जब जनता में फैली, तो मुनि चन्द्रभाणजी के अहं को ठेस लगी। उनका मनोभाव बदल गया। लेख-पत्र की निर्धारित शर्तों से वे मुकरने लगे। स्वामीजी तथा अन्य साधुओं ने अनेक बार चेताया, फिर भी उन्होंने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। उनका आग्रह था—'जनता में यह प्रचारित नहीं किया जाना चाहिए कि हम प्रायश्चित्त स्वीकार करके अन्दर आये हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'यदि कोई गृहस्थ इस विषय में जिज्ञासा करे, तो उसका क्या उत्तर दिया जाना चाहिए?'

मुनि चन्द्रभाणजी ने कहा—'यही कहना चाहिए कि हमने अपनी पद्धति के अनुसार कार्य कर लिया है।'

स्वामीजी ने कहा—'ऐसी संदिग्ध भाषा क्यों कहें? इससे तो जनता में यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि कुछ बातों का प्रायश्चित्त इन्होंने लिया होगा और कुछ का उन्होंने। हम तो यह स्पष्ट कहेंगे कि संघ के किसी सदस्य ने कोई प्रायश्चित्त नहीं लिया, ये ही प्रायश्चित्त स्वीकार करके संघ में आये हैं।'

मुनि चन्द्रभाणजी ने कहा—'ऐसा तो बिल्कुल नहीं कहना चाहिए।'

स्वामीजी ने उनकी नीति को शुद्ध नहीं पाया, तब वि. सं. १८३६ के शेषकाल में खैरवा में उन्हें संघ से पृथक् कर दिया। फिर मुनि तिलोकचन्दजी को बुलाकर कहा—'चन्द्रभाण के साथ यदि तुम्हारी कोई सांठगांठ न हो तो तुम गण में रह सकते हो, अन्यथा नहीं।' उन्होंने तब रहने की ही भावना व्यक्त की। वे रह तो गये, किन्तु मन की मलिनता दूर नहीं हुई। मुनि चन्द्रभाणजी की प्रत्येक बात का समर्थन तथा स्वामीजी की बात का प्रच्छन्न विरोध करना उनका स्वभाव हो गया। स्वामीजी ने तब उनको भी संघ से पृथक् कर दिया। वे तत्काल मुनि चन्द्रभाणजी से जा मिले।

थली की ओर

अनेक महीनों तक वे दोनों मारवाड़ के क्षेत्रों में विचरण कर स्वामीजी के श्रावकों को भ्रान्त करने का प्रयास करते रहे। परन्तु वे जहां जाते, वहां स्वामीजी भी पधार जाते, उनके द्वारा फैलाई गई भ्रान्तियों का तत्काल निराकरण कर देते। इस प्रकार उनके पैर कहीं भी जम नहीं पाये। उन्होंने तब थली की ओर जाने का निर्णय किया। उधर उस समय स्वामीजी के दो शिष्य मुनि संतोषचन्दजी और मुनि

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

शिवरामजी विचरण कर रहे थे। उनका उद्देश्य उन्हें अपने साथ मिला लेने का था। उक्त दोनों साधु कुछ वर्ष पूर्व उनके प्रभाव में रह चुके थे, अतः उन्हें पुनः अपनी ओर आकृष्ट कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं था।

स्वामीजी ने उनके विचारों को भांप लिया। वे नहीं चाहते थे कि उन साधुओं को भ्रान्त कर अपने साथ मिला लेने का उन्हें अवसर मिले। इसीलिए उन्होंने भी उधर ही विहार किया। बोरावड़ तक पहुंचे, तब मुनि भारमलजी को चेचक निकल आई। अधिक ठहर पाने का अवसर नहीं था, अतः दो साधुओं को उनकी सेवा में छोड़ा और केवल एक साधु को अपने साथ लेकर वे थली की ओर बढ़े। लाडनूं में सेवगों के वास में ठहरे। वहां से बीदासर और राजलदेसर होते हुए रतनगढ़ पधारे। वहां पड़िहार राजपूत के घर में ठहरे। वहां से चूरू पधारे और रामनारायणजी मिर्धा की हवेली में ठहरे।

चूरू में

मुनि तिलोकचन्दजी और मुनि चन्द्रभाणजी स्वामीजी से कई दिन पूर्व चूरू पहुंचे थे। उन्होंने वहां मुनि संतोषचन्दजी तथा मुनि शिवरामजी को नाना प्रकार की बातें कहकर भ्रांत किया और फिर उनकी कुछ शर्तें मानकर परस्पर सम्मिलित हो गये।

स्वामीजी चूरू पहुंचते ही यथाशीघ्र वार्तालाप करने के लिए उनके पास गये। मुनि संतोषचन्दजी और मुनि शिवरामजी ने उनको आते देखा, तो तत्काल खड़े होकर आदर दिया तथा वंदन किया। मुनि चन्द्रभाणजी को उनका वह विनय-व्यवहार उचित नहीं लगा। उन्होंने टोकते हुए कहा—'इनके साथ हमारा कोई साम्भोगिक सम्बन्ध नहीं है, अतः वंदन करना नहीं कल्पता।'

मुनि संतोषचन्दजी ने कहा—'ये हम सबके गुरु हैं, अतः वन्दन तो करना ही चाहिए।'

स्वामीजी ने मुनि संतोषचन्दजी और मुनि शिवरामजी से बातचीत की। सारी स्थिति समझाई। वे बोले—'इस समय तो हम उनके साथ वचनबद्ध हो चुके हैं, अतः अन्य कुछ सोचने का अवसर नहीं है, पर अन्त तक उनका साथ निभा पाना कठिन ही है, अवसर आते ही हम आपकी सेवा में पुनः उपस्थित हो जायेंगे।' उन्होंने स्वामीजी को विश्वास दिलाया कि अब से मुनि चन्द्रभाणजी न आपकी निंदा करेंगे और न आपके विहार-क्षेत्र में ही जायेंगे। हमने इस विषय में उनसे बातचीत कर ली है।

स्वामीजी ने कहा—'यदि वे अपनी बातों का पालन करते रहेंगे, तो हम भी बोरावड़ से आगे के क्षेत्रों में आने का विचार नहीं करेंगे।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी कई दिन चूरू में ठहरे। वहां डागा परिवार की एक बहिन सरूपां ने तथा बांठिया और पारख परिवार के एक-एक भाई ने गुरु-धारणा की। उसके पश्चात् शीघ्र ही वे पुनः मारवाड़ की ओर पधार गये। उस शेषकाल में उन्हें लगभग ७०० कोस (२२४० किलोमीटर) चलना पड़ा। उन्होंने अपना चातुर्मासिक प्रवास केलवा में जाकर किया।

राठों द्वारा हत्या

कालान्तर में मुनि संतोषचन्दजी और मुनि तिलोकचन्दजी के दलों में मनोमालिन्य बढ़ा और वे पृथक्-पृथक् हो गये। मुनि संतोषचन्दजी और मुनि शिवरामजी ने चूरू से रीणी (तारानगर) की ओर विहार कर दिया। उन्हीं दिनों रीणी और बूचास के पार्श्ववर्ती क्षेत्र में राठा जाति के मुसलमानों और राजपूतों में झगड़ा चलता था। राठा सरसा तथा राणिया की ओर से आकर उधर धावा बोला करते थे। दोनों सन्त उस क्षेत्र से गुजरते हुए सारंगसर के पास आये, तब राठों ने समझा कि गांव का ठाकर इस वेष की ओट में बचकर निकल जाना चाहता है। उन्होंने तत्काल उनको घेर कर मार डाला।[1]

बिखराव

मुनि तिलोकचन्दजी और चन्द्रभाणजी भी मिलकर नहीं रह पाये। कुछ ही वर्षों के पश्चात् वे पृथक्-पृथक् हो गये। उन दिनों मुनि तिलोकचन्दजी की दृष्टि-शक्ति क्षीण होने लगी थी, अतः मुनि चन्द्रभाणजी को उनका विशेष ध्यान रखना पड़ता था। वह स्थिति उन्हें पसन्द नहीं थी। उन्होंने उनको संलेखना तथा संथारा करने को कहा। मुनि तिलोकचन्दजी को वह कथन अच्छा नहीं लगा। वे बोले—'मेरा शरीर सबल है, अतः अभी संलेखना, संथारे की बात कैसे सोची जा सकती है?'

रीणी (तारानगर) और चूरू के मध्यवर्ती ग्राम जुहारिया के मार्ग में इसी बात पर मुनि चन्द्रभाणजी ने उनसे झगड़ा किया और उन्हें वहीं जंगल में अकेला छोड़कर पृथक् चल दिये।

स्वामीजी ने मुनि तिलोकचन्दजी को संघ से पृथक् होते समय चेताया था—'तुम चन्द्रभाण के साथ जा तो रहे हो, पर वह तुम्हें कहीं जंगल में अकेला छोड़ेगा।' उनका वह कथन सत्य सिद्ध हुआ।

इस दल के छिन्न-भिन्न होने के साथ ही आन्तरिक संघर्षों की रीढ़ टूट गई।

---

१. ऐसा भी कहा जाता है कि राठों ने उन्हें गुप्तचर समझ कर मार डाला।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

: ८ :

जीवन के विविध पहलू

पुस्तक, नदी और ईक्षु

स्वामीजी का समस्त जीवन उस पवित्र पुस्तक के समान था, जिसके प्रत्येक पृष्ठ की प्रत्येक पंक्ति प्रेरणादायक होती है। सार्थक व सोद्देश्य शब्द-संयोजन, निर्भीक व निर्लिप्त अभिव्यक्ति और साद्यन्त सत्य-प्रतिबद्धता; ये उस पुस्तक की पवित्रता के साक्ष्य हैं। जिसने भी उसे पढ़ा, नई स्फूर्ति से भर गया। सहस्रों-सहस्रों व्यक्ति उनके सम्पर्क में आते रहते थे, उनमें अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों ही प्रकार के होते थे, परन्तु उनसे प्रभावित हुए बिना शायद ही कोई बच पाता था।

नदी के प्रवाह की तरह निरन्तर गतिशील स्वामीजी की संयम-यात्रा की प्रत्येक लहर न जाने कितने व्यक्तियों की पिपासा शान्त कर गई, कितनों के उत्ताप हरण कर गई और कितनों की सूखती हुई खेतियां लहलहा गईं। साथ में यह भी सत्य है कि न जाने वह कितने अवरोधों को ढहाकर अपने साथ बहा ले गई।

जन-कल्याण के उद्देश्य से किया गया स्वामीजी का जन-सम्पर्क रत्नत्रयी की वृद्धि करने में अत्यन्त सफल रहा। सम्पर्क विषयक विचित्र घटनाएं ईक्षु के छोटे-छोटे पोरों की तरह अत्यन्त सरस और सुमधुर तो हैं ही, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से बलदायक भी हैं।

घटनाओं के माध्यम से

स्वामीजी का जीवन-पट घटनाओं के ही ताने-बाने से बुना हुआ था, इसलिए कहा जा सकता है कि उन्हें घटनाओं के माध्यम से जितनी सरलता से समझा जा सकता है, उतनी सरलता से अन्य किसी माध्यम से नहीं। प्रत्येक घटना उनके विविधांगी जीवन के किसी-न-किसी नये पहलू को अवगति प्रदान करती है। हीरे के पहलुओं के समान सभी घटनाओं का अपना-अपना पृथक् सौन्दर्य और पृथक् कटाव-छंटाव है। फिर भी सम्पूर्ण जीवन-सौन्दर्य के साथ उनका अविकल सामंजस्य बना हुआ है।

अपनी समग्रता में स्वामीजी का जीवन समुद्र के समान गहरा और विशाल था, इसलिए दुरवगाह्य भी था, परन्तु घटना-बिन्दुओं की आंशिकता उसे हमारे लिए

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

सहज अवगाह्य बना देती है। उनके घटना-संकुल जीवन की समस्त घटनाओं का विवरण दे पाना तो अत्यन्त प्रयास-साध्य तथा अन्वेषण-सापेक्ष है, परन्तु यहां कुछ ऐसी प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनसे उनके जीवन की विविधता को समझने में सहयोग प्राप्त हो सकता है।

१. विरोध का सामना विनोद से

कीचड़ के ऊपर

स्वामीजी के समय में उनके अनुयायियों की संख्या से कहीं अधिक उनके द्वेषियों की संख्या थी। द्वेषी व्यक्तियों में रहकर भी अद्वेषी बने रहना साधारण कार्य नहीं है। कमल और सत्पुरुष—ये दो ही ऐसे होते हैं, जो अपने चारों ओर फैले कीचड़ से भी सार खींचते हैं और फिर उसे सुगंध में परिणत करके जगत् को बांट देते हैं। इतने पर भी स्वयं उस कीचड़ में कभी लिप्त नहीं होते, सदा उससे ऊपर उठे रहते हैं।

स्वामीजी वस्तुतः द्वेष-वृत्ति से बहुत दूर रहने वाले महापुरुष थे। न उन्हें द्वेषी-जनों के कर्ण-कटु शब्द विचलित कर पाते थे और न ही अपने विरुद्ध में किये जाने वाले कार्य। द्वेष-भरी बातों का उत्तर भी वे इस सहज भाव से देते थे कि पासा पलट जाता और कहने वाले को चुप हो जाने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं मिल पाता। वे विरोधी परिस्थिति को अपने विनोद से पराजित कर देते थे।

और तुम्हारा मुंह देखने से ?

एक बार स्वामीजी विहार करते हुए देसूरी जा रहे थे। मार्ग में घाणेराव का एक भाई मिला। स्वामीजी को उसने वन्दन किया, पर पीछे आशंका होने पर पूछा—'आपका क्या नाम है ?'

स्वामीजी ने कहा—'भीखण।'

'भीखणजी तेरापंथी!!' भय-मिश्रित आश्चर्य से विस्फारित नेत्र होकर उसने नाम को इस प्रकार से दुहराया कि स्वयं स्वामीजी को भी आश्चर्य हुए बिना न रहा।

स्वामीजी ने जिज्ञासा-युक्त वाणी में पूछा—'क्यों, क्या बात हुई ?'

अन्तःकरण में छिपे द्वेष और तज्जन्य घृणा को अभिव्यक्ति देते हुए वह बोला—'तुम्हारा तो मुंह देखने मात्र से ही मनुष्य को नरक मिलता है।'

स्वामीजी ने तत्काल उलट कर पूछा—'और तुम्हारा मुंह देखने से ?'

उसने सिर ऊंचा उठाते हुए गर्वीले स्वर में कहा—'स्वर्ग!'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी बोले—'किसी का मुंह देखने मात्र से स्वर्ग या नरक मिलता हो, यह बात मैं मानता तो नहीं, पर तुम्हारे ही कथन को सत्य मान लिया जाए, तो यह बतलाओ कि तुम कहां जाओगे और मैं कहां?'

उस भाई के पास बोलने को कुछ भी अवशिष्ट नहीं था, क्योंकि उसने अपने-आपकी नरकगामिता और स्वामीजी की स्वर्गगामिता स्वयं ही सिद्ध कर दी थी।[1]

तुम विधवा कैसे हो गई?

एक बार स्वामीजी पीपाड़ पधारे हुए थे। गोचरी के समय जब वे एक मुहल्ले में गये तो एक बहिन ने उन्हें स्थानकवासी साधु समझकर कहा—'तेरापंथी बनने वाले को अपने-आप दण्ड मिल जाता है। हमारे मुहल्ले की अमुक स्त्री ने भीखणजी को गुरु धारण किया था, अतः थोड़े ही दिनों में वह 'रांड' हो गई।'

संयोगवश वह बहिन स्वयं विधवा थी, अतः स्वामीजी ने स्मितमुख होकर कहा— 'बहिन! तुम्हारी बातों से लगता है कि तुम भीखणजी की काफी निन्दा करती हो। पर यह तो बतलाओ कि फिर भी तुम इस छोटी अवस्था में ही विधवा कैसे हो गई?'

पास में खड़ी अन्य बहिनों ने बात के क्रम से भांप लिया कि ये स्वयं भीखणजी ही हैं। उन्होंने जब यह बात उस बहिन को बतलाई, तो वह इतनी लज्जित हुई कि खड़ी नहीं रह सकी और भागकर घर में घुस गई।[2]

नृत्य को रोक क्यों रहे हो?

पाली में स्वामीजी का चतुर्मास था। वहां बाबेचा परिवार के मूर्तिपूजक भाई स्वामीजी के प्रति काफी द्वेष-भाव रखते। पर्युषण पर्व में उन्होंने महोत्सव मनाते हुए, इन्द्रध्वज का जुलूस निकाला। स्वामीजी जिस स्थान पर विराजते थे, उसके सामने से जुलूस लेकर वे आये और वहां काफी देर तक ठहरकर गाते, बजाते तथा नाचते रहे। व्याख्यान में बाधा पहुंच रही थी, अतः कुछ समय प्रतीक्षा करने पर भी जब जुलूस आगे नहीं बढ़ा, तो कुछ श्रावकों को क्रोध आ गया। वे उत्तेजित होकर जुलूस वालों को बुरा-भला कहने लगे। स्वामीजी ने उन्हें टोकते हुए जुलूस वालों को सुनाकर कहा—'ये लोग प्रतिमा को भगवान् मानते हैं, अतः या तो भगवान् के सामने नाचते-गाते हैं या भगवान् के साधुओं के सामने, तुम भला क्रुद्ध होकर इन्हें रोक क्यों रहे हो।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १५।

२. वही, दृ. ३८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी के इस कथन से श्रावक तो वहां से हट ही गये, पर नाचने वाले भी अपने उद्देश्य से विपरीत प्रभाव हुआ देखकर आगे चलते बने। वे स्वामीजी को चिढ़ाना चाहते थे, पर स्वामीजी ने अपने व्यवहार से उनके मूल उद्देश्य को ही उलट दिया।[1]

पोता-चेला

स्थानकवासी साधु टीकमजी के एक शिष्य मुनि कचरोजी सिरियारी में स्वामीजी के पास पहुंचे। स्वामीजी ने आने का कारण पूछा तो बोले—'आपके विषय में बातें सुनते-सुनते कान पक गये, अतः सोचा कि चलो, देखें तो सही, आखिर भीखणजी ऐसी क्या बला हैं?'

स्वामीजी ने सस्मित कहा—'लो, देख लो, मैं ही हूं भीखण।'

देख लेने के पश्चात् मुनि कचरोजी स्वामीजी से बात करने का लोभ भी संवृत नहीं कर सके, अतः बोले—'कुछ चर्चा तो पूछिये।'

स्वामीजी—'जब देखने के लिए ही आए हो, तो तुम से क्या चर्चा पूछें?'

कचरोजी—'फिर भी कुछ तो पूछ ही लें।'

स्वामीजी ने उनका आग्रह देखकर पूछा—'तीसरे महाव्रत के द्रव्य, क्षेत्र, क़ाल, भाव और गुण क्या हैं?'

कचरोजी—'यह सब तो मेरे पास पत्र में लिखा पड़ा है।'

स्वामीजी—'पत्र फट जाए या गुम हो जाए, तब क्या करोगे?'

कचरोजी को जब इसका कोई उत्तर नहीं सूझा, तो बात को दूसरी ओर घुमाते हुए बोले—'मेरे गुरुजी ने एक बार आप से चर्चा पूछी थी, उसका उत्तर आपको भी नहीं आया था।'

स्वामीजी—'क्या हर्ज है, वही चर्चा तुम फिर से पूछ लो। यदि उन्हें उत्तर दिया है, तो तुम्हें भी दे देंगे।'

कचरोजी—'आप तो मेरे दादा-गुरु की अवस्था के हैं, अतः मैं आपका पोता-चेला हुआ। आपको चर्चा में कैसे जीत सकता हूं?'

स्वामीजी ने निरर्थक बातों में समय जाता देखकर एक ही बार में सारे प्रकरण को समाप्त करते हुए कहा—'कम-से-कम मुझे तो ऐसा पोता-चेला नहीं चाहिए।'

कचरोजी के सामने तब चुप होकर चले जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह गया था।[2]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ६५।

२. वही, दृ. ४६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

२. बुराई में भी भलाई की खोज

अवगुण-लेखन

संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे जो अपने कानों से अपनी निंदा सुनकर भी उत्तेजित न हों। स्वामीजी में यह विशेषता इतनी उत्कृष्ट थी कि वे अपनी निंदा को हंसते हुए सुन ही नहीं लेते थे, अपितु अपने ही हाथों से उन बातों को लिख भी लेते थे। उनके हाथ से लिखे हुए अनेक पत्र आज भी सुरक्षित हैं, जिन पर उनके तथाकथित अवगुण लिखे हुए हैं।

उनके जीवन में ऐसे अवसर अनेक बार आये, जब स्वयं उन्हीं के सामने तथा अगल-बगल के स्थानों पर विरोधी लोग विरुद्ध प्रचार करते और वे चुपचाप सुनते रहते। स्वामीजी अपने विरोधियों द्वारा किये गये किसी भी कार्य को प्रायः गुण रूप में लेने का ही प्रयास किया करते थे। कहा जा सकता है कि वे अनन्य रूप से गुणग्राही व्यक्ति थे। गुण को ग्रहण करना और मानना एक बात है, पर किसी के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निंदा किये जाने पर भी उसमें कहीं-न-कहीं गुण को खोज निकालने का प्रयास करना बिल्कुल दूसरी बात है। यह तो किसी महापुरुष का ही कार्य हो सकता है। स्वामीजी निस्संदेह ऐसे ही व्यक्तियों में से थे, जो बुराई में भी भलाई खोज लेते हैं।

अवगुण निकालने ही हैं

किसी ने आकर स्वामीजी को बतलाया कि अमुक स्थान पर लोग एकत्रित हो रहे हैं और वहां अमुक व्यक्ति आपके अवगुण निकाल रहा है।

स्वामीजी बोले—'निकाल ही रहा है, डाल तो नहीं रहा? यह तो बहुत अच्छी बात है। मुझे अवगुण निकालने ही हैं। कुछ मैं निकालूंगा, कुछ वह निकालेगा। चलो, इस प्रकार वे और भी शीघ्र निकल जाएंगे।'[१]

समझ आने पर भक्ति भी करेगा

स्वामीजी के साथ चर्चा करते समय एक भाई बहुत कटु बोला करता था। इस पर किसी ने स्वामीजी से कहा—'यह इतना उल्टा-सीधा बोलता है, तो फिर आप इससे चर्चा क्यों करते हैं?'

स्वामीजी ने कहा—'बालक जब तक नहीं समझता, तब तक अपने पिता की मूंछें पकड़ लेता है, पगड़ी पर भी हाथ मारता है, किन्तु समझ आने पर वही सेवा भी करता है। यह आज कटु इसलिए बोलता है कि इसे अभी तक साधुओं की पूरी पहचान नहीं है, पर जब वैसी समझ आ जाएगी, तब यह भक्ति भी करने लगेगा।'[२]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १३।

२. वही, दृ. २८७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

ठोक-बजाकर देखता है

एक बार चर्चा में पराजित होकर एक भाई ने आवेश-वश स्वामीजी के सिर पर ठोला मारा और चल दिया। साधुओं को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि ऐसे अयोग्य व्यक्तियों से चर्चा करने में कोई लाभ नहीं है।

स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा—'जब कोई मनुष्य दो-चार पैसे मूल्य की मिट्टी की हंडिया खरीदता है, तब पहले उसे ठोक-बजाकर देख लेता है कि कहीं फूटी हुई तो नहीं है? यहां तो फिर जीवनभर के लिए गुरुधारणा करने की बात है, अतः यह बेचारा ठोक-बजाकर देख लेना चाहे, तो अनुचित क्या है?'

३. आकर्षण के केन्द्र

रोकथाम के बावजूद

स्वामीजी जनता के लिए आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। वे जहां भी जाते, लोग उत्सुकतापूर्वक उनकी बाट देखते रहते। किसी स्थान पर कुछ दिन रहकर जब वे विहार करते, तो लोग तरसते-से रह जाते। जिनको उनसे मिलने का कभी अवसर नहीं मिला होता, वे उनके विषय में नाना कल्पना करते रहते। जो मिल सकते थे, वे अवसर पाते ही मिलने को लालायित रहते। जो एक बार मिल लेते, वे प्रायः सदा के लिए उनके ही हो जाया करते थे। उनके विरोधी इसीलिए अपने अनुयायियों को उनके पास जाने से रोकने का प्रयास किया करते, किन्तु वे उस कार्य में बहुधा असफल ही रहते। स्वामीजी का आकर्षण सब रोकथामों के बावजूद उन्हें अपनी ओर खींच लिया करता था।

ऐसा हठ मत करना

स्वामीजी सिरियारी से विहार करने लगे। जनता ने कुछ दिन और ठहरने की प्रार्थना की। वे नहीं माने। प्रार्थना का रूप हठ में बदलने लगा। फिर भी नहीं माने, तो सामजी भंडारी ने आगे बढ़कर अपनी पगड़ी स्वामीजी के पैरों में रख दी और कहा—'कम-से-कम आज तो आपको विराजना ही पड़ेगा, इस पगड़ी की लाज रखनी ही होगी।'

स्वामीजी ने उनका मन नहीं तोड़ा और उस दिन के लिए ठहरने की स्वीकृति देते हुए कहा—'आज तो तुम्हारी प्रार्थना मान लेते हैं, पर फिर कभी ऐसा हठ मत करना।'[1]

ऐसी प्रार्थना मत करना

आगरिया से स्वामीजी विहार करने लगे, तो लोगों ने कुछ दिन और विराजने

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ८५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

की प्रार्थना की। उन्होंने उसे अस्वीकार करते हुए विहार कर दिया। जनता का मन एकदम उदास हो गया।

मुनि भारमलजी ने जनता की अत्यन्त उदासी देखी तो मार्ग में स्वामीजी से कहा—'आपने विहार तो कर दिया, किन्तु यहां जनता बहुत उदास हो गई है। आप उनकी प्रार्थना मान लेते तो अच्छा रहता।'

दयालु स्वामीजी ने विहार स्थगित कर दिया और वापस ग्राम में पधार गये। उन्होंने सबको सावधान करते हुए कहा—'संतों के विहार से ऐसी उदासी क्यों आनी चाहिए?' मुनि भारमलजी से भी कहा—'आज तो तुम्हारी बात मानकर वापस आ गये हैं, पर फिर कभी ऐसी प्रार्थना मत करना।'[1]

तभी इतनी महिमा है

पुर और भीलवाड़े के मार्ग में स्वामीजी किसी वृक्ष की छाया में बैठे थे। वे वहां पीछे आ रहे साधुओं की प्रतीक्षा कर रहे थे। वहीं ढूंढाड़ की ओर का एक सनातनी भाई कहीं से आ गया। स्वामीजी को देखा, तो वन्दन किया और परिचय आदि पूछने लगा। उन्होंने अपना नाम 'भीखण' बतलाया, तो उसको इतना आश्चर्य हुआ कि मानो वह उसे मानने से ही इन्कार कर देगा।

उसने कहा—'मैंने कभी आपको देखा तो नहीं, पर आपकी महिमा इतनी सुनी थी कि देखने को मन ललचाया करता था। उस महिमा के आधार पर मैंने अपने मन में आपकी जो कल्पना की थी, वह तो यह थी कि आप किसी बड़े मठ की गद्दी के अधिपति होंगे। मैं तो समझता था कि आपके साथ हाथी, घोड़े, रथ, पालकी आदि बहुत बड़ा लवाजमा रहता होगा, पर आप तो उस कल्पना के सर्वथा विपरीत अकेले ही वृक्ष की छाया में बैठे हैं।'

स्वामीजी ने उसे जैन साधु की चर्या समझाते हुए बतलाया—'ये सब आडम्बर नहीं रखते, तभी तो इतनी महिमा है, अन्यथा दूसरे मठाधीशों की तरह ही हमारी भी स्थिति होती।'[2]

मोहर के योग्य

स्वामीजी ढूंढाड़ के एक गांव में पधारे। वहां के ठाकुर दर्शन करने के लिए आये। नमस्कार करके उन्होंने एक अधेली (आठ आने) स्वामीजी के चरणों में चढ़ाई।

स्वामीजी ने कहा—'हम पैसे नहीं लेते।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ८६।

२. वही, दृ. १२५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

ठाकुर असमंजस में पड़ गये। उन्होंने हाथ जोड़कर दीन स्वर से कहा—'आप तो मोहर के योग्य हैं, किन्तु मेरा सामर्थ्य इतना ही है। अबकी बार आपका पदार्पण होगा, तब एक रुपया चढ़ाने की चेष्टा करूंगा।'

स्वामीजी उनके सरल अज्ञान पर द्रवित होते हुए बोले—'हम साधुओं का व्रत तो अपरिग्रह है। अपरिग्रही के लिए पैसा, रुपया और मोहर आदि मिट्टी के समान हैं। जिसने घर का पैसा छोड़ दिया हो, वह दुनिया का पैसा किसलिए बटोरेगा?'

ठाकुर दुगुने आकर्षण से निःस्पृह स्वामीजी के चरणों में झुक गये।[1]

शिल्पियों की कमी

स्वामीजी के प्रति धार्मिक लोगों का आकर्षण इतना बढ़ा कि स्थान-स्थान से स्वयं पधारने तथा सन्तों को भेजने की मांग होने लगी। उस समय एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—'यह अवसर है, स्थान-स्थान पर सन्तों को भेजा जाये और पूरा उद्यम किया जाये, तो बहुत लोग समझ सकते हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'मकराना की खान में प्रतिमा बनाने योग्य श्वेत पत्थर बहुत हैं, किन्तु उतने शिल्पी कहां से आयें? साधु-साध्वियों के सीमित सिंघाड़ों द्वारा जनता की मांग को पूरा कर पाना सम्भव नहीं है।'[2]

सरस व्याख्यान

स्वामीजी का हर कार्य बड़ा आकर्षक हुआ करता था। सामान्य बातचीत से लेकर शास्त्रार्थ तक में वे जनता को मंत्र-मुग्ध कर लिया करते थे। कठिन-से-कठिन विषय को उदाहरण के द्वारा सरलता से समझाने की उनकी पद्धति को लोग अत्यन्त पसन्द किया करते थे। उनके व्याख्यान का तो अपना एक पृथक् ही आकर्षण था।

एक बार स्वामीजी ने रोयट में शालिभद्र का व्याख्यान सुनाया। लोगों ने कहा—'शालिभद्र का व्याख्यान पहले भी अनेक बार साधुओं से सुंना है, परन्तु इस बार जैसा रस आया, वैसा पहले कभी नहीं आया।'

स्वामीजी ने कहा—'एक ही व्याख्यान वक्ताओं की भिन्न पद्धतियों के कारण सहज ही भिन्नता पा जाता है, इसमें इतने आश्चर्य की क्या बात है?'[3]

गहराई तक पहुंचने वालों ने उस समय अवश्य ही यह निष्कर्ष निकाला होगा कि स्वामीजी के साथ उनका त्याग और विराग भी बोला करता है। यही कारण था

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ८९।

२. वही, दृ. १५८।

३. वही, दृ. २२६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

कि अन्यत्र वैसा रस अप्राप्य नहीं, तो दुष्प्राप्य अवश्य था। आध्यात्मिकता के सुधा-सरोवर में डुबकी लगाकर निकला उनका प्रत्येक वाक्य जनता के मन में उतरकर उसे सहज ही मधुमय बना देता था।

भीखणजी कैसे लगे?

पाली के बाबेचों ने शोभाचंद सेवग को स्वामीजी के विषय में निन्दापरक कविता करने को उकसाया। साथ में दस-बीस रुपये देने का प्रलोभन भी दिया।

उसने कहा—'मैंने भीखणजी के विषय में बातें तो अनेक प्रकार की सुनी हैं, पर जब तक एक बार उनसे प्रत्यक्ष मिल नहीं लेता, तब तक उनके विषय में कुछ कहना उचित नहीं समझता।'

स्वामीजी उन दिनों खैरवा में थे। वहां जाकर उसने उनके दर्शन किये और बातचीत की। उसने पूछा—'मैंने सुना है कि आप भगवान् का विरोध करते हैं।'

स्वामीजी—'हमने तो भगवान् के वचनों पर ही घर छोड़ा है, अतः उनका विरोध करने की बात यदि तुमने सुनी है, तो वह सर्वथा मिथ्या है।'

सेवग—'नहीं, मेरा तात्पर्य है कि आप मन्दिर को उठाते हैं।'

स्वामीजी—'मन्दिर में तो हजारों मन पत्थर लगते हैं। उसे उठाने का सामर्थ्य हमारे में तो नहीं है।'

सेवग—'नहीं, नहीं! मेरा तात्पर्य है कि आप भगवान् की प्रतिमा को पत्थर कहते हैं।'

स्वामीजी—'हमें झूठ तो बोलना है नहीं, अतः जो प्रतिमा जिस चीज की बनी होती है, उसी चीज की कहते हैं, जैसे सोने की प्रतिमा को सोने की और चांदी की प्रतिमा को चांदी की कहते हैं, वैसे ही जो पत्थर की प्रतिमा होती है, उसको पत्थर की कहते हैं, सबको नहीं।'

स्वामीजी ने इन उत्तरों के द्वारा उसे वह तत्त्व समझा दिया, जो उसके लिए अन्य किसी प्रकार से समझ पाना कठिन था। उसके पश्चात् उन्होंने उसको साध्वाचार आदि अन्य विषयों की भी जानकारी दी। स्वामीजी के स्नेह-सिक्त वचन और मधुर व्यवहार से वह बहुत प्रभावित हुआ।

वह वापस पाली में आया, तब बाबेचों ने पूछा—'खैरवा गया था, तो वहां भीखणजी से मिला होगा और उनके विषय में कुछ कविता भी लिखी होगी?'

सेवग ने कहा—'जी, मिला था और कुछ 'कवित्त' भी बनाकर लाया हूं।'

पत्र निकाल कर सुनाने को उद्यत हुआ तो वे बोले—'यहां नहीं, तेरापंथी श्रावकों के सामने ही सुनाना।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वे उसे लेकर श्रावकों के पास आये और कहने लगे—'यह तो एक सेवग है, अतः किसी के पक्ष का न होकर निष्पक्ष है। इसे न हमारे से कुछ मतलब है और न तुम्हारे से। यह तो जैसा जानता है, वैसा ही कहेगा।'

सेवग को बोलने के लिए प्रेरित करते हुए उन लोगों ने कहा—'क्यों भाई शोभाचंद! तू भीखणजी के पास जाकर आया है, उनसे बातचीत भी करके आया है। बोल! तुझे वे कैसे लगे?'

सेवग ने अपना बचाव-सा करते हुए कहा—'रहने दीजिए, उनके विचार उनके पास हैं और आपके विचार आपके पास। मुझे क्यों बीच में डालते हैं? मैं उनके विषय में क्या बतलाऊंगा?'

आग्रह करते हुए वे बोले—'हम कोई तुझे झूठ बोलने के लिए थोड़ा ही कह रहे हैं। जैसा देखा अथवा जाना है, वैसा ही कहना। इसमें हानि भी क्या है?'

सेवग ने तब स्वामीजी के गुणानुवाद की कविताएं सुनाईं और कहा—'वे तो अपनी कथनी के समान ही करनी वाले हैं। मैंने ऐसा सन्त-पुरुष आज तक कहीं नहीं देखा।'

अपनी आशा के विपरीत जब स्वामीजी के गुणानुवाद की कविता सुनी तो विरोधी व्यक्ति जल-भुन कर रह गये। श्रावक-वर्ग बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सेवग को पुरस्कार स्वरूप बीस-पच्चीस रुपये दिये।[१]

४. अपराजेय व्यक्तित्व

महान् चर्चावादी

स्वामीजी केवल आकर्षण के केन्द्र ही नहीं थे, बल्कि कुछ व्यक्तियों के लिये विभीषिका के केन्द्र भी थे। उनके विरोधी सदैव उनसे घबराते थे। उनके साथ चर्चा करने का साहस कर पाना उन सबके लिए बहुत कठिन था। चर्चा में उन्हें जीत लेने का तो किसी को स्वप्न भी शायद ही आया हो।

धर्म-चर्चा करने की उनकी क्षमता सदा मार्गदर्शन देने वाली थी। तत्त्व-जिज्ञासु उन्हें कभी भूल नहीं सकते। आगमों के विवादास्पद विषयों का निर्णय करने के समय अवश्य ही भावी पीढ़ियों द्वारा वे याद किये जाते रहेंगे। उनके विषय में मुनि वेणीरामजी ने यह बिल्कुल उपयुक्त कहा है :

हिवै सोध्यां तो पावै नहीं रे, भिक्खू सरीखा साध।
करड़ो काम पड़सी चर्चा तणो रे, तिण वेलां आवसी याद।।[२]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ६६।

२. मुनि वेणीरामजी रचित भिक्खु-चरित्र, ११।१३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी के साथ चर्चा करना एक महत्त्व की बात समझी जाने लगी थी। किसी प्रसंग पर उनसे एक बार चर्चा कर लेने मात्र से समाज के दूसरे व्यक्तियों में उसका स्तर कुछ ऊंचा माना जाने लगता था।

कुछ व्यक्ति उनसे शास्त्रीय चर्चा करने आया करते थे, तो वे उन्हें शास्त्रीय ढंग से ही उत्तर दिया करते थे। पर कुछ व्यक्ति केवल बुद्धि-विलास के लिए भी आ जाया करते थे। स्वामीजी उन्हें भी निराश नहीं करते थे। उनको उनके ही ढंग का उत्तर देकर निरुत्तर कर देना भी उनके बायें हाथ का खेल था। इसलिए जब वे किसी ग्राम में जाते, तो उससे पूर्व ही वहां के विरोधियों में एक हलचल-सी मच जाती। सब पर इस प्रकार की विभीषिका का एक साम्राज्य छा जाता कि जिसका सामना करने में वे अपने-आपको असमर्थ पाते थे। वस्तुतः स्वामीजी का व्यक्तित्व पूर्णतः अपराजेय था।

मंत्रवादी के समान

किसी ने स्वामीजी से पूछा—'आप जहां जाते हैं, वहां के विरोधी व्यक्तियों में इतना भय क्यों छा जाता है?'

स्वामीजी ने एक उदाहरण के द्वारा रहस्य समझाते हुए कहा—'जिस ग्राम में डाकिनियां हों, यदि वहां कोई ऐसा मंत्रवादी आ जाये, जो उन सबका भेद खोल देने के साथ-साथ उन्हें अपनी मंत्र-शक्ति से नष्ट भी कर दे, तो उसके आगमन पर साधारण जनता को तो यह प्रसन्नता ही होती है कि भविष्य के लिए ग्राम में डाकिनियों का उपद्रव शांत हो जाएगा, पर डाकिनियों तथा उनके परिवार वालों के मन में धसका पड़ता है। वे सब मंत्रवादी को नहीं चाहते, क्योंकि उससे सबके सामने उनकी पोल खुलती है। इसी प्रकार हमारे जाने से अन्य जनता तो प्रसन्न ही होती है, पर जिनके आचार में खामियां हैं, उनके तथा उनके अनुयायियों के मन में स्वतः ही भय छा जाता है।'[1]

चर्चा महंगी पड़ती है

स्थानकवासी साधु गुमानजी के शिष्य रतनोजी चाहते थे कि भीखणजी से चर्चा करें। मुनि गुमानजी ने उन्हें समझाते हुए कहा—'उनसे चर्चा करते तो हमें भी भय लगता है, तब तू क्या चर्चा करेगा?'

मुनि रतनोजी ने भय लगने का कारण पूछा, तो वे बोले—'भीखणजी चर्चा का जो उत्तर देते हैं, पीछे उसकी 'जोड़' कर देते हैं, ग्राम-ग्राम में उसे भाइयों को सिखा भी देते हैं। इस प्रकार वे सारे ग्रामों को बिगाड़ देते हैं। हमें उस चर्चा का

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २६६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उत्तर देने के लिए तब एक भीखणजी ही नहीं, किन्तु फौज की फौज खड़ी हो जाती है। इसलिए भीखणजी से चर्चा हमारे लिए सदा ही महंगी पड़ती है।'[1]

अकबरी मोहरें

पुर में स्वामीजी से चर्चा करते हुए गुलाब ऋषि जब निरुत्तर हो गये, तो कहने लगे—'मुझे निरुत्तर कर देने से कुछ नहीं होता। गोगुन्दा के हमारे श्रावक तुंगिया नगरी के श्रावकों जैसे हैं। उनसे चर्चा करोगे, तब तुम्हें पता लगेगा। वे तो सबके सब अकबर की मोहरें हैं।'

स्वामीजी बोले—'अवसर आने पर उनसे भी चर्चा करने का भाव है।'

वह अवसर शीघ्र ही आ गया। स्वामीजी गोगुन्दा पधारे। वहां के श्रावकों से चर्चा हुई। स्वामीजी ने उन्हें आगमों के आधार पर आचार-विचार-सम्बन्धी सारी बातें समझाईं। फलस्वरूप वहां का श्रावक-वर्ग स्वामीजी का भक्त बन गया।

गुलाब ऋषि ने जब यह संवाद सुना, तो स्वयं वहां आये और स्वामीजी से चर्चा करने लगे। श्रावकों ने स्वामीजी को रोकते हुए कहा—'ये हमारे पहले के गुरु हैं, अतः हमें ही इनसे चर्चा करने का अवसर दें।' स्वामीजी ने उनकी बात मान ली। भाइयों ने गुलाब ऋषि से ऐसी चर्चा की कि उन्हें निरुत्तर हो जाना पड़ा। आखिर क्रुद्ध होकर वे कहने लगे—'गोगुन्दा के श्रावकों को मैं तो अकबर की मोहर के समान समझा करता था, पर तुम तो बिल्कुल ही ठीकरी के सिक्के निकले।'[2]

किस न्याय से?

उदयपुर में अन्य सम्प्रदाय के एक मुनि स्वामीजी के पास आये और बोले—'भीखणजी! कोई चर्चा पूछो।'

स्वामीजी ने पहले तो टालने का प्रयास किया, पर जब वे आग्रह करने लगे, तो पूछ लिया—'अच्छा, बताओ तुम संज्ञी हो या असंज्ञी?'

मुनि—'संज्ञी।'

स्वामीजी—'किस न्याय से?'

मुनि—'नहीं-नहीं भीखणजी! मेरे कहने में गलती हो गई। मैं तो असंज्ञी हूं।'

स्वामीजी—'किस न्याय से?'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ९४।

२. वही, दृ. ९०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

दोनों बार ही जब स्वामीजी ने न्याय पूछा, तो वे समझे कि संभवतः मेरे पूर्वोक्त दोनों ही कथन गलत थे। अबकी बार उस गलती को सुधारते हुए बोले—'मैं तो संज्ञी या असंज्ञी दोनों ही नहीं हूं।'

स्वामीजी—'दोनों ही क्यों नहीं हो, इसका भी न्याय बतलाना होगा।'

वे क्रुद्ध होकर बोले—'तुमने न्याय-न्याय की रट लगाकर हमारे सारे मत को ही बिखेर दिया।'

और वे स्वामीजी की छाती पर मुक्का मारकर चलते बने।[1]

घोड़े के कितने पैर

स्वामीजी चर्चा में किसी से हारते नहीं थे, अतः कुछ व्यक्तियों ने षड्यंत्र रचकर उन्हें हराने की बात सोची। वे उनके पास आये और पूछने लगे—'भीखणजी! घोड़े के कितने पैर होते हैं?'

स्वामीजी ने प्रश्न के पीछे छिपी दुरभिसन्धि को तत्काल भांप लिया। वे जरा सोचकर और जोर से एक, दो, तीन, चार—यों गिनकर बोले—'चार होते हैं।'

वे व्यक्ति स्वामीजी के उत्तर देने के उस विचित्र ढंग को न समझने के कारण बोले—'इस प्रश्न के उत्तर में इतनी देर तक सोचने और गिनने की क्या बात थी?'

स्वामीजी ने कहा—'इसमें तो इतनी सोचने और गिनने की कोई बात नहीं थी, पर तुम इसके पश्चात् मुझसे कनखजूरे के पैरों की संख्या भी पूछ सकते हो। इसका चट से उत्तर दूं और उसमें अटकूं, इससे तो अच्छा यही है कि इसका गिनकर उत्तर दूं, तो अगले के लिए भी गिनने का अवसर रह जाए।'

स्वामीजी के इस कथन पर वे व्यक्ति चकित होकर बोले—'भीखणजी! आप वस्तुतः ही अपराजेय हैं। हम जो सोचकर आये थे, वह आपने बिल्कुल ठीक रूप से पहले ही भांप लिया।'

५. समझाने की उत्तम पद्धति

अपच न होने पाये

स्वामीजी का किसी व्यक्ति को समझाने का प्रकार भी अपना पृथक् ही था। बहुत-सी बातों को वे दृष्टान्त देकर इतने सरल ढंग से समझा देते कि लोग आश्चर्यचकित रह जाते। दूसरा व्यक्ति परिश्रम कर लेने पर भी जो तत्त्व किसी के गले नहीं उतार पाता, स्वामीजी उसे सहज रूप में समझा देते। वे जैसी और जितनी समझ का व्यक्ति देखते, वैसी और उतनी ही मात्रा की बात कहा करते, ताकि समझने वाले को विचारों का अपच न होने पाये।

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ४७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जैसा रोग वैसी औषधि

स्वामीजी वैद्य के समान थे। जैसा रोग देखते, उसी के अनुरूप औषधि का प्रयोग करते। किसी-किसी को तो वे अत्यन्त सौम्य दृष्टान्त से समझा दिया करते, पर कभी-कभी उनके दृष्टान्त बहुत कड़े हो जाया करते थे। इस विषय में एक भाई ने स्वामीजी से पूछा—'स्वामीजी! आप इतने कड़े दृष्टान्त क्यों देते हैं?'

स्वामीजी ने अपनी उस विशिष्ट पद्धति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'साधारण खाज तो खुजाने मात्र से मिट जाती है, पर गंभीर वायु का रोग ऐसे नहीं मिटता। उसके लिए तो शरीर के अवयव-विशेष को अग्नि से लाल हुई हलवानी (कुश) से दागना आवश्यक हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व का रोग भी अत्यन्त भयंकर होता है। कभी-कभी मुझे कड़े दृष्टान्तों के द्वारा ही उसका शमन करना पड़ता है।'[1]

गाय को क्या खिलाती हो?

काफरला गांव में साधु गोचरी गये। वहां एक जाटणी के घर पर धोवन का प्रासुक पानी था, पर वह देना नहीं चाहती थी। सन्तों ने उसे समझाने का बहुत प्रयास किया, पर सारा निष्फल ही सिद्ध हुआ। न देने में उसका तर्क यह था कि जो व्यक्ति जैसा देता है, वैसा ही आगे पाता है, अतः यदि मैं आपको धोवन दूंगी, तो मुझे भी आगे वही मिलेगा। मेरे से वह किसी भी प्रकार से नहीं पीया जायेगा।

सन्तों को पानी की आवश्यकता थी और पानी विद्यमान था, पर जाटणी दे नहीं रही थी। निरुपाय होकर वे वापस आ गये। उन्होंने जब वह सारी स्थिति स्वामीजी को बतलाई, तो वे बोले—'चलो, मैं चलकर समझाता हूं।' उन्होंने जाटणी को प्रासुक पानी देने के लिये कहा, तो उसने अपना वही तर्क 'जैसा देता है, वैसा ही पाता है' दुहरा कर पानी देने से इन्कार कर दिया।

स्वामीजी ने कहा—'तुम अपनी गाय को क्या खिलाती हो?'

जाटणी—'घास-फूस'।

स्वामीजी—'तो क्या गाय तुम्हें वापस घास-फूस ही देती है?'

जाटणी—'नहीं, वह तो दूध देती है।'

स्वामीजी—'तो फिर तुम यह कैसे कहती हो कि 'जैसा देता है, वैसा ही पाता है।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ६६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जाटणी के मस्तिष्क में यह बात झट से बैठ गई। उसने बड़ी प्रसन्नता से वह प्रासुक पानी स्वामीजी को दिया।[1]

ज्ञान भी तो चारा बन गया

बून्दी में सवाईरामजी ओस्तवाल स्वामीजी से धर्म-चर्चा कर रहे थे। आचार, विचार, दान, दया, आज्ञा, अज्ञान आदि अनेक विषयों पर बहुत समय तक चर्चा कर लेने के पश्चात् भी जब उन्होंने बात का क्रम समाप्त नहीं किया, तो स्वामीजी ने कहा—'गाय-भैंस के सामने जब चारा अधिक डाल दिया जाता है, तो वे उसे अधिक बिखेरती हैं, अतः आज जितनी चर्चा की है, पहले उसे हृदयंगम कर लो, आगे की चर्चा उसके पंश्चात् करेंगे।'

सवाईरामजी कुछ अप्रसन्न होकर बोले—'आपने तो मुझे पशु समझा है, तब फिर और चर्चा क्या करनी है।'

स्वामीजी ने उनकी अप्रसन्नता का उन्मूलन करते हुए कहा—'यदि इस प्रकार उपमा देने मात्र से तुम पशु बन गये, तो साथ ही साथ मेरा ज्ञान भी चारा बन गया।'

यह सुनकर वे प्रसन्न हो उठे। स्वामीजी का ज्ञान यदि चारा बनता हो, तो उसे चरने के लिए पशु बनना उन्हें बिलकुल ही नहीं अखरा।[2]

साधु कौन और ढोंगी कौन?

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—'संसार में साधु का वेष पहनने वालों की संख्या बहुत है। उनमें सच्चे कौन हैं और ढोंगी कौन?'

स्वामीजी ने कहा—'किसी वैद्य से एक अचक्षु व्यक्ति ने पूछा—इस नगर में नंगे कितने हैं और सवस्त्र कितने? वैद्य ने कहा—उनकी गिनती करना मेरा काम नहीं है। मैं औषधि के द्वारा तुम्हारी दृष्टि ठीक कर देता हूं, फिर तुम स्वयं गिन लेना। इसी प्रकार व्यक्तिशः किसी के विषय में कुछ कहना मेरे लिए उचित नहीं। मैं साधु के लक्षण बतलाकर तुम्हें दृष्टि प्रदान कर सकता हूं, फिर साधु और असाधु के विषय में जांच तुम स्वयं कर लेना।'[3]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ३४।

२. वही, दृ. १

(क) प्र.प.सं. पत्र २८ पर उक्त घटना प्रकारान्तर से दी है--स्वामीजी व्याख्यान समाप्त करने लगे, तब सवाईरामजी ने थोड़ी देर और सुनाने के लिए कहा। स्वामीजी बोले--'घोड़े को अधिक घास डाला जायेगा, तो वह अधिक बिखेरेगा।' क्षुब्ध होकर सवाईरामजी जाने को उद्यत हुए और बोले कि आप तो हमें पशु समझ रहे हैं। स्वामीजी ने कहा--'तुलना मात्र से यदि तुम पशु बन गये, तो क्या मेरा ज्ञान घास नहीं बना?' तब वे प्रसन्न हो गये।

३. वही, दृ. ६६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

साहूकार और दिवालिया

एक बार उपर्युक्त प्रश्न एक अन्य भाई ने भी स्वामीजी से किया था। तब उन्होंने दूसरी प्रकार से वही तत्त्व यों समझाया—'रुपये उधार लेकर जो व्यक्ति सम्मान सहित वापस चुका देता है, वह साहूकार होता है और जो नहीं चुकाता तथा मांगने पर झगड़ा करता है, वह दिवालिया होता है। इस लक्षण के आधार पर नगर के किसी भी व्यक्ति का परीक्षण किया जा सकता है। इसी तरह जो व्यक्ति ग्रहण किये हुए पांचों महाव्रतों को निष्ठापूर्वक पालता है, वह साधु होता है और जो उन्हें नहीं पालता वह असाधु। इस लक्षण के आधार पर तुम किसी भी साधु के लिए निर्णय कर सकते हो।'[1]

एक टोला शेष रहा

पादू के उपाश्रय में स्वामीजी ठहरे हुए थे। वे गोचरी जाने की तैयारी कर रहे थे, तभी अन्य सम्प्रदाय के दो साधु 'भीखणजी कहां हैं? भीखणजी कहां हैं?'—इस प्रकार पूछते हुए आए।

स्वामीजी ने कहा—'कहिए! क्या काम है? मेरा ही नाम भीखण है।'

आगन्तुक साधु बोले—'आपका बहुत नाम सुना है, अतः बहुत दिनों से देखने की इच्छा थी।'

स्वामीजी—'आज वह इच्छा तो पूरी हो गई। अब और कुछ कहना हो तो कहिए।'

आगन्तुक—'भीखणजी! आपने अन्य सब कार्य तो अच्छे ही किए, पर एक यह कार्य अच्छा नहीं किया कि हम बाईसटोला के साधुओं को आप असाधु कहते हैं।'

स्वामीजी—'आप किस टोले के साधु हैं?'

आगन्तुक—'सामीदासजी के।'

स्वामीजी—'आपके टोले में एक लिखित मर्यादा है, जिसमें लिखा है कि अन्य इक्कीस टोले का कोई साधु इस टोले में आना चाहे, तो उसे नयी दीक्षा देकर ही सम्मिलित किया जाए। क्या आप उक्त मर्यादा को जानते हैं?'

आगन्तुक—'हां, जानते हैं।'

स्वामीजी—'इस हिसाब से इक्कीस टोले के साधुओं को स्वयं आप लोगों ने ही असाधु ठहरा दिया। अन्यथा नयी दीक्षा की आवश्यकता क्यों होती? अब

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १००।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

केवल आपके टोले की ही बात रही। उसे इस प्रकार समझिए— भगवान् ने कहा है कि बेले का प्रायश्चित्त आता हो, उसे यदि तेला दिया जाए तो देने वाला उतने ही प्रायश्चित्त का भागी होता है। इस हिसाब से यदि आप अन्य टोले वालों को साधु मानते हैं और अपने में सम्मिलित करते समय नयी साधुता देते हैं, तो स्वयं नयी साधुता के भागी बनते हैं। अब आप स्वयं ही सोचिए कि क्या स्वयं आपकी मर्यादा से ही आपका टोला असाधु सिद्ध नहीं हो जाता?'

आगन्तुक दोनों साधु कहने लगे—'भीखणजी! आपकी बुद्धि बड़ी तेज है। आपने हमारी मर्यादा से ही हमें असाधु सिद्ध कर दिया।'[१]

वस्त्र रखने में दोष नहीं

स्वामीजी ढूंढाड़ में विहार कर रहे थे। एक गांव में दिगम्बर श्रावक चर्चा करने के लिए आये। वे स्वामीजी से कहने लगे—'मुनि को तार मात्र भी वस्त्र रखना नहीं कल्पता। जो परीषह सहने में असमर्थ होते हैं, वे ही वस्त्र रखते हैं।'

स्वामीजी—'परीषह कितने हैं?'

श्रावक—'बाईस।'

स्वामीजी—'पहला परीषह कौन-सा है?'

श्रावक—'क्षुधा।'

स्वामीजी—'दिगम्बर मुनि आहार करते हैं कि नहीं?'

श्रावक—'एक समय करते हैं।'

स्वामीजी—'तुम्हारे हिसाब से वह प्रथम परीषह सहने में असमर्थ हैं?'

श्रावक—'आहार तो भूख लगने पर करते हैं।'

स्वामीजी ने उन लोगों से फिर पूछा—'दिगम्बर मुनि पानी पीते हैं कि नहीं?'

श्रावक—'तृषा शान्त करने के लिए पीते हैं।'

स्वामीजी—'हम भी शीत आदि शांत करने के लिए वस्त्र ओढ़ते हैं। अब तुम ही बतलाओ कि भूख मिटाने के लिए अन्न और प्यास मिटाने के लिए पानी का प्रयोग करने पर यदि तुम्हारे मुनि परीषह सहने में अक्षम नहीं माने जाते, तब शीतादि मिटाने के लिए वस्त्र का प्रयोग करने पर हमें कैसे अक्षम कहते हो?'

श्रावक जन तुलनात्मक समाधान पाकर निरुत्तर हो गये।[२]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १०।

२. वही, दृ. ३०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

चौका और मस्तक

स्वामीजी माधोपुर पधारे, तब अनेक भाइयों ने तत्त्व को समझा और गुरु-धारणा की। स्वामीजी उन घरों में गोचरी जाते, तब भाई तो आग्रहपूर्वक ले जाते, पर उनकी स्त्रियां चौके में आने से रोक देतीं।

भाइयों ने अनेक बार स्वामीजी से कहा—'महाराज! स्त्रियों को हमने कई प्रकार से समझाया, परन्तु चौके में आने देने की बात पर वे सहमत नहीं होतीं। आप कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे यह बात उनके मस्तिष्क में उतरे।'

स्वामीजी ने कहा—'शरीर में सबसे ऊपर कौन-सा अंग है।'

भाई—'मस्तक।'

स्वामीजी—'और सबसे नीचे?'

भाई—'पैर।'

स्वामीजी ने कहा—'तुम लोग अपने घर की स्त्रियों को समझाओ कि जब हम अपने सबसे उत्तम अंग मस्तक को उनके सबसे नीचे अंग पैरों में रखते हैं, तब चौका कौनसी गिनती में आता है? क्या वह हमारे मस्तक से भी अधिक पवित्र है?'

भाइयों ने जब उक्त प्रकार से स्त्रियों को समझाया, तो वह बात तत्काल उनके मस्तिष्क में बैठ गई। फिर कभी उन्होंने सन्तों को चौके में जाने से नहीं रोका।[१]

सात या आठ आत्मा

माधोपुर के तत्त्वज्ञ श्रावक गूजरमलजी और केसूरामजी एक दिन तत्त्व-चर्चा करते हुए झगड़ पड़े। गूजरमलजी श्रावक में आठ आत्मा बतलाते थे, तो केसूरामजी सात। केसूरामजी श्रावक में चारित्र आत्मा स्वीकार नहीं करते थे। उनके विपरीत गूजरमलजी का कथन था कि श्रावक में चारित्र आत्मा न हो, तो किसी एक वस्तु के त्याग से लेकर बारह व्रतों के धारण करने तक का कार्य निरर्थक हो जाएगा। दोनों का मतभेद शीघ्र ही मनभेद में परिणत हो गया।

वि.सं. १८४८ में स्वामीजी माधोपुर पधारे। दोनों श्रावक सेवा में उपस्थित हुए, पर स्वामीजी ने एकान्त में किसी से बात नहीं की। दोनों आमने-सामने बैठे, तब उन्होंने उनकी सारी बात सुनी और कहा—'श्रावक जो भी त्याग करता है, वह देश चारित्र कहलाता है। आगम में चारित्र के पांच भेद बतलाए हैं, उनमें देश चारित्र को नहीं गिना गया है, इसीलिए पूर्ण चारित्र की अपेक्षा से श्रावक में चारित्र आत्मा नहीं मानी जाती।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ३३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी के उक्त कथन से गूजरमलजी को वह तत्त्व हृदयंगम हो गया। केसूरामजी के साथ उनका मनभेद भी उसी के साथ समाप्त हो गया।[१]

पूर्वजों का अस्तित्व

एक बार केलवा के ठाकुर मोखमसिंहजी ने स्वामीजी से पूछा—'आप आगम सुनाते हैं, उसमें भूत और भविष्य सम्बन्धी अनेक घटनाएं आती हैं, परन्तु उन्हें किसी ने देखा नहीं है, अतः वे सत्य हैं या नहीं, इसका निर्णय कैसे हो?'

स्वामीजी ने कहा—'तुम अपने पूर्वजों के नाम तथा उनके जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाएं जानते हो, परन्तु उनको तुमने देखा नहीं है, तब उनकी सत्यता पर कैसे विश्वास करते हो?'

ठाकुर बोले—'पूर्वजों के नाम तथा उनकी जीवनियां भाटों की पुस्तकों में लिखी हुई हैं, उन्हीं के आधार पर हम जानते हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'भाटों के असत्य बोलने तथा लिखने का त्याग नहीं है, फिर भी उनकी लिखी घटनाओं को सत्य मानते हो, तब ज्ञानियों द्वारा प्ररूपित शास्त्रों को सत्य मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।'

ठाकुर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—'प्रश्नों का ऐसा प्रभावशाली उत्तर देने वाला अन्य कोई व्यक्ति मैंने नहीं देखा।'[२]

मिश्री और सन्त

पीपाड़-निवासी चोथमलजी बोहरा ने पाली में कपड़े की दुकान की, उस वर्ष स्वामीजी का चतुर्मास पाली में था। चतुर्मास की समाप्ति पर चोथमलजी ने स्वामीजी को 'बासती' के दो थान दिए। स्वामीजी ने जब उनको स्वीकार कर लिया, तब चोथमलजी ने पूछा— 'भीखणजी! मैं आपको साधु नहीं मानता, फिर भी वस्त्र-दान किया है, मुझे इसका शुभ फल होगा या अशुभ?'

स्वामीजी ने कहा—'किसी व्यक्ति ने विष समझकर मिश्री मुख में रख ली। वह उससे मरता है या नहीं?'

चोथमलजी बोले—'नहीं मरता। मिश्री तो मुंह मीठा करती है।'

स्वामीजी ने निष्कर्ष की भाषा में कहा—'संत मिश्री की तरह होते हैं। उन्हें कोई असाधु समझता है तो वह उसके ज्ञान की कमी है। पात्र-दान का फल सदा शुभ होता है।'[३]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ५१।

२. वही, दृ. ८८।

३. वही, दृ. ६२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

नदी और कलियां

स्वामीजी के पास कई मूर्तिपूजक लोग आए और कहने लगे—'भीखणजी! आप सन्तों को नदी पार करने में धर्म मानते हैं, तब पूजा के समय हम भगवान् को फूल चढ़ाते हैं, उसमें भी धर्म मानना चाहिए।'

स्वामीजी ने कहा—'एक स्थान पर नदी में पानी कटि तक हो, दूसरे पर घुटने तक और तीसरे पर नदी सूखी हो, तो हम दो-चार कोस का घुमाव लेकर भी वहीं से पार होंगे जहां नदी सूखी है। इसी तरह मान लीजिए, एक ओर सूखे फूल पड़े हों, दूसरी ओर दो-तीन दिन के कुम्हलाये हुए और तीसरे स्थान पर पौधों पर लगी कलियां हों, तो आप भगवान् को कौन से फूल चढ़ाना पसन्द करेंगे?'

उन लोगों ने कहा—'पौधों पर से नई कलियां तोड़कर चढ़ाएंगे। बासी तथा सूखे फूल चढ़ाना अनुपयुक्त है।'

स्वामीजी ने कहा—'बस, आपमें और हमारे में यही भावों का अन्तर है। हमारे परिणाम पानी को बचाने के रहते हैं, जबकि आपके परिणाम कच्ची कलियां तोड़ने के।'[१]

शाह और साधु

किसी ने पूछा—'भीखणजी! तुम जिन्हें असाधु मानते हो, उन्हीं को 'अमुक साधु' कहकर क्यों पुकारते हो?'

स्वामीजी ने कहा—'किसी ने दिवाला निकाल दिया हो, फिर भी विशेष अवसर पर उसकी ओर से जब गांव में निमन्त्रण दिया जाता है, तब यही कहा जाता है कि आज अमुक शाह के घर का निमन्त्रण है। इसी तरह साधुत्व न पालने पर भी द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा से उसे साधु कहा जाता है।'[२]

तो संवर कर ले

ढूंढाड़ का एक श्रावक शंकाशील हो गया। संघ से पृथक् हुए मुनि वीरभाणजी ने स्वामीजी के विषय में अनेक असत्य बातें कहकर उसे भ्रांत बना दिया था। कालान्तर में जब स्वामीजी उधर पधारे, तब वह आया तो सही, पर नमस्कार नहीं किया। स्वामीजी ने उसे सामायिक करने के लिए कहा, तो बोला—'सामायिक तो मैं नहीं करूंगा, क्योंकि सम्भव है बातचीत करते समय मेरे मुंह से आपके लिए 'स्वामीजी' शब्द का प्रयोग हो जाये, तो मुझे सामायिक में दोष लगे।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ६७।

२. वही, दृ. ६८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने कहा—'एक मुहूर्त्त का संवर करले। उसमें तू यथावश्यक आगार रख सकता है।'

उसने तब संवर किया। स्वामीजी ने उसकी एक-एक शंका का समाधान किया। निस्संदेह होने पर अपने अविनय के लिए क्षमा मांगता हुआ वह स्वामीजी के पैरों में गिर पड़ा।[1]

कौन-सा खपरेल लायेगा

मुनि बेणीरामजी बाल्यावस्था में थे, तब एक दिन स्वामीजी से कहने लगे—'हमें हिंगुल से पात्र नहीं रंगने चाहिए, क्योंकि रंग की सुन्दरता पात्र के प्रति ममत्व पैदा करती है।'

स्वामीजी ने कहा—'हमें तो ऐसा अनुभव नहीं हुआ, तुम्हें होता हो तो मत रंगना।'

मुनि बेणीरामजी ने कहा—'मैं खपरेल से रंगने का विचार करता हूं।'

स्वामीजी ने कहा—'खपरेल लेने जाओगे, तब यदि पहले पीले रंग का कच्चा खपरेल दिखाई दे, फिर उससे कुछ आगे लाल रंग का पक्का खपरेल दिखाई दे तो तुम कौनसा लोगे?'

मुनि बेणीरामजी ने कहा—'उनमें से तो लाल रंगवाला पक्का खपरेल ही लूंगा।'

स्वामीजी ने कहा—'तब तुम्हारी भावना तो अच्छा रंग खोजने की ही रही। खपरेल में जब अच्छा रंग खोजते हो, तो मूल रंग को ही काम में लेने में क्या बाधा है? ममत्व तो मन का दोष है, रंग तथा सुन्दरता का नहीं।'

मुनि बेणीरामजी के मन में स्वामीजी की उक्त बात पूर्णरूपेण बैठ गई। उसके बाद उनको उस संदेह ने कभी नहीं सताया।[2]

छह महीने बचे

वि. सं. १८५३ के शेष काल में स्वामीजी मांढा पधारे। वहां गृहस्थावस्था में हेमजी ने सिरियारी से आकर दर्शन किये। दूसरे दिन प्रातः स्वामीजी ने कुशलपुर की ओर विहार किया तथा हेमजी नीमली के मार्ग से सिरियारी की ओर चल दिये। मार्ग में स्वामीजी को अच्छे शकुन नहीं हुए, अतः वे भी उस मार्ग को छोड़कर नीमली की ओर ही आ गये। हेमजी की गति मन्द थी और स्वामीजी की तेज,

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १५५।

२. वही, दृ. १६०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

अतः पीछे से चलने पर भी वे उनसे आ मिले। स्वामीजी ने आवाज देते हुए कहा—'हेमड़ा! हम भी इधर ही आ रहे हैं।'

हेमजी ने स्वामीजी को देखा, तो ठहरकर वन्दन किया और पूछा—'आपने तो कुशलपुर की ओर विहार किया था, फिर इधर कैसे?'

स्वामीजी ने कहा—'यही समझ ले कि आज तेरे लिए ही आये हैं।'

हेमजी ने कहा—'बड़ी कृपा की।'

स्वामीजी बोले—'तू लगभग तीन वर्ष से कह रहा है कि मेरी दीक्षा लेने की भावना है, पर अब अपना निश्चित निर्णय बतला कि मेरे जीते जी लेगा या मरने के पश्चात्?'

स्वामीजी की उक्त बात हेमजी के हृदय में चोट कर गयी। वे खिन्न होकर बोले—'आप ऐसी बात क्यों कहते हैं? मेरे कथन की सत्यता में आपको शंका हो तो नौ वर्ष के पश्चात् अब्रह्मचर्य का त्याग करा दें।'

स्वामीजी ने त्याग करवा दिये और कहा—'लगता है, विवाह करने की इच्छा से तूने ये नौ वर्ष रखे हैं। परन्तु तुझे यह समझ लेना चाहिए कि लगभग एक वर्ष विवाह होते-होते लग जाएगा। विवाह के पश्चात् यहां की प्रथा के अनुसार एक वर्ष तक स्त्री पीहर में रहेगी। इस प्रकार तेरे पास सात वर्ष का समय रहा। उसमें भी दिन के अब्रह्मचर्य का तुझे परित्याग है, अतः साढ़े तीन वर्ष ही रहे। इसके अतिरिक्त तुझे पांचों तिथियों के भी त्याग हैं। उन दिनों को बाद देने पर शेष दो वर्ष और चार महीने का समय ही बचता है। उन अवशिष्ट दिनों में भी सारा समय भोग-कार्य में नहीं लगता। प्रतिदिन घड़ी भर का समय गिना जाये, तो लगभग छह महीने का समय होता है। अब सोच कि केवल छह मास के भोग के लिए नौ वर्ष का संयम खो देना कौनसी बुद्धिमत्ता है? यदि एक-दो संतान हो जाए, तब फिर व्यक्ति उनके मोह में उलझ जाता है। उस स्थिति में संयम-ग्रहण करना कठिन हो जाता है।'

स्वामीजी के उक्त लेखे-जोखे ने हेमजी की संयम-भावना को उद्दीप्त कर दिया और उन्होंने उसी समय पूर्ण ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लिया। कुछ दिनों के अनन्तर तो वे प्रव्रजित ही हो गये।[1]

ऊपर के चावल

एक व्यक्ति ने स्वामीजी के पास तत्त्व को समझा। दान, दया, श्रद्धा और आचार सम्बन्धी मूलभूत तात्त्विक बातें उसकी समझ में आ गईं। इतना होने पर भी

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १७६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वह अपने-आप में निर्णीत नहीं हो पाया। उसका कथन था—'स्वामीजी! यह सब तो आप जैसा कह रहे हैं, वैसा ही है, पर कुछ बातें ऐसी भी हो सकती हैं, जो ठीक न हों।'

स्वामीजी ने कहा—'जब मूलभूत बातें ठीक हैं, तब अन्य को भी उसी आधार पर समझना चाहिए। चावल पके या नहीं, इसकी परीक्षा ऊपर के पांच-चार चावलों को देखकर ही कर ली जाती है, नीचे के चावलों को देखने के लिए बर्तन के नीचे तक हाथ डालना व्यर्थ तो है ही, मूर्खता भी है।'

स्वामीजी के उक्त कथन ने उसके विवेक को एक ही क्षण में जागरित कर दिया। वह उसी क्षण से स्वामीजी का भक्त बन गया।[१]

कितना दण्ड

पीपाड़ में स्वामीजी ने किसी प्रसंग पर अग्रोक्त पद्य सुनाया :

अचित वस्त नै मोल लरावें, समिति-गुप्ति हुवें खंड।
महाव्रत तो पांचूंई भागें, चौमासी रो दण्ड।।[२]

पद्य सुनकर मोजीरामजी बोहरा ने अपने पुत्र जसराजजी से कहा—'चल, यहां से चलें। ये तो पूरा घर लूट लेने के पश्चात् दण्ड और करते हैं। जब पांचों ही महाव्रत भंग हो गये, तब फिर चौमासी का दण्ड किस बात का है?'

स्वामीजी ने उनको समझाते हुए कहा—'यहां मैंने महाव्रतों का पूर्ण भंग हो जाने के बाद दण्ड नहीं कहा है, अपितु यह कहा है कि चातुर्मासिक दण्ड आये, उतना पांचों महाव्रतों का भंग होता है।'

स्वामीजी के उक्त स्पष्टीकरण ने उनके भ्रम को दूर कर दिया।[३]

दया माता है

एक बार कुछ भाई स्वामीजी से चर्चा कर रहे थे। प्रसंगवश स्वामीजी ने कहा—'धर्म तो दया में ही होता है, हिंसा में नहीं।'

वे लोग मूर्ति के सम्मुख पुष्प आदि चढ़ाने में धर्म मानते थे, अतः उक्त कथन को अपने पर आक्षेप समझकर क्रुद्ध हो गये। उनमें से एक तो आवेश-वश कह उठा—'दया रांड घूरे पर पड़ी है, उसे पूछता कौन है? तुमने दया-दया का शोर मचाकर निरर्थक ही झगड़ा खड़ा कर रखा है।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २६८।

३. आचार की चौपई, १।५।

४. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २८४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने कहा—'दया तो हमारी माता है। उसका अपमान न करके सम्मान करना चाहिए।' उन्होंने दृष्टान्त के द्वारा समझाते हुए कहा—'एक साहूकार दिवंगत हुआ। उसके पुत्रों में जो सपूत थे, वे अपनी माता का विनय करते और आदर-भाव रखते। इसके विपरीत जो कपूत थे, वे हर समय अविनय करते और 'रांड' आदि अपमानजनक शब्द बोलते रहते। इसी तरह कहा जा सकता है कि दया के स्वामी भगवान् महावीर मुक्ति-गामी हो गये। पीछे पुत्र-रूप में चतुर्विध संघ रहा। उनमें जो सपूत हैं, वे दया माता का आदर तथा सुरक्षा करते हैं। जो कपूत हैं, वे उसकी अवज्ञा करते हैं तथा अपशब्द कहते हैं।'

उक्त दृष्टान्त को सुनकर वे लोग बड़े लज्जित हुए और चुपचाप वहां से चल दिये।[1]

ऐसे ही समझदार

आउवा के उत्तमोजी ईराणी मूर्तिपूजक मान्यता के थे। उन्होंने स्वामीजी से कहा—'भीखणजी! आप मंदिर का खंडन तो करते हैं, पर यह क्यों नहीं देखते कि बड़े-बड़े लखपतियों-करोड़पतियों ने मंदिर बनवाये हैं। वे सब अज्ञानी थोड़े ही थे?'

स्वामीजी—'यदि तुम्हारे पास पचास हजार रुपये हो जायें, तो तुम मन्दिर बनवाओ कि नहीं?'

उत्तमोजी—'अवश्य बनवाऊं।'

स्वामीजी—'तुम्हारे में जीव का भेद कौन-सा है? गुणस्थान कौन-सा है? योग तथा उपयोग कितने हैं?'

उत्तमोजी—'यह तो मैं नहीं जानता।'

स्वामीजी—'तो उस समय के धनिक भी ऐसे ही समझदार रहे होंगे। धन हो जाने मात्र से तत्त्व का ज्ञान नहीं हो जाता।'[2]

६. न्याय के विचित्र प्रकार

न्याय की तुला पर

स्वामीजी एक न्यायप्रिय एवं नीति-परायण आचार्य थे। व्यक्तियों का पारस्परिक मनोमालिन्य मिटाकर उनमें सद्भाव उत्पन्न करना उन्हें खूब आता था। पक्षपात सदैव न्याय और नीति का प्रतिपक्ष रहा है। स्वामीजी उसे कभी प्रश्रय नहीं

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २७९।

२. वही, दृ. ३९।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

देते थे। यद्यपि छद्मस्थावस्था के कारण मनुष्य राग और द्वेष से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाता, फिर भी स्वामीजी जैसे कुछ ऐसे महान् व्यक्ति होते हैं, जो अपने मानसिक संतुलन को किसी भी स्थिति में डिगने नहीं देते। स्वामीजी तर्कों के आधार पर नहीं, वास्तविकता के आधार पर न्याय किया करते थे। हर घटना को न्याय की तुला पर पूरा-पूरा तोलते थे।

कभी-कभी स्वामीजी का न्याय इतना विचित्र और प्रभावशाली होता था कि झगड़ने वाले स्वयं ही लज्जित होकर झगड़े से विरत हो जाया करते। वे किसी व्यक्ति को साधारण बातों पर झगड़ता देखना नहीं चाहते थे। अपने संघ के साधु-साध्वियों के लिए तो उन्होंने मर्यादा बनाते समय यहां तक लिख दिया कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे चलने, बोलने तथा प्रतिलेखन करने आदि की दैनिक क्रियाओं में सच्ची तथा झूठी भी त्रुटि निकाले, तो तुम उसका प्रतिवाद मत करो। आगे के लिए उस विषय में अधिक सावधान रहने का ही विचार व्यक्त करो। साधारण बातों को लेकर छद्मस्थता के कारण यदि साधुजनों में कोई खिंचाव हो जाता, तो स्वामीजी का न्याय उन्हें आत्म-चिन्तन की ओर प्रेरित करने वाला होता।

रस्सी से नाप आओ

एक बार दो संतों में परस्पर विवाद हो गया। एक ने कहा—'तुम गोचरी से आ रहे थे, तब तुम्हारे पात्र में से इतनी दूर तक पानी के टपके गिरते रहे।'

दूसरे ने कहा—'टपके तो गिरे थे, पर तुम कहते हो उतनी दूर तक नहीं, उससे बहुत कम दूर तक गिरे थे।'

दोनों ही स्वामीजी के पास पुकार लेकर आये। एक कहता था—'इसके पात्र से इतनी दूर तक टपके गिरे थे।' दूसरा कहता था—'यह बढ़ा-चढ़ा कर बतला रहा है। इतनी दूर से बहुत कम थे।'

स्वामीजी ने दोनों को समझाते हुए कहा—'टपके गिरे थे, यह तो तुम दोनों ही कह रहे हो। तब फिर दूरी का क्या झगड़ा है? उसके विषय में तो दोनों का अपना-अपना अनुमान ही तो है।'

इस पर भी वे अपने-अपने कथन को ही सिद्ध करने पर तुले रहे। स्वामीजी ने कहा—'तुम्हें अपने-अपने अनुमान की सच्चाई का इतना अधिक विश्वास है, तब क्यों न उसकी परीक्षा कर ली जाए? तुम दोनों ही एक रस्सी लेकर जाओ और उस स्थान को नाप आओ, ताकि हमें भी पता रहे कि किसका अनुमान पूर्ण सत्य निकलता है।'

रस्सी लेकर नापने की आज्ञा ने दोनों की व्यावहारिकता को जगा दिया। वे

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

दोनों ही लज्जित हो गये। परस्पर क्षमा-याचना करते हुए उन्होंने अपना विवाद वहीं समाप्त कर दिया।[1]

लोलुप कौन?

लोलुपता के विषय में किन्हीं दो संतों में परस्पर विवाद हो गया। एक ने कहा—'तुम लोलुप हो।' दूसरे ने कहा—'तुम लोलुप हो।' आखिर उस विवादास्पद विषय को लेकर वे स्वामीजी के पास न्याय कराने के लिए आये।

स्वामीजी ने दोनों को समझाते हुए कहा—'हर एक व्यक्ति को स्वाद पर विजय पानी चाहिए, फिर भी जब तक छद्मस्थता है, तब तक विभिन्न अवसरों पर हर किसी की लोलुपता उभर सकती है।'

इतने पर भी उन दोनों का विवाद शान्त नहीं हुआ और वे एक-दूसरे को ही लोलुप सिद्ध करने का प्रयास करते रहे। स्वामीजी ने तब कहा—'तुम दोनों मेरी आज्ञा का आगार रखकर 'विगय' का परित्याग कर दो। जो व्यक्ति पहले आज्ञा मांगेगा, वही दूसरे की अपेक्षा अधिक लोलुप समझा जायेगा।'

दोनों ने उस आदेश को मान लिया और आज्ञा का आगार रखकर 'विगय' का परित्याग कर दिया। लगभग चार महीने तक 'विगय' टालने के पश्चात् उनमें से एक ने आकर आज्ञा मांगी। स्वामीजी ने उसे आज्ञा दी, तब दूसरे को भी पूर्व निर्णय के अनुसार स्वतः ही आज्ञा हो गयी। पहले आज्ञा मांगने वाले ने अपेक्षाकृत अपनी अधिक लोलुपता को बिना किसी दबाव या कहे-सुने स्वयं ही मान लिया।[2]

७. आचार-हीनता के विरोधी

कहो साधु किसका सगा?

विभिन्न देशों, विभिन्न जातियों और विभिन्न प्रकृतियों के व्यक्ति संयम ग्रहण करके एक संघ में रहते हैं, तब उनके एकत्व का माध्यम एकमात्र आगम-निर्दिष्ट आचार ही होता है। उनका पारस्परिक स्नेह-भाव भी मोह-भाव न होकर केवल आचार-ऐक्य का प्रतीक ही होता है। किसी एक भी आचारहीन व्यक्ति को संघ में महत्त्व प्रदान करना, सारे संघ की प्रतिष्ठा को विनष्ट कर देना है। स्वामीजी इस विषय में अत्यन्त सावधान थे। उनका कहना था :

कहो साधु किसका सगा, तटकै तौड़े नेह।
आचार स्यूं हिलमिलै, अणाचारी सूं छेह।।[3]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १६७।

२. वही, दृ. १६८।

३. आचार की चौपई, ११।४

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वे शुद्ध आचार के ही पक्षपाती थे। आचारहीनता को कभी सहन नहीं करते थे। उन्होंने अपने संघ के अनेक साधुओं तथा आर्याओं को इसीलिए पृथक् कर दिया था कि वे आचार में परिपूर्ण नहीं थे। उस समय उनके पास साधु-साध्वियों की संख्या बहुत कम थी, किन्तु उन्होंने उसकी कोई परवाह नहीं की।

पांच का सम्बन्ध-विच्छेद

चंडावल में फत्तूजी आदि पांच आर्याओं को स्वामीजी ने कहा—'आवश्यकतानुसार कपड़ा ले लो।' उन्होंने जितनी आवश्यकता बतलाई, स्वामीजी ने उतना कपड़ा दे दिया। वे उसे लेकर अपने स्थान पर चली गईं। पीछे से स्वामीजी को संदेह हुआ कि कहीं उन्होंने कल्प से अधिक कपड़ा तो नहीं ले लिया? तत्काल मुनि अखैरामजी को भेजकर साध्वियों से वह कपड़ा वापस मंगवाया और उसे नापा। वह कल्प से अधिक निकला। स्वामीजी ने तब उन्हें उपालम्भ तो दिया ही, पर आगामी काल के लिये भी कल्प-विषयक अप्रतीति हो जाने के कारण पांचों को अपने संघ से पृथक् कर दिया।[1]

रातभर पीसा

आचारहीन साधुओं और श्रावकों के लिए स्वामीजी का कथन था कि जिस प्रकार आंधी से बचाव किये बिना घट्टी पीसने बैठे, तो रात भर पीसने के पश्चात् भी उसके हाथ विशेष आटा नहीं लगता, उसी प्रकार दोषों से बचाव किये बिना कोई भी साधु या श्रावक अपने व्रतों का विशेष लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो केवल 'रात भर पीसा, ढकनी में उसेरा' वाली कहावत ही चरितार्थ करता है।[2]

सब काला ही काला

आचारहीन और सम्यक्त्वहीन व्यक्ति स्वामीजी द्वारा की गई समीक्षाओं से बौखलाकर कहते—'भीखणजी हमारा समर्थन नहीं करके केवल विरोध ही क्यों करते हैं? उन्हें यदि हमारी कुछ बातें अच्छी नहीं लगतीं, तो उनको टाल देना चाहिए।'

स्वामीजी ने उदाहरण देते हुए कहा—'एक बार कुछ अन्धों ने मिलकर गोठ करने का विचार किया। उसके लिए अमावस की रात्रि का समय उपयुक्त समझा गया। कोयलों को पीसकर आटे की जगह काम में लिया गया। उसे काली हांडी में डालकर राब बनाई गई। बनाने वाले तो अन्धे थे ही, पर खाने और परोसने वाले भी सब अन्धे ही थे। जब सब अपनी-अपनी थाली को सामने लेकर खाने बैठे, तब

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १५४।

२. वही, दृ. १७५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

खंखारा करते हुए एक-दूसरे को कहने लगे—'सावधान! कोई काला-कलूटा न आ जाये, सब कोई ध्यान रखकर उसे टालते रहना।' अब बताओ, उसमें से क्या टाले और क्या न टाले? इसी प्रकार जहां न आचार-विशुद्धि पर ध्यान दिया जाता है और न सम्यक्त्व-शुद्धि पर, वहां तो सब काला ही काला एकत्रित हो जाता है। उसमें से क्या टालें और क्या न टालें?'[1]

तार निकालो

स्थानकवासी श्रावक अपने किसी साधु की गलती पर रुष्ट होकर स्वामीजी से कहने लगे—'भीखणजी! तुम इस घटना का तार निकालो।'

स्वामीजी ने कहा—'जिन्हें बड़े-बड़े शहतीर भी दिखाई नहीं देते, उन्हें तार क्या दिखाई देगा? अभी तुम लोगों को उद्दिष्ट स्थानक आदि के बड़े दोष भी ध्यान में नहीं आ रहे हैं, तो फिर दूसरे छोटे दोषों का पता कैसे लग सकता है?'[2]

लड़का और सगाई

स्वामीजी साधुओं के निमित्त बनाये गये स्थान में ठहरने को सदोष माना करते थे। आगमिक आधार पर वे उसे आचारहीनता का प्रतीक मानते थे, अतः जहां भी अवसर होता, उसका खंडन किया करते। उनके मन्तव्य तथा उक्तियों से तिलमिलाकर एक बार एक मुनि ने कहा—'भीखणजी! आप झूठमूठ ही हम लोगों पर दोष मढ़ रहे हैं। हम कब कहते हैं कि हमारे लिए स्थानक बनाओ।'

स्वामीजी ने कहा—'लड़का कब कहता है कि मेरी सगाई कर दो, किन्तु जब सगाई की जाती है तब मन-ही-मन प्रसन्न होता है। उसके पश्चात् विवाह उसी का होता है, पत्नी उसी के आती है और घर उसी का बसता है। यह सब उसे स्वीकार्य होता है, तब स्वतः सिद्ध है कि सगाई भी उसे स्वीकार थी। इसी तरह यदि यह सही मान लें कि आप लोग स्थान बनाने के लिए नहीं कहते, फिर भी बनता है तो प्रसन्न होते हैं, हमारे लिए बना है—यह जान लेने पर भी उसमें ठहरते हैं। आप लोगों के नाम पर आधारित वह अमुक महाराज का स्थानक कहलाता है। इन सब कारणों के रहते आप उद्दिष्ट दोष से मुक्त कैसे हो सकते हैं?'[3]

जमाई और हलुआ

एक बार उपर्युक्त कथन का उत्तर देते हुए स्वामीजी ने यह उदाहरण भी दिया था—'जमाई ससुराल जाता है, तब वहां यह नहीं कहता कि मेरे लिए हलुआ

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १७३।

२. वही, दृ. १७४।

३. वही, दृ. ६३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

बनाओ। परन्तु जब हलुआ बनाया जाता है तो वह उसे बड़ी प्रसन्नता से खा लेता है। इसीलिए ससुराल वाले आवश्यकता होने पर फिर उसके लिए हलुआ बनाते हैं। यदि वह उसका परित्याग कर देता है, तो उसके लिए हलुआ बनाना बन्द कर दिया जाता है। इसी प्रकार यदि कोई साधु स्थानक बनाने के पश्चात् उसमें रहने लगते हैं, तो उनके लिए आगे-से-आगे स्थानक बनते रहते हैं। परन्तु यदि वे स्थानक में रहना त्याग दें, तो फिर स्थानक बनने भी स्वतः ही बन्द हो जायें।'[1]

८. आचार-निष्ठ व्यक्तित्व

पूर्ण जागरूक

स्वामीजी एक परिपूर्ण आचारनिष्ठ व्यक्ति थे। इसीलिए वे आजीवन आचार की शिथिलता के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति लगाकर जूझते रहे। वे जानते थे कि ऐसा करने पर वे लोग उनके विरुद्ध हो जायेंगे, जो आचार-पालन में ढिलाई रखते हैं। वे यह भी जानते थे कि कुछ लोग चिढ़कर अपने सुधार की अपेक्षा उनको कोसने में ही अधिक तत्पर हो जायेंगे तथा उनकी हर छोटी-से-छोटी क्रिया पर ध्यान रखकर उसमें त्रुटि खोजने का प्रयास करेंगे। परन्तु उन्हें उन सब स्थितियों का कोई भय नहीं था। वे स्वयं में परिपूर्ण जागरूक थे।

दूसरे की आलोचना करने वाला या त्रुटि बतलाने वाला यदि स्वयं अपनी सावधानी नहीं रखता हो, तो उसके कथन का दूसरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। स्वामीजी इतने सावधान रहते थे कि जहां थोड़ी-सी भी शंका का स्थान होता, वहां वे आवश्यक होने पर भी उस काम को नहीं करते। इसीलिए वे दूसरों को बेधड़क सावधान किया करते थे और दूसरे उनकी ओर कहीं अंगुली उठाने का भी अवसर नहीं पाते थे।

व्यक्तिगत भी नहीं लेंगे

रीयां के सेठ हरजीमलजी धनाढ्य व्यक्ति थे। विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं को उन्होंने अनेक बार कपड़े का दान दिया था। एक बार स्वामीजी से भी उन्होंने कपड़े की प्रार्थना की।

स्वामीजी ने कहा—'तुम संतों के लिए कपड़ा मोल लेते हो, अतः हमें वह नहीं कल्पता।'

सेठ—'दूसरे संत तो ले लेते हैं। इसमें क्या कोई दोष लगता है?'

स्वामीजी—'यह तो उन लेने वालों से ही पूछना।'

सेठ—'तो आप मेरे व्यक्तिगत कपड़े में से कुछ ले लें।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ६४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी—'हां, वह हमें कल्पता है, किन्तु हम उसमें से भी नहीं लेंगे, क्योंकि लोग तो यही समझेंगे कि तुम्हारे यहां से दूसरे साधु भी कपड़ा ले गये थे और भीखणजी भी ले गये। यह तार कौन निकालेगा कि भीखणजी उनके व्यक्तिगत कपड़ों में से ले गये, जो कि साधुओं के लिए खरीदा नहीं गया था।'[1]

पात्र दिखलाओ

एक बार स्वामीजी किशनगढ़ में पांडियों के वास में गोचरी पधारे। वहां एक घर में मृत्यु-भोज था। अन्य संप्रदाय के साधु ऐसे अवसरों पर उस घर की गोचरी किया करते थे, परन्तु स्वामीजी उसका निषेध करते थे।

अन्य सम्प्रदाय के एक मुनि ने अनुमान लगाया कि भीखणजी उस वास में गये हैं, तो अवश्य ही मृत्यु-भोज वाले घर में गये होंगे। उन्हें रंगे हाथों पकड़ने का अच्छा अवसर समझकर कुछ भाइयों के साथ वे उस वास की नुक्कड़ पर खड़े रहकर स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगे।

स्वामीजी गोचरी करने के पश्चात् वापस आये तब मुनिजी ने अपने अनुमान को सत्य मानकर व्यंग्य करते हुए कहा—'भीखणजी! तुम तो विरागी कहलाते हो, फिर इस मिठाई पर मन कैसे ललचा गया?'

स्वामीजी उनकी मानसिक भावना को झट ताड़ गये, अतः इस घटना से भी लाभ उठाने का सोचकर बोले—'क्यों, गोचरी में मिठाई ले आना भी कोई दोष है क्या?'

यह सुनकर मुनिजी को अपने अनुमान की सचाई पर और भी अधिक विश्वास हो गया। लोगों को एकत्रित करने की भावना से जोर-जोर से बोलते हुए उन्होंने कहा—'तुम चाहे जो-कुछ कर लो, उसमें कभी कोई दोष थोड़ा ही होता है। दोष तो हम करते हैं तब होता है। किन्तु जब तुम भोज में गोचरी जाने का निषेध करते हो, तो कम-से-कम स्वयं तो उसे पालते। संभवतः मिठाई के लालच ने ही तुमसे यह गलती करा दी है।'

इतनी देर में तो वहां काफी लोग एकत्रित हो गये। स्वामीजी ने अवसर देखकर स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'मैं तो भोज वाले घर में गोचरी नहीं गया।'

ये लज्जित होकर मुकर रहे हैं, अतः पोल पूरी ही खोल देनी चाहिए, ऐसा सोचकर मुनिजी ने कहा—'यदि तुम सत्य कहते हो, तो अपने पात्र खोलकर दिखलाओ।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने झोली को दृढ़ता से पकड़ते हुए कहा—'मैं जब कह ही रहा हूं, तो फिर पात्र दिखलाने की क्या आवश्यकता है?'

इस कथन में स्वामीजी की निर्बलता का अनुमान लगाते हुए वे तथा उनके सहवर्ती भाई और भी अधिक जोर डालते हुए बोले—'सचाई को भय नहीं होता, भय तो झूठ को होता है, अतः तुम सच्चे हो तो पात्र क्यों नहीं दिखलाते? पात्र न दिखलाने का कारण यही हो सकता है कि तुम्हें पात्र खुलते ही पोल खुल जाने का भय है।'

स्वामीजी ने पात्र खोलने में जितना विलम्ब किया, उतना ही अधिक उनका आग्रह बढ़ता गया। लोग भी उस विवाद का निष्कर्ष देखने को अधिकाधिक एकत्रित होते गये। जब स्वामीजी ने देखा कि उनका आग्रह चरम सीमा को छूने वाला है, तो उन्होंने अपने पात्र खोलकर दिखला दिये। उनमें मिठाई नाममात्र भी नहीं थी। आग्रह करने वाले स्वयं तो लज्जित हुए ही, वहां पर एकत्रित जनता ने भी उनका स्वरूप पहचान लिया।[1]

बतलाना नहीं कल्पता

रीयां और पीपाड़ के मार्ग में एक स्थानकवासी साधु स्वामीजी से मिलने आये। उन्होंने स्वामीजी को एकान्त में ले जाकर कुछ समय तक वार्तालाप किया और वापस चले गये। स्वामीजी ने उस घटना की कोई बात नहीं चलाई, तो उत्सुकता-वश मुनि हेमराजजी ने पूछ लिया—'वे क्या कह रहे थे?'

स्वामीजी ने कहा—'किसी दोष की 'आलोयणा' करने आये थे।'

मुनि हेमराजजी ने जिज्ञासा से फिर पूछा—'किस दोष की आलोयणा?'

कल्प-अकल्प में पूर्ण सावधान स्वामीजी ने तत्काल कहा—'यह बतलाना नहीं कल्पता।'

मुनि हेमराजजी का ध्यान तब अपने प्रश्न की ओर गया। उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका दूसरा प्रश्न आवश्यक नहीं था।[2]

हाथ कहां धोएगी

एक बहिन जब-जब आती, तब-तब स्वामीजी से गोचरी के लिए प्रार्थना किया करती थी। एक दिन स्वामीजी उसके घर पधार गये, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुई। आहार देने लगी, तो स्वामीजी ने उससे पूछा—'बहिन! आहार देने के पश्चात् संभवतः तुझे हाथ धोने पड़ें, तो सचित्त पानी से धोयेगी या उष्ण पानी से?'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २८।

२. वही, दृ. ५७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वह बोली—'उष्ण पानी से।'

स्वामीजी—'कहां धोएगी?'

नाली की ओर संकेत करते हुए उसने कहा—'यहां धोऊंगी।'

स्वामीजी—'इस नाली से पानी नीचे गिरता है, अतः वायुकाय की अयत्ना होती है। ऐसी स्थिति में मुझे यह आहार लेना नहीं कल्पता।'

बहिन—'आप तो अपना आहार शुद्ध देखकर ले लें। पीछे से हम गृहस्थ क्या करते हैं, इसका आपको क्या करना है? हम संसार में रहते हैं, तो अपनी पद्धति से ही काम करते हैं। उसे छोड़ना भी तो ठीक नहीं है।'

स्वामीजी—'परन्तु रोटी के लिए मैं अपनी निरवद्य क्रिया को कैसे छोड़ दूं, जबकि तू सावद्य क्रिया छोड़ने को भी तैयार नहीं है। ऐसा आहार लेने से मुझे 'पश्चात् कर्म' का दोष लगता है और वे वहां से आहार बिना लिये ही वापस आ गये।'[1]

वे निन्दा नहीं करते

स्वामीजी के आचारनिष्ठ व्यक्तित्व से रीयां के सेठ हरजीमलजी बहुत प्रभावित हुए। धीरे-धीरे उनका झुकाव तेरापंथ की ओर अधिकाधिक होता गया। विरोधी लोगों को उनका वह झुकाव अखरा। एक दिन विरोधी सम्प्रदाय के उरजोजी नामक एक साधु उनके पास आये और एक पत्र निकालकर पढ़ने लगे। उसमें उन्होंने लिख रखा था कि अमुक गांव में भीखणजी ने सचित्त पानी लिया, अमुक गांव में नित्यपिण्ड लिया, अमुक गांव में द्वार बन्द किये इत्यादि।

हरजीमलजी ने कहा—'मुझे इन बातों को सुनाने का क्या तात्पर्य है? मैं कोई न्यायाधीश नहीं हूं। आप उनमें इतने दोष बतलाते हैं, पर वे कहेंगे कि हमने इनमें से एक भी कार्य नहीं किया।'

मुनि उरजोजी बोले—'मैं भीखणजी में जो दोष बतला रहा हूं, यदि तुम उन पर विश्वास नहीं करते, तो फिर भीखणजी हमारे में जो दोष बतलाते हैं, उन पर विश्वास क्यों करते हो?'

हरजीमलजी ने कहा—'वे किसी व्यक्ति का नाम लेकर निन्दा नहीं करते। वे तो सूत्र-न्याय से समुच्चय रूप से बतलाते हैं कि अमुक-अमुक कार्य साधु को नहीं कल्पता या इन कार्यों को करने वाला साधुत्व से च्युत हो जाता है।'[2]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ३२।

२. वही, दृ. २६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

त्रुटि पर 'तेला'

स्वामीजी अपने संघ के प्रत्येक व्यक्ति को आचारनिष्ठ देखना चाहते थे। उनका प्रयास रहता कि किसी में कोई छोटी-सी त्रुटि भी न रहने पाये। एक बार उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य मुनि भारमलजी से कहा—'तुम्हारा कोई भी कार्य ऐसा नहीं होना चाहिये जिससे कोई गृहस्थ त्रुटि निकाल सके। गृहस्थ के त्रुटि निकालने पर तुम्हें उसके प्रायश्चित्त-स्वरूप एक तेला करना होगा।'

मुनि भारमलजी उस समय बाल्यावस्था में ही थे, फिर भी गम्भीरतापूर्वक सोच कर बोले—'गुरुदेव! विद्वेषी लोग बहुत हैं, अतः पता लगने पर कोई द्वेष-वश झूठमूठ ही त्रुटि निकालने लगेगा तो?'

स्वामीजी ने कहा—'यदि वास्तव में तुम्हारी त्रुटि हो तो तुम प्रायश्चित्त-स्वरूप तेला कर देना और यदि द्वेष-वश झूठी त्रुटि निकाली गई हो तो अपने पूर्व कर्मों का उदय समझकर तेला कर देना। तेला तो हर स्थिति में तुम्हें करना ही है।'

मुनि भारमलजी ने आगे कुछ तर्क-वितर्क किये बिना स्वामीजी की उस आज्ञा को शिरोधार्य किया। वे इतने सावधान रहे कि उसके लिए उन्हें जीवनभर में एक भी तेला नहीं करना पड़ा।[१]

दोष होगा, तो नहीं खोलेंगे

वि. सं. १८५५ में स्वामीजी कांकरोली पधारे। वहां सहलोतों की 'पौल' में विराजे। एक बार रात्रि के समय शारीरिक आवश्यकता से उन्हें बाहर जाना पड़ा। मुनि हेमराजजी को उन्होंने जगाया और दरवाजे की बारी खोलकर बाहर गये। वापस आने पर मुनि हेमराजजी ने पूछा—'किंवाड़ खोलने को आप अकल्प्य कहते हैं, तब इस बारी को खोलने में कोई दोष नहीं है क्या?'

स्वामीजी—'पाली का चोथमल सकलेचा यहां दर्शनार्थ आया हुआ है। वह अत्यन्त शंकाशील व्यक्ति है। पर यह शंका तो उसे भी नहीं हुई, तब तुझे कैसे हो गई?'

मुनि हेमराजजी—'मैं शंका नहीं कर रहा हूं। जानकारी के लिए पूछ रहा हूं।' स्वामीजी—'जिज्ञासा करना उचित है। उसका समाधान यह है कि किंवाड़ बड़ा होता है, उसे खोलते समय यत्ना रख पाना सम्भव नहीं। बारी छोटी होती है, अतः

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १८१ में उपर्युक्त प्रकार से त्रुटिमात्र के लिए तेले के दण्ड का उल्लेख है, जबकि अनुश्रुति में यह दंड ईर्या समिति की त्रुटि के लिए प्रख्यात है। इसी दृष्टान्त में कहा गया है––'इसा वनीत उत्तम पुरुष हुवै ते खूंचणों कढ़ावै हीज किण लेखै।' इस वाक्य से ध्वनित होता है कि उन्हें एक भी तेला नहीं करना पड़ा, परन्तु अनुश्रुति में क्वचित् यह भी प्रसिद्ध है कि उन्हें एक तेला करना पड़ा।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उसे देखा या प्रमार्जित किया जा सकता है। बारी में भी जहां दोष की सम्भावना हो, वहां नहीं खोलनी चाहिए।'[1]

भीखणजी में सम्भव है

स्वामीजी की आचारनिष्ठता का लोहा उनके कट्टर विरोधी भी माना करते थे। एक बार अमरसिंहजी के टोले के वृद्ध मुनि बोहतजी से किसी व्यक्ति ने पूछा—'आप शीतलजी के टोले में साधुता मानते हैं या नहीं?'

बोहतजी बोले—'उनमें कहां से मानूंगा? मैं तो मेरे में भी नहीं मानता।'

उस व्यक्ति ने फिर पूछा—'भीखणजी में मानते हैं या नहीं?'

बोहतजी ने कहा—'वे तो साध्वाचार के प्रति बड़े सावधान हैं, अतः उनमें संभावना की जा सकती है।'[2]

श्रेष्ठ साधु हैं

आचार्य जयमलजी पुर में व्याख्यान दे रहे थे। भरी परिषद् में एक व्यक्ति ने खड़े होकर कहा—'सभा में मिश्र भाषा बोलने वाले को महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है, अतः मेरे प्रश्न को गोलमाल भाषा में टालने का प्रयास न कर स्पष्ट भाषा में बतलाइये कि आप भीखणजी को साधु मानते हैं या असाधु?'

आचार्य जयमलजी एक क्षण के लिए असमंजस में अवश्य पड़े, परन्तु दूसरे ही क्षण सम्भलकर बोले—'हम भीखणजी को श्रेष्ठ साधु मानते हैं।'

वह व्यक्ति—'तो फिर इधर से अनेक साधु उन्हें 'निन्हव'—धर्म-द्रोही क्यों कहते हैं?'

जयमलजी—'वे हमें वेषधारी कहते हैं, तब हम भी उन्हें 'निन्हव' कह देते हैं।'[3]

यही अन्तर है

जेतारण में धीरोजी पोकरणा को आचार्य टोडरमलजी ने कहा—'भीखणजी छोटे-छोटे दोषों से भी साधुत्व का भंग मानते हैं, यह उचित नहीं। यदि इस प्रकार साधुत्व का भंग होता तो भगवान् पार्श्वनाथ की अनेक साध्वियां अंग-विभूषा आदि कार्यों में प्रवृत्त होकर भी मरने पर इन्द्राणियां तथा एक भवावतारी कैसे होतीं?'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १७२।

२. वही, दृ. ३०६।

३. वही, दृ. ३१०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

धीरोजी ने कहा—'यदि एक भवावतारी होने का यही मार्ग है, तो फिर अपनी साध्वियों को भी विभूषा आदि की आज्ञा दी जानी चाहिए।'

आचार्यजी ने रोष व्यक्त करते हुए कहा—'ऐसी मूर्खता की बात क्यों करते हो?'

धीरोजी बोले—'और कैसी बात की जाये? आप तो दोष-सेवन को भी मानो एक भवावतारी होने का कारण मान रहे हैं। भीखणजी में और आपमें यही बड़ा अन्तर है कि प्रत्येक कार्य में उनका ध्यान आचार-पोषकता की ओर होता है, जबकि आप लोगों का दोष-पोषकता की ओर।'[१]

६. अध्यात्म-प्रेरक

अमृतमय प्रेरणा

आचार्य भिक्षु अध्यात्म-प्रेरणा के एक महान् स्रोत थे। उनका प्रत्येक कार्य व्यक्ति के अध्यात्म-भाव को जागरित करने वाला होता था। उनके मुख से निःसृत वाणी का निर्झर व्यक्ति के हृदय को विराग-भाव से सिंचित कर जाता था। जो उनके संपर्क में आता, वह मोह से अमोह की ओर, प्रमाद से अप्रमाद की ओर तथा अज्ञान से ज्ञान की ओर आगे बढ़ने की अमृतमय प्रेरणा प्राप्त करता था।

रूपांजी की चिंता छोड़

वि. सं. १८५५ का चतुर्मास स्वामीजी ने पाली में किया। वहां मुनि खेतसीजी अचानक रुग्ण हो गये। वमन और अतिसार ने उनके शरीर को शिथिल बना दिया। रात्रि में शारीरिक आवश्यकता से वे बाहर गये तो वापस आते समय मार्ग में ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। धमाका सुनकर स्वामीजी जाग पड़े। उन्होंने मुनि हेमराजजी को जगाया। दोनों ने मिलकर मार्ग में मूर्च्छित पड़े मुनि खेतसीजी को उठाया और बिछौने पर लाकर लिटाया। उनकी शारीरिक दशा देखकर स्वामीजी ने मुनि हेमराजजी से कहा—'देख, संसार की माया कितनी कच्ची है! खेतसीजी जैसा सबल व्यक्ति एक ही दिन में इतना निर्बल हो गया।' वे उनके पास बैठकर शरण आदि दिलाने लगे। कुछ समय पश्चात् उनकी मूर्च्छा टूटी, तब स्वामीजी से कहने लगे—'आप रूपांजी को पढ़ाने की कृपा करना।'

स्वामीजी ने तत्क्षण टोकते हुए कहा—'रूपांजी की चिन्ता छोड़ और अपनी चिन्ता कर। तेरे लिये यह समय समाधिपूर्वक आत्म-चिन्तन में लगने का है। बहिन की चिन्ता करने का नहीं।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ३११।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

मुनि खेतसीजी ने स्वामीजी का कथन शिरोधार्य किया। कुछ दिन पश्चात् वे रोग-मुक्त हो गये।[1]

बहिन चली गयी

मुनि हेमराजजी गृहस्थ थे, उस समय का प्रसंग है। उनकी एक बहिन थी। मामा आये और उसे अपने साथ ले गये। हेमजी बहिन से बहुत प्यार करते थे, अतः उदास हो गये। स्वामीजी की सेवा में बैठे थे तो भी उनकी आकृति पर उदासी स्पष्ट लक्षित हो रही थी।

स्वामीजी ने पूछा—'हेमड़ा! आज उदास कैसे है?'

हेमजी बोले—'बहिन ननिहाल चली गई है। उसकी याद मन को मथ रही है। जी चाहता है कि असवार भेजकर उसे वापस बुला लूं।'

स्वामीजी ने कहा—'संयोग के साथ वियोग जुड़ा रहता है। संयोग से जो सुख का अनुभव करता है, उसे वियोग से दुःखी भी होना पड़ता है। दोनों में सम रहने वाला ही सारी व्यथाओं से मुक्त होता है।'

स्वामीजी के उक्त शब्दों ने हेमजी के उत्तप्त मन को बड़ी शान्ति प्रदान की।[2]

त्याग-भंग उचित नहीं

मुनि हेमराजजी दीक्षित होने को तैयार हुए, तब वि. सं. १८५३ माघ पूर्णिमा के पश्चात् उन्होंने षट्काय जीवों की हिंसा का त्याग कर दिया। पारिवारिक जनों ने उनकी दीक्षा को रोकने के अनेक उपाय किये, पर किसी में सफल नहीं हो सके। अन्ततः बहिन के प्रति उनके स्नेह को ही बाधक बनाने का निश्चय किया। बहिन के विवाह की तिथि फाल्गुन कृष्णा २ निश्चित की गई और फिर हेमराजजी पर दबाव दिया जाने लगा कि बहिन के विवाह तक तो उन्हें रुकना ही चाहिए। उन लोगों की वह चाल काम कर गयी। हेमराजजी ने विवाह तक रुकने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

स्वामीजी के पास आकर जब उन्होंने अपना निर्णय बतलाया तो उन्होंने कहा—'यह तुमने गलत निर्णय किया है। माघ पूर्णिमा के पश्चात् तुम्हें हिंसा का त्याग है, उसे भंग कराने का ही यह षड्यन्त्र लगता है। अंगुली पकड़कर फिर वे पहुंचा पकड़ने का प्रयास करेंगे। तुम्हारी उपस्थिति में बहिन का विवाह कर देने की भावना यदि मुख्य होती, तो विवाह की तिथि माघ पूर्णिमा से पूर्व भी रखी जा सकती थी। मुझे लगता है कि बहिन के प्रति तुम्हारे अनुराग को ये लोग तुम्हारी

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २५३।

२. वही, दृ. २५८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

दुर्बलता समझते हैं। तुम्हें अपना त्याग सावधानी से पालना चाहिए, उसे भंग करना उचित नहीं।'

स्वामीजी के वचनों ने उनका मोह-भंग कर दिया। घर आकर उन्होंने परिजनों से स्पष्ट कह दिया कि वे माघ पूर्णिमा के पश्चात् एक दिन भी नहीं रुकेंगे। फिर उनकी दीक्षा माघ शुक्ला १३ को हुई।[१]

कब भैंस ब्याए?

एक बार स्वामीजी खारचिया पधारे। वहां एक बहिन ने प्रार्थना करते हुए कहा—'स्वामीजी! मेरी भैंस ब्याए उस समय यदि आपका यहां पदार्पण हो तो दान देने का आनन्द आये।'

स्वामीजी ने पूछा—'क्यों! उस समय क्या विशेष बात है?'

बहिन ने कहा—'भैंस ब्याती है, तब एक महीने तक हम बिलौना नहीं करते। जितना भी दूध या दही होता है, वह सब खा-पीकर ही उठाते हैं। देवी की मनौती के रूप में हमारे यहां यह क्रम बहुत पहले से चला आ रहा है।'

स्वामीजी ने गम्भीर होते हुए कहा—'कब तेरी भैंस ब्याए, कब हमें समाचार प्राप्त हों और फिर कब हम यहां पहुंचें। यदि हम खाद्य पदार्थों के प्रलोभन में आकर अपने विहार-क्रम का निर्धारण करने लगेंगे, तो अपनी साधना से ही च्युत हो जायेंगे। तुम्हारे दूध से हमें अपनी साधना अधिक प्यारी है।'[२]

व्यर्थ का आरम्भ

स्वामीजी गृहस्थावस्था में थे, तब गुलोजी गाधिया नामक उनके एक मित्र थे। वे भी कंटालिया के ही थे। धर्म-क्रान्ति के पश्चात् वे स्वामीजी के भक्त हो गये। एक बार स्वामीजी कंटालिया पधारे। गुलोजी सेवा में बैठे थे। बातचीत के सिलसिले में स्वामीजी ने पूछा—'गुला! इस वर्ष खेती की थी क्या?'

गुलोजी—'हां गुरुदेव! कुछ की थी।'

स्वामीजी—'उपज कैसी रही?'

गुलोजी—'हल, निनाण और बीज आदि के लिए लगभग दस रुपये व्यय किये थे। मूंग, बाजरा, चारा आदि मिलाकर उतना-सा ही माल वापस आया है। लाभ कुछ भी नहीं रहा।'

स्वामीजी—'धार्मिक कार्यों की ही तरह सांसारिक कार्यों में भी लाभ के आधार पर ही कार्य की सार्थकता मानी जाती है। इस हिसाब से तो तुम्हारा यह

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १७९।

२. वही, दृ. ३५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आरम्भ निरर्थक ही हुआ। ये रुपये घर के किसी आले में पड़े रहते, तो तुम इस व्यर्थ के आरम्भ से तो बच जाते।'[1]

वह बुद्धि किस काम की?

स्वामीजी का सिरियारी में चतुर्मास था। जोधपुर-नरेश विजयसिंहजी श्रीनाथजी के दर्शनार्थ नाथद्वारा जा रहे थे। वर्षा के कारण उन्होंने उस दिन का अपना पड़ाव सिरियारी में किया। नरेश के सामन्तों तथा दरबारियों को जब यह पता चला कि स्वामी भीखणजी यहां विराजमान हैं, तो वे दर्शनार्थ आये। उन लोगों ने एक ज्ञानी संत के रूप में स्वामीजी का नाम बहुत सुन रखा था, अतः सहज प्राप्त अवसर का लाभ उठाते हुए अनेक तात्त्विक तथा आध्यात्मिक प्रश्न भी पूछे।

स्वामीजी ने सभी प्रश्नों के उत्तर ऐसे युक्ति-युक्त दिये कि उन सबका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने कहा—'इन प्रश्नों को अनेक विद्वानों से पूछने का अवसर मिला है, परन्तु आप जैसे युक्तिसंगत उत्तर अन्य किसी ने नहीं दिये। आपकी बुद्धि तो ऐसी है कि यदि आप किसी राजा के यहां दीवान होते, तो उसके राज्य को बढ़ाकर साम्राज्य बना देते।'

स्वामीजी ने उनके कथन के उत्तर में एक दोहा सुनाया—

बुद्धि तिणांरी जाणिये, जे सेवै जिन-धर्म।
और बुद्धि किण काम री, सो पड़िया बांधै कर्म।।

स्वामीजी की उक्त निःस्पृह और अध्यात्म-प्रेरक वाणी सुनकर सामन्त तथा दरबारी लोग और भी अधिक प्रभावित हुए।[2]

'धम्मो मंगल' सुनाइये

स्वामीजी भगवती सूत्र का वाचन कर रहे थे। उसी समय एक भाई आया। उसे ग्रामान्तर जाना था, अतः वह मंगलपाठ सुनना चाहता था। स्वामीजी के समय मंगलपाठ सुननेवालों को 'चत्तारि मंगलं' न सुनाकर 'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं' सुनाया जाता था, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए आगंतुक ने कहा—'स्वामीजी! मुझे 'धम्मो मंगल' सुनाइये।'

स्वामीजी ने फरमाया—'भगवती का वाचन चल रहा है, यही सुन लो।'

आगंतुक ने कहा—'नहीं, स्वामीजी! मुझे तो 'धम्मो मंगल' ही सुनाइये।'

स्वामीजी ने पुनः फरमाया—'भगवती कौनसा 'अधम्मो मंगल' है? यह भी भगवान् की वाणी होने से 'धम्मो मंगल' ही है।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ४।

२. वही, दृ. ११२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उस व्यक्ति का फिर भी—'धम्मो मंगल' सुनाने का ही आग्रह रहा तब स्वामीजी ने फरमाया—'लोग ग्रामान्तर जाते समय गधे आदि का शकुन लेते हैं, लगता है तुमने 'धम्मो मंगल' को भी वैसा ही समझ लिया है। तुम्हें निर्जरा हेतु सुनना चाहिए। उसका लाभ ही कुछ और होता है।'[1]

अवकाश के क्षण

स्वामीजी मारवाड़ के एक गांव में पधारे। अनेक लोग सम्पर्क में आये, समझे भी, परन्तु वहां का प्रमुख व्यक्ति कभी नहीं आया। अनुश्रुति है कि एक दिन मार्ग में वह मिला, तो स्वामीजी ने सत्संग तथा धर्म-चर्चा करने के लिए कहा। उसने भी प्रसंग को टालने के लिए कह दिया—'किसी दिन अवसर निकाल कर आऊंगा।' उसके पश्चात् कई दिन निकल गये, फिर भी वह नहीं आया। एक दिन स्वामीजी फिर मार्ग में मिल गये। इस बार उसे धर्म-चर्चा के लिए कहा गया, तो उसने स्पष्ट कह दिया—'आना चाहता तो था, पर अवकाश ही नहीं मिल पाया।'

स्वामीजी ने कहा—'प्रातः या सायं कुछ-न-कुछ अवकाश तो मिलता ही होगा?'

उसने कहा—'प्रातः दतौन-कुल्ला करता हूं, बस उसी को आप भले ही अवकाश समझ लें।' यह कहकर वह अपनी दुकान की ओर चला गया। मन-ही-मन सोचने लगा कि इस बार मैंने सदा के लिए बला टाल दी है।

अगले दिन प्रातःकाल ज्योंही वह दतौन-कुल्ला करने बैठा, तो देखा, स्वामीजी उसी की ओर आ रहे हैं। वह खड़ा हो गया और कुछ लज्जित-सा होकर बोला—'इस समय पधारने की आपने कैसे कृपा की?'

स्वामीजी ने कहा—'कल तुमने ये ही तो अवकाश के क्षण बतलाये थे।'

स्वामीजी की उस उदार और परोपकार-वृत्ति को देखकर लज्जावश वह मानो धरती में गड़ गया।

उसने कहा—'बस, स्वामीजी! मुझे क्षमा करें। मैं आज अवश्य आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊंगा।'

वह व्यक्ति उसी दिन से सम्पर्क में आने लगा। बातचीत और तत्त्व-चर्चा का क्रम प्रारम्भ हुआ। कालान्तर में वह एक दृढ़ श्रद्धालु श्रावक बन गया।

स्वामीजी ने इस प्रकार एक-एक व्यक्ति के लिए न जाने कितना परिश्रम किया था। किसके मन को कैसे अध्यात्म की ओर प्रेरित किया जा सकता है, इसके वे अद्वितीय मर्मज्ञ थे।

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १५२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

१०. सत्य-भक्त

सत्य समर्पित

स्वामीजी का सारा जीवन सत्य की आराधना के लिए ही समर्पित था। **सव्वाइं विज्जाइं सच्चे पइट्ठियाइं**[1] अर्थात् सारा ज्ञान सत्य में ही प्रतिष्ठित है, इस आगम-वाणी को उन्होंने पूर्णतः हृदयंगम कर लिया था। उन्हें अपनी बात का कोई आग्रह नहीं था, केवल सत्य की खोज थी। उस खोज में उन्हें जो तत्त्व भासित हुआ, उसी का उन्होंने प्रचार और प्रसार किया। फिर भी अपने मस्तिष्क का द्वार उन्होंने कभी बंद नहीं होने दिया। आचार की सत्यता के प्रति भी उनका उतना ही दृढ़ आग्रह था, जितना कि विचारों की सत्यता के प्रति।

पछेवड़ी बड़ी नहीं निकली

पादू में एक भाई ने मुनि हेमराजजी से कहा—'आपकी पछेवड़ी कल्प से बड़ी लगती है।'

मुनि हेमराजजी ने उससे कहा—'स्वामीजी ने स्वयं अपने हाथ से नाप कर दी है, अतः बड़ी कैसे हो सकती है?'

इस पर भी उस भाई को संदेह बना रहा। वह बड़ी होने की आशंका कर रहा था और मुनि हेमराजजी उसका निराकरण। स्वामीजी कुछ देर तो उनकी बातें सुनते रहे, पर जब उस भाई का सन्देह निवृत्त होता नहीं देखा, तो मुनि हेमराजजी को अपने पास बुलाकर पछेवड़ी उतरवा ली और उसके सामने नाप कर दिखलाई। वह बराबर निकली, तब भाई ने अपनी गलती स्वीकार करते हुए कहा—'मुझे झूठा ही भ्रम हो गया था।'

स्वामीजी ने कहा—'यह तो पछेवड़ी थी, अतः नाप कर बतला दी, किन्तु तुझे तो यह भ्रम भी हो सकता है कि प्यास लगने पर हम मार्ग में नदी आदि का सचित्त पानी भी पी लेते होंगे। साधुता हम अपनी ही आत्मा की सचाई से पाल सकते हैं। चार अंगुल कपड़े के लिए यदि हम अपनी सचाई को खो देंगे, तो वह अन्यत्र भी हमारे जीवन में कहीं दृष्टिगत नहीं हो सकेगी।'[2]

बात सत्य है या असत्य

स्वामीजी ने अनुकम्पा-विषयक अपने विचार व्यक्त करते हुए एक पद्य बनाया :

---

१. आचारांग, ७।११।

२. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ७७

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

छै लेश्या हुंती जद वीर में जी, हुंता आठूं ई कर्म।
छद्मस्थ चूका तिण समै जी, मूरख थापै धर्म।।[1]

मुनि भारमलजी ने उसे देखकर कहा—'इसका तीसरा पद लोगों में ऊहापोह खड़ा करने वाला लगता है, इसे परिवर्तित कर दें, तो अच्छा रहे।'

स्वामीजी—'लोगों में ऊहापोह उत्पन्न करने वाला चाहे हो, पर सत्य है या असत्य?'

मुनि भारमलजी—'है तो बिल्कुल सत्य।'

स्वामीजी—'तो फिर लोगों का क्या भय? न्याय-मार्ग पर चलने वाले को भय की कोई परवाह नहीं करनी चाहिए।'[2]

उस दिन दिगम्बर बन जायेंगे

एक बार सरावगियों ने स्वामीजी से कहा—'आपकी क्रिया तो बहुत ही उच्च कोटि की है, पर यह एक कमी है कि आप वस्त्र रखते हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'हमने श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर संयम ग्रहण किया है। उनमें साधु के लिए निर्दिष्ट प्रमाण-युक्त वस्त्र रखने का विधान है। उन आगमों पर हमारा विश्वास है, इसीलिए हम वस्त्र रखते हैं। दिगम्बर-आगमों पर जिस दिन उतना विश्वास हो जायेगा उस दिन वस्त्र छोड़ देने में हमें कोई हिचकिचाहट नहीं होगी।'[3]

११. असत्य के विरोधी

असत्य पर चोट

स्वामीजी सत्य का पालन करने में जितनी तत्परता रखते थे, उतनी ही असत्य का उघाड़ कर देने में भी। असत्य के वे पूर्ण विरोधी थे। वे उससे इतनी घृणा करते थे कि जहां थोड़ा-सा भी असत्य ज्ञात होता, वे उसकी पोल खोलकर ही दम लेते। यह स्वभाव उनका प्रारम्भ से ही था।

जिस काठ में घुन लग जाता है, वह बाहर से कितना भी अच्छा क्यों न दिखाई दे, पर अन्दर से थोथा हो जाता है। स्वामीजी असत्य को आत्मा के लिए ऐसा ही एक घुन माना करते थे। जो व्यक्ति असत्य को प्रश्रय देने लग जाता है वह आचार और विचार—दोनों ही पक्षों में थोथा हो जाता है। इसीलिए असत्य का

---

१. अनुकम्पा की चौपई, ६।१२

२.भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १७८।

२. वही, दृ. ३१।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आश्रय लेने वाले को वे .फरेबी या पाखंडी माना करते थे। असत्य पर चोट करने को, वस्तुतः सत्य की स्थापना का ही एक अंग कहा जा सकता है।

गुड़ कौन लाया?

स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहते समय एक दिन स्वामीजी किसी दर्जी के घर गोचरी गये। वह भाई साधुओं के पास आया-जाया करता था, अतः कल्प-अकल्प के विषय में उसे पूरी जानकारी थी। वह बोला—'कल आपका एक शिष्य गुड़ ले गया था, अतः आज मेरे यहां की गोचरी का कल्प नहीं है।'

स्वामीजी ने स्थान पर आकर सन्तों से पूछा कि कल उसका गुड़ कौन लाया था? पर किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने पूछा तो साधारण रूप से ही था, पर जब कोई भी नहीं बोला, तब उन्हें यह सोचकर बहुत बुरा लगा कि इतनी-सी बात को भी सत्य कहने का जिसमें साहस नहीं है, वह साधुता का पालन कैसे कर सकता है?

झूठ को प्रकट करने के लिए उन्होंने एक उपाय सोचा और सन्ध्या के समय बहिर्भूमि गये तब सबके साथ दर्जी के घर चले गये। उन्होंने गुड़ ले जाने वाले सन्त को पहचानने के लिए कहा, तो दर्जी ने एक बालक साधु की ओर संकेत करके बतला दिया कि ये ले गये थे। सबने उसकी स्खलना को पहचान लिया।[1]

'कयरे मग्गे मक्खाया'

एक पंडितजी को अपने संस्कृत-ज्ञान का बड़ा घमंड था। उन्होंने स्वामीजी से पूछा—'क्या आपने संस्कृत व्याकरण पढ़ा है?'

स्वामीजी—'नहीं, मैंने संस्कृत व्याकरण नहीं पढ़ा है।'

पंडितजी—'संस्कृत पढ़े बिना प्राकृत भाषा के आगमों का अर्थ नहीं किया जा सकता।'

स्वामीजी—'प्राकृत भाषा का अभ्यास होने पर संस्कृत पढ़े बिना भी उनका अर्थ किया जा सकता है, अन्यथा संस्कृत पढ़ लेने पर भी नहीं किया जा सकता।'

पंडितजी उक्त कथन को मानने के लिए कतई तैयार नहीं हुए। स्वामीजी ने तब उनके झूठे घमंड को तोड़ने के लिए पूछा—'पंडितजी, आप तो व्याकरण के अच्छे ज्ञाता हैं, तो क्या आगमों का अर्थ कर सकते हैं?'

पंडितजी ने गर्वभरी वाणी में कहा—'अच्छी तरह से कर सकता हूं। आशंका हो तो पूछ कर देख लें।'

स्वामीजी ने तब पूछा—**कयरे मग्गे मक्खाया** शास्त्र के इस वाक्य का क्या अर्थ है?'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १९९।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

पंडितजी ने थोड़ी देर सोचने के पश्चात् कहा—'यह तो कोई कठिन बात नहीं पूछी गई है। इसका अर्थ तो सीधा ही है कि कैर और मूंग को अक्षत अर्थात् अखंड रूप में नहीं खाना चाहिए।'

स्वामीजी—'यह अर्थ तो सही नहीं है।'

पंडितजी—'तो फिर सही अर्थ क्या है? यह आप बतलाइये।'

स्वामीजी—'इसका अर्थ तो यह है—तीर्थंकरों द्वारा मोक्ष-मार्ग कितने बतलाए गये हैं?'

पंडितजी के झूठे घमंड का पर्दाफाश हो गया।[1]

जीवित हो?

स्वामीजी मांढ़े में रात्रि के समय व्याख्यान दे रहे थे। सामने काफी संख्या में लोग बैठे हुए थे। स्वामीजी के बिल्कुल पास में बैठे हुए श्रावक आसोजी नींद लेने लगे। उन्होंने झोंकड़ी लेकर ज्योंही सिर ऊंचा उठाया, स्वामीजी ने टोकते हुए कहा—'आसोजी! नींद ले रहे हो?'

किसी सभा आदि में नींद लेते समय टोके जाने वालों के मुंह से प्रायः जो उत्तर अचानक निकल जाया करता है, ठीक उसे ही दुहराते हुए आसोजी ने कहा—'नहीं, महाराज!'

थोड़ी देर पश्चात् वे फिर नींद लेने लगे। स्वामीजी ने फिर टोका। उन्होंने फिर वही बंधा हुआ उत्तर देते हुए कहा—'नहीं, महाराज!'

जितनी बार उन्हें टोका गया, उन्होंने हर बार वही उत्तर दिया। अन्ततः स्वामीजी ने उनके उस असत्य को प्रकट करने के लिए उसी लहजे में पूछा—'आसोजी! जीवित हो?'

उन्होंने चट से कहा—'नहीं, महाराज!'

उपस्थित लोग उनका उत्तर सुनकर हंस पड़े, तब वे सावधान हुए।[2]

१२. स्पष्टवादी

डंके की चोट

स्वामीजी अत्यन्त स्पष्टवादी थे। मुख देखकर तिलक करना उन्होंने कभी पसंद नहीं किया। बहुधा लोग स्पष्ट कहने में घबराते हैं। वे सोचते हैं, स्पष्ट कहने से दूसरा बुरा मान जायेगा। इसीलिए वे कहना चाहते हुए भी कथ्य को शब्दों की

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २१८।

२. वही, दृ. ४८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

ओट में छिपाते हैं। स्वामीजी ऐसा नहीं करते थे। उन्हें जो नहीं कहना होता, उसमें वे मौन अवश्य रह जाते, पर जो कहना होता, उसे डंके की चोट कहते थे। उनकी स्पष्टवादिता के पीछे किसी को चोट पहुंचाने या नीचा दिखाने की भावना न होकर अवगुण-प्रतिकार की भावना हुआ करती थी।

हाथी तो दिखाई देता है?

कुछ व्यक्तियों ने स्वामीजी से पूछा—'प्रतिमाधारी श्रावक को शुद्ध आहार-पानी देने से क्या होता है?'

स्वामीजी ने कहा—'यह चर्चा बहुत सूक्ष्म और गम्भीर है, अतः इससे पूर्व कुछ स्थूल बातों को जान लो, तो अच्छा रहेगा। उन्होंने फिर अपनी ओर से ही प्रश्न की उद्भावना करते हुए पूछा कि किसी को सचित्त पानी पिलाने तथा मूला आदि खिलाने में तुम लोगों की क्या श्रद्धा है?'

उन लोगों ने कहा—'इन बातों का हमें कोई पता नहीं, हमें तो प्रतिमाधारी के विषय में ही बतलाइये।'

स्वामीजी ने तब दृष्टान्त के द्वारा अपने कथ्य को आगे बढ़ाते हुए कहा—'एक व्यक्ति लोगों से कहने लगा—'मुझे चींटी और कुंथु दिखलाओ।'

'लोगों ने उससे पूछा—'यह सामने खड़ा हुआ हाथी तुम्हें दिखाई देता है या नहीं?'

'उसने कहा—'हाथी तो मुझे दिखाई नहीं देता।'

'लोग बोले—'जब हाथी भी दिखाई नहीं देता, तब चींटी और कुंथु कैसे दिखलाए जा सकते हैं? वे तो हाथी की अपेक्षा से बहुत ही छोटे प्राणी हैं।'

स्वामीजी ने प्रसंग का उपसंहार करते हुए कहा—'तुम लोगों की स्थिति उस व्यक्ति जैसी ही है, जिसे हाथी तो दिखाई नहीं देता था, पर चींटी दिखाने का आग्रह करता था। हिंसा में धर्म-अधर्म की बात जब तुम्हारी समझ में नहीं आती, तब प्रतिमाधारी श्रावक कितना भी त्यागी क्यों न हो, फिर भी उनके अव्रत शेष रहता है। और अव्रत का सेवन करना धर्म नहीं होता, यह तो तुम्हारी समझ में आयेगा ही कैसे? यह तो बहुत सूक्ष्म तत्त्व है।'[१]

उत्तर भी सत्पात्र में

यति हीरजी स्वामीजी से अत्यन्त विद्वेष रखा करते थे। वे उनके मन्तव्यों तथा कथनों को तोड़-मरोड़कर जनता में इस प्रकार से अन्यथा प्रचार किया करते

१. श्रावक-दृष्टान्त, दृ. २०७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

कि साधारण लोग उसे सुनकर भ्रांत हो जाते। स्वामीजी उन्हें कभी ऐसा अवसर नहीं देते कि जिससे वे अपने दुष्प्रचार में कुछ नई वृद्धि कर सकें।

एक दिन यति हीरजी ने स्वामीजी से कई प्रश्न पूछे और कहने लगे कि इनके उत्तर पाने अति आवश्यक हैं।

स्वामीजी उनकी दुर्नीति को जानते थे, अतः बोले—'कोई व्यक्ति अशुचि-लिप्त भाजन लाये और कहे कि मुझे इसमें घी तोल दो। अब तुम्हीं बतलाओ कि कौन ऐसा व्यापारी होगा, जो उस अशुद्ध भाजन में घी तोल दे? मुझे तुम्हारा मन अपवित्र भाजन जैसा लगता है, अतः उत्तर देने में कोई गुण दिखाई नहीं देता। घी और उत्तर सत्पात्र में ही ठीक रहते हैं।'[१]

चोर की तरह नहीं

एक व्यक्ति स्वामीजी के पास धर्म-चर्चा करने के लिए आया। दान-दया, व्रत-अव्रत आदि अनेक विषयों पर चर्चा की। प्रत्येक प्रसंग में उसे स्थान-स्थान पर अटकना पड़ा। जब उसके पास कोई उत्तर नहीं होता, तब अंट-संट बोलने लगता। एक बात को छोड़कर दूसरी और फिर दूसरी को छोड़कर तीसरी पूछने लगता। निरुत्तर हो जाने पर भी न उसने किसी न्याय-युक्त कथन को स्वीकार किया और न किसी विषय पर टिका ही रहा।

स्वामीजी ने उसके विचित्र व्यवहार को लक्ष्य कर कहा—'खेत का स्वामी खेत काटता है, तब व्यवस्थित और संलग्न काटता है, परन्तु चोर घुस आता है, वह दो हाथ इधर मारता है और दो उधर। तुम्हें चोर की तरह नहीं, खेत के स्वामी की तरह होना चाहिए। एक विषय को पूरा समझ लेने के पश्चात् ही दूसरा विषय उठाना चाहिए।'[२]

धूर्त चोर

कई शिथिलाचारी साधु स्वामीजी से चर्चा करने आते, परन्तु उनका दृष्टिकोण प्रायः तत्त्व-गवेषणा का न होकर लोगों को भ्रांत करने का ही हुआ करता था। वे स्वामीजी द्वारा प्रदत्त शास्त्र-न्याय की कोई परवाह नहीं करते। प्रत्येक बात को विरुद्ध प्रचार का साधन बनाते और कहते कि भीखणजी ने दान व दया को उठा दिया है, भगवान् महावीर में भी चूक बतलाते हैं, आदि।

उपर्युक्त प्रकार के व्यक्तियों की समालोचना करते हुए स्वामीजी ने कहा—'धूर्त चोर केवल चोरी ही नहीं करता, वह जाते समय घर में आग भी लगा

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २२३।

२. वही, दृ. १३२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जाता है। लोग आग बुझाने में लगते हैं, तब तक वह पार हो जाता है। इन शिथिलाचारियों की वृत्ति भी वैसी ही है। शुद्ध आचार नहीं पाल पाते, तब लोगों का ध्यान उस तरफ से अन्यत्र फेरने के लिए द्वेषाग्नि भड़काते हैं।'[1]

पहले कैसे आ गये?

सं.१८५७ में स्वामीजी का चतुर्मास पुर में था। वहां एक बार बाहर की किसी सेना के आक्रमण की संभावना हो गई। स्वामीजी ने तब अन्यत्र चले जाने का विचार किया। श्रावकों को पता लगा तो वे कहने लगे—'हम यहां हैं, तब आप विहार क्यों करते हैं?'

स्वामीजी ने कहा—'कुछ वर्ष पूर्व स्थानकवासी संतों का यहां चतुर्मास था। सैनिक आक्रमण के समय काफी लोग अन्यत्र चले गये, फिर भी सन्तों ने विहार नहीं किया। सुरक्षा की दृष्टि से वे नागोरियों के वास में चले गये। धनी घरों में लूट-पाट करते हुए सैनिक उस वास में भी आये। धन की खोज में पूछताछ करते समय उन्होंने सन्तों को काफी सताया। मिर्चों की धूनी दी तथा मुख पर मिर्चों का 'तोबड़ा' बांधा। हम वैसी स्थिति से बचना चाहते हैं, अतः विहार करने का विचार कर रहे हैं।'

श्रावकों ने कहा—'विहार करना ही है, तो इतनी शीघ्रता क्या है? कल तक हम भी आपके साथ चलेंगे।'

श्रावकों की उक्त प्रार्थना पर स्वामीजी ठहर गये। उसी रात्रि को जब यह प्रवाद फैला कि सेना समीप आ गई है, तो लोगों में भगदड़ मच गई। काफी लोग रात्रि में ही वहां से भागकर अन्यत्र चले गये। उनमें वे श्रावक भी थे, जिन्होंने स्वामीजी को ठहरने की प्रार्थना की थी। प्रातः स्वामीजी विहार करके गुरलां पधारे। वहां उन श्रावकों को देखा तो स्वामीजी ने कहा—'तुम लोग तो कहते थे कि हम आपके साथ ही चलेंगे, फिर पहले कैसे आ गये?'

श्रावक—'हम पहाड़ी पर से देख रहे थे कि स्वामीजी पधार रहे हैं।'

स्वामीजी—'दूर खड़े होकर देखने से क्या हो? बात तो साथ में आने की थी।'

श्रावक—'भय-वश हमें तो भागना ही याद रहा।'

स्वामीजी ने गम्भीर होते हुए कहा—'गृहस्थ मूलतः अपनी और अपने परिवार की सुरक्षा के विषय में ही सोचते हैं। हम साधुओं को उनके विश्वास पर अधिक अवलम्बित नहीं रहना चाहिए।'[2]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १३३।

२. वही, दृ. २६०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

चूक हो गई

स्वामीजी को नीमली से चेलावास जाना था। विहार करने को उद्यत हुए, तब भाइयों से मार्ग का विवरण पूछने लगे।

श्रावक जयचंदजी ने कहा—'मैं मार्ग जानता हूं, अतः आप निश्चिंत पधारें। मैं आपके साथ रहूंगा।'

स्वामीजी ने उनके विश्वास पर विहार कर दिया। कुछ दूर जाने के पश्चात् मार्ग पगडंडी में बदल गया और फिर पगडंडी भी लुप्त हो गई। स्वामीजी ने जयचंदजी को उपालम्भ देते हुए कहा—'तुम तो कह रहे थे कि मैं मार्ग जानता हूं।'

जयचन्दजी ने उदास स्वर में कहा—'स्वामीजी! जानता तो था, पर कहीं चूक हो गई।'

स्वामीजी बोले—'हमारी भी चूक हो गई। तुम्हारे विश्वास पर न रहकर यदि वहां मार्ग का विवरण पूछ लेते, तो सम्भव है यह कठिनाई नहीं आती।'[1]

१३. तीखे आलोचक

शल्य-क्रिया

स्वामीजी ने आचार-क्रान्ति की थी, अतः शिथिलाचार तथा कुरूढ़ियों पर उनके द्वारा कठोर प्रहार होना स्वाभाविक ही था। वे मानते थे कि शिथिलाचार इतनी गहराई तक व्याप्त हो गया है कि उसे साधारण उपदेश मिटा नहीं पाते। वे उसे एक प्रकार का फोड़ा मानते थे, जिसका मवाद शल्य-क्रिया द्वारा निकालना अपरिहार्य हो चुका था। वे उस कार्य को तीखी आलोचनाओं के शस्त्र द्वारा संपन्न किया करते थे। उसके पीछे किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति उनका दुर्भाव नहीं होता था, अपितु आचार-स्तर पर रुग्ण व्यक्ति को स्वस्थता प्रदान करने की व्यग्रता हुआ करती थी। साध्वाचार-विषयक उनकी निर्भीक और तीखी आलोचनाएं उस युग के अनेक व्यक्तियों के लिए मोह-भंग का हेतु बनी थीं।

नग्न-नृत्य

स्वामीजी के व्याख्यान में लोग बहुत आने लगे थे, यह देखकर विरोधियों को बड़ी जलन हुई। उन्होंने निन्दात्मक प्रवाद फैलाकर पहले तो लोगों को भ्रांत करना प्रारम्भ किया और फिर कदाग्रह करने पर उतर आये। स्वामीजी ने उनकी वृत्ति की आलोचना करते हुए कहा—'एक व्यक्ति की दुकान पर ग्राहकों की बड़ी भीड़ रहा करती थी। पड़ोसी दुकानदार उससे जलने लगा। उसने भी लोगों को

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २६१।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

एकत्रित करने की ठानी। कई उपाय किये, परन्तु सफलता नहीं मिली। एक दिन उसने अपने वस्त्र उतार फेंके और नग्न होकर नाचने लगा। उसके उस पागलपन को देखने के लिए सैकड़ों व्यक्ति एकत्रित हो गये। दुकानदार तब मन-ही-मन प्रसन्न हुआ।'

प्रसंग का उपसंहार करते हुए स्वामीजी ने कहा—'व्यापारिक बुद्धि के अभाव में जैसे उस व्यक्ति ने नग्न होकर लोगों को एकत्रित किया, वैसे ही साधुत्व का बल न होने पर ये लोग कलह उत्पन्न करके लोगों को एकत्रित कर रहे हैं।'[१]

खोटा सिक्का

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—'साधु चाहे कितना ही शिथिलाचारी क्यों न हो, गृहस्थ से तो अच्छा ही होता है।'

स्वामीजी ने उसको समझाते हुए उदाहरण दिया—'एक व्यक्ति प्रभातकाल में ही एक पैसे का गुड़ लेने गया। दुकानदार ने तांबे के पैसे को आदरपूर्वक सिर से लगाया और उसे शुभ 'बोहनी'—व्यवसाय का प्रारंभ माना।

दूसरे दिन उसी व्यक्ति ने उसी दुकान से एक रुपये की रेजगी मांगी। दुकानदार ने 'बोहनी' में आये उस चांदी के रुपये को भी आदरपूर्वक सिर से लगाया।

तीसरे दिन वही व्यक्ति उसी दुकान पर फिर रुपया भुनाने आया। दुकानदार बहुत प्रसन्न हुआ कि कल वाला ग्राहक आज फिर आया है। उसने रुपया हाथ में लेकर देखा, तो वह खोटा था। तांबे के पैसे पर चांदी का झोल चढ़ाया हुआ था। उसने उस खोटे रुपये को फेंकते हुए कहा—'बोहनी में ही तुमने अपशकुन करवा दिया।'

ग्राहक बोला—'परसों तांबे का पैसा लाया था और कल चांदी का रुपया। उन दोनों को तुमने आदर से ग्रहण किया, तब आज अपशकुन क्यों मानते हो? इसमें तो तांबा और चांदी दोनों हैं।'

दुकानदार ने कहा—'पिछले दोनों सिक्के अपने स्वरूप में सत्य थे, परन्तु यह असत्य है। अन्दर से तांबे का पैसा है, किन्तु बाहर से रुपये का भ्रम पैदा करता है, अतः खोटा सिक्का है।'

उपसंहार में स्वामीजी ने कहा—'पैसे के समान श्रावक, रुपये के समान साधु और खोटे रुपये के समान शिथिलाचारी साधुओं को समझना चाहिए। श्रावक और साधु तो अपने व्रत यथावत् पालते हैं, अतः प्रशंसनीय एवं आराधक होते हैं, किन्तु

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २५२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

शिथिलाचारी साधु व्रतों का भंग करता रहता है इसलिए न प्रशंसनीय होता है और न आराधक। वह वेष से साधु होने पर भी लक्षण से तो गृहस्थ से भी गया-बीता होता है। उसे 'अधबेसरा'—अश्वतर कहना चाहिए। अश्वतर अर्थात् खच्चर, जो न घोड़ों की गणना में आता है और न गधों की। उसकी वह स्थिति निन्दनीय ही कही जा सकती है, वन्दनीय तो बिल्कुल नहीं।'[1]

बलात् की गई सती

स्वामीजी के युग में अनेक व्यक्तियों ने साधु-वेष को उदरपूर्ति का साधन बना लिया था। कुछ व्यक्ति उनको भी साधु मानकर आदर देते और धर्म-रक्षा की आशा करते। स्वामीजी ने उनकी आलोचना करते हुए कहा—'पति की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी को मतान्ध लोगों ने सीढ़ी से बांधकर बलपूर्वक जला दिया। अज्ञ-जन प्रार्थना करने लगे—'सती माता! हमारी रक्षा करना, 'तेजरा' (हर तीसरे दिन आने वाला ज्वर) दूर करना।' बलात् की गई सती क्या रक्षा करेगी और क्या 'तेजरा' दूर करेगी?'

'शिथिलाचारी साधु बलात् बनाई गई उस सती की कोटि के ही हैं। उनसे धर्म-रक्षा की तो आशा ही क्या की जा सकती है, जब वे अपनी गृहीत साधुता की भी रक्षा नहीं करते?'[2]

मिठाई कड़वी है

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—'कुछ व्यक्तियों को तो आप बहुत अच्छे लगते हैं, परन्तु कुछ व्यक्ति आपको बिलकुल पसन्द नहीं करते, इसका क्या कारण है?'

स्वामीजी ने कहा—'ज्वरवाला एक व्यक्ति भोज में चला गया। वहां विभिन्न मिष्टान्न परोसे गये। जब ज्वर-ग्रस्त व्यक्ति ने खाना प्रारम्भ किया तो प्रथम ग्रास में ही बोल उठा कि यह मिठाई तो कड़वी है।

'पास में बैठे अन्य व्यक्तियों ने कहा—'यह तो बहुत अच्छी मिठाई है। हमें तो इसमें कोई कड़वापन नहीं लगता।'

'एक वैद्य ने उसकी नाड़ी देखते हुए कहा—'तुम्हें ज्वर है। ज्वरी को अच्छी मिठाई भी स्वादहीन या कड़वी लगने लगती है।'

स्वामीजी ने कहा—'जिसको मिथ्यात्व का ज्वर चढ़ा होता है, उसे सन्त अच्छे कैसे लग सकते हैं?'[3]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २६५।

२. वही, दृ. ३०२।

३. वही, दृ. ३०३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

कार्तिक के ज्योतिषी

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—'आपने ग्रंथों में शिथिलाचारी साधुओं के विषय में बहुत विवरण दिया है। उसे पढ़ने से मन में यह प्रश्न उठता है कि आपने यह सब कैसे जाना?'

स्वामीजी ने कहा—'हम कार्तिक के ज्योतिषी हैं, आषाढ़ के नहीं। आषाढ़ में जो अन्न की उपज तथा भाव बतलाये जाते हैं, वे केवल भविष्यवाणी के रूप में होते हैं, मिल भी सकते हैं और नहीं भी। किन्तु कार्तिक मास में जो अन्न की उपज एवं भाव बतलाये जाते हैं, वे भविष्य की बात न होकर वर्तमान की वास्तविकता से सम्बद्ध होते हैं। उसी तरह मैंने शिथिलाचार के विषय में जो लिखा है, वह सब वर्तमान के निकट-दर्शन और अनुभव के आधार पर है। कल्पना का उसमें कोई समावेश नहीं है।'[1]

कायर क्षत्रिय

कइयों की मान्यता थी कि विशिष्ट कारण में साधु अकल्पनीय आहार आदि भी ले सकता है। ऐसा दान देने वाले को भी वे अल्प पाप और बहु निर्जरा करने वाला कहते थे।

स्वामीजी ने उस मान्यता पर प्रहार करते हुए कहा—'कारण के नाम से जो अशुद्ध वस्तु लेने तथा देने की स्थापना करते हैं, वे शुद्ध साधु नहीं हो सकते। वे तो उस क्षत्रिय के समान होते हैं, जो बातें तो वीरता की बनाता है, किन्तु युद्ध प्रारम्भ होते ही भाग खड़ा होता है। ऐसे कायर व्यक्ति न कोई राज-सम्मान पा सकते हैं और न सुयश। उसी तरह ऐसे शिथिल साधु भी साधना-क्षेत्र में न कोई महत्त्व पा सकते हैं और न कोई आत्म-कल्याण ही कर सकते हैं।'[2]

तेरे बाप का क्या जायेगा?

कुछ साधु तपस्या के पारणे पर समाज में मिठाई बांटने की बड़ी प्रेरणा दिया करते थे।

स्वामीजी का कथन था—'तपस्या अध्यात्म साधना के लिए की जाती है। उसके उपलक्ष में यह आडम्बर उचित नहीं।'

कभी-कभी वे बड़े तीखेपन के साथ यह भी कहते—'मिठाई बांटने की प्रेरणा देने वाले साधु अपनी लोलुपता ही प्रकट करते हैं। वे सोचते हैं कि समाज में बांटी जायेगी तो उन्हें भी मिलेगी।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ३०४।

२. वही, दृ. २३३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

एक व्यक्ति ने कहा—'वे तो उसमें से थोड़ी मिठाई ला पाते हैं। शेष सारी तो समाज के घरों में ही जाती है।'

स्वामीजी ने दृष्टान्त के द्वारा उत्तर देते हुए कहा—'विवाह-मंडप में मंत्रोच्चारण करते हुए ब्राह्मण ने मंत्र की लय में अपनी पुत्री को संकेत किया—'घी चुरा ले, घी चुरा ले।'

'पुत्री समझ तो गई, परन्तु पास में कोई पात्र नहीं था, अतः पिता की लय में ही अपना स्वर मिलाती हुई बोली—'किसमें डालूं, किसमें डालूं?'

'ब्राह्मण ने मूर्ख पुत्री को समझाते हुए फिर कहा—'नया सिकोरा, नया सिकोरा।'

'पुत्री ने एक अन्य समस्या सम्मुख रखते हुए कहा—'सूख जाएगा, सूख जाएगा।'

'ब्राह्मण ने तब उकताहट के क्रुद्ध स्वर में कहा—'तेरे बाप का क्या जायेगा? तेरे बाप का क्या जायेगा?'

स्वामीजी ने उपसंहार करते हुए कहा—'यदि तपस्या के उपलक्ष में की गई अधिकांश मिठाई बांटने में चली जाती है, तो उनके बाप का क्या जाता है? उनके लिए तो जितनी पल्ले पड़ी, उतनी ही ठीक है।'[१]

पोल न खुल जाए

उस युग के अनेक साधु और आचार्य अपने श्रावकों को स्वामीजी के सम्पर्क में नहीं आने देते थे। वे उन्हें उनके पास जाने का त्याग करवा दिया करते थे।

किसी ने पूछा—'ऐसा करने में उनको क्या लाभ है?'

स्वामीजी ने कहा—'आगम में 'रयणा देवी' के वर्णन में बतलाया है कि उसने जिनऋषि और जिनपाल को दक्षिण के उद्यान में जाने का निषेध किया था। वह जानती थी कि वहां जाने से उसकी पोल खुल जाएगी। वही 'रयणा देवी' वाली दशा उन साधुओं और आचार्यों की है। उन्हें भय है कि भीखणजी के पास जायेंगे तो उन्हें शिथिलाचारी समझने लगेंगे और सम्भवतः सदा के लिये ही चले जायेंगे।'[२]

१४. जैसे को तैसा

स्वामीजी के पास बहुधा अध्यात्म-चर्चा-रसिक व्यक्ति ही आया करते थे, परन्तु कभी-कभी ऐसे व्यक्ति भी आ जाते थे, जो केवल फल्गुवादी या

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २५०।

२. वही, दृ. २०३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वितण्डावादी होते थे। स्वामीजी ऐसे व्यक्तियों से प्रायः बचने का ही प्रयास करते, परन्तु कभी-कभी उन्हें ऐसा उत्तर भी देते थे जिसे 'जैसे को तैसा' कहा जा सकता है। ऐसा उत्तर देने में उनका उद्देश्य झगड़ा तथा वितण्डा करने वालों को तत्काल चुप तथा निरुत्तर कर देना होता था।

'ता' और 'तं' कितने?

स्वामीजी आउवा में विराजमान थे। नगजी नामक व्यक्ति ने पूछा—'भीखणजी! सुना है, आप बड़े आगमज्ञ हैं, तो तत्काल बतलाइये कि 'तस्सुत्तरी' पाठ में 'ता' कितने हैं और 'तं' कितने हैं?'

स्वामीजी उस विचित्र प्रश्न को सुनकर जरा मुस्कराये और बोले—'मैं तो कोई बहुत बड़ा आगमज्ञ नहीं हूं, परन्तु लगता है तुमने तो आगमों के अक्षर-अक्षर गिन रखे हैं। तुम्हीं बताओ, भगवती में 'का' कितने हैं और 'कं' कितने हैं? 'खा' कितने हैं और 'खं' कितने हैं?'

आगे चर्चा का मार्ग अवरुद्ध पाकर फल्गुवादी चुपचाप वहां से चलता बना।[१]

धर्म हुआ या अधर्म?

आचार्य रुघनाथजी ने स्वामीजी से पूछा—'भीखणजी! जोधपुर-नरेश विजयसिंहजी ने सरोवरों और कूपों पर राज्य की ओर से छनने रखवा दिए हैं और आदेश भी घोषित किया है कि प्रत्येक व्यक्ति पानी को छानकर ले जाए। उन्होंने दीपक पर ढक्कन रखने तथा वृद्ध माता-पिता की सेवा करने आदि के भी आदेश घोषित किए हैं। तुम बताओ, इन कार्यों में राजाजी को धर्म हुआ या अधर्म?'

स्वामीजी ने कहा—'धर्म-अधर्म के निर्णय से पूर्व यह तो बतलाइये कि आप नरेश को सम्यक्त्वी मानते हैं या मिथ्यात्वी? क्योंकि हमारे मन्तव्य से तो मिथ्यात्वी व्यक्ति भी यदि सत्क्रिया करता है तो उसे धर्म होता है, परन्तु आपका मन्तव्य इससे सर्वथा विपरीत है कि मिथ्यात्वी व्यक्ति चाहे शील, सत्य और तप का आचरण क्यों न करता हो, पर वह सब धर्म का हेतु न होकर भव-बंधन का हेतु ही होता है।'

आचार्य रुघनाथजी उत्तर में कुछ नहीं बोले, क्योंकि नरेश को सम्यक्त्वी वे मानते नहीं थे और मिथ्यात्वी कहने पर स्वयं उनके ही मन्तव्यानुसार उनकी हर क्रिया भववर्धक सिद्ध हो जाती।[२]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ४०।

२. वही, दृ. ११४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

कलाल का पानी

चेलावास के ठाकुर जूझारसिंहजी संतों के बड़े भक्त थे। एक बार आचार्य रुघनाथजी और स्वामी भीखणजी दोनों ही वहां आ गए। आचार्य रुघनाथजी ने स्वामीजी के विरुद्ध वातावरण बनाने के लिए जूझारसिंहजी के पास जाकर कहा—'भीखण मेरा शिष्य है, परन्तु उत्पथगामी होकर वह दान और दया का विरोध करता है।' वे बातें कर ही रहे थे कि संयोगवश उसी समय स्वामीजी भी वहां आ गये। ठाकुर ने पूछा—'क्या आप दान और दया का विरोध करते हैं?'

स्वामीजी उनके प्रश्न से ही समझ गए कि आचार्यजी ने उनको क्या-कुछ समझाया है। ठाकुर के प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—'दान और दया का विरोध करेगा, वह साधु ही कैसे होगा? मैं उनका विरोध नहीं करता, परन्तु उनमें शुद्धाशुद्धि का विवेक रखने की बात कहता हूं।'

ठाकुर—'यह तो कोई विपरीत बात नहीं हुई।'

स्वामीजी—'यही तो आश्चर्य है कि जो विपरीत नहीं है, उसे विपरीत सिद्ध करने में एड़ी-चोटी का पसीना एक किया जा रहा है और जो विपरीत है, उसकी ओर से आंखें मूंदी जा रही हैं।'

ठाकुर—'वह कैसे?'

स्वामीजी—'ऐसे अनेक कार्य हैं, परन्तु अभी उदाहरणस्वरूप एक कार्य आपको बतला रहा हूं। हम जैन संत प्रासुक—उष्ण जल काम में लेते हैं। घरों में वह थोड़ा-थोड़ा मिलता है। कलाल के यहां एक ही स्थान पर पर्याप्त मिल जाता है। परन्तु जहां शराब बनती है, वहां जल के लिए जाना मुझे तो व्यवहार-विपरीत लगता है। आप ही कहिए, आपको कैसा लगता है?'

ठाकुर—'आप जल-ग्रहण की बात कहते हैं? मेरी दृष्टि से तो संतों को वहां जाना ही नहीं चाहिए। वहां रात-दिन शराब की भट्टियां चलती हैं। ऐसे स्थान पर जाने से लोक-निन्दा की सम्भावना है।'

स्वामीजी—'आप आचार्यजी से पूछिये कि ये वहां से पानी ग्रहण करते हैं या नहीं?'

ठाकुर उनसे कुछ पूछे, उससे पूर्व ही वे उठकर चल दिए।[1]

विवाह के बिना धर्म नहीं

कुछ व्यक्ति स्वामीजी के पास आए और चर्चा करते हुए बोले—'आप अहिंसा की कितनी भी प्रशस्ति क्यों न करें, परन्तु हिंसा के बिना धर्म हो नहीं

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २६६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

सकता।' उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा—'दो श्रावक थे। उन्होंने चने खरीदे। उनमें से एक को उस दिन अग्नि के आरम्भ का त्याग था, अतः वह तो कच्चे ही चने चबाने लगा। दूसरे को त्याग नहीं था, उसने चनों के भूगड़े बना लिए। उसी समय एक तपस्वी साधु वहां आ गए। भूगड़ेवाले ने पात्र-दान देकर तीर्थंकर-गोत्र उपार्जन किया। अग्नि के आरम्भ का जिसे त्याग था, वह देखता ही रह गया। उसके पास दान देने योग्य कोई वस्तु नहीं थी। इससे सिद्ध होता है कि हिंसा के बिना धर्म नहीं होता।'

स्वामीजी ने कहा—'यदि तुम लोग ऐसा मानते हो तो एक दृष्टान्त मैं भी सुनाता हूं—दो श्रावक थे। उनमें से एक ने यावज्जीवन के लिए पूर्ण शीलव्रत स्वीकार किया, तो दूसरे ने विवाह किया। उसके पांच पुत्र हुए। बड़े होने पर उनमें से दो को विराग हुआ, तब पिता ने बड़े हर्ष से दीक्षा की आज्ञा दी और उससे तीर्थंकर-गोत्र का उपार्जन किया। जिसे विवाह का त्याग था, वह देखता ही रह गया। उसके कोई पुत्र नहीं था, अतः दीक्षा दे भी तो किसे?'

दोनों दृष्टान्तों की तुलना करते हुए स्वामीजी ने कहा—'तुम्हारी मान्यता से हिंसा के बिना दान नहीं होता, अतः हिंसा में भी धर्म है, तो तुम्हें यह भी मानना होगा कि पुत्रोत्पत्ति के बिना दीक्षा नहीं दी जा सकती, अतः विवाह में भी धर्म है।'

स्वामीजी के उक्त कथन का वे कोई उत्तर नहीं दे पाए, अतः वह चर्चा वहीं समाप्त हो गई।[1]

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

तुमने भी व्यापार नहीं छोड़ा

रीयां में व्याख्यान देते समय स्वामीजी ने आचार की चौपई के कुछ पद्य गाकर सुनाये और उनकी व्याख्या करते समय शिथिलाचार के विरुद्ध कुछ विचार व्यक्त किये।

मोतीरामजी बोहरा व्याख्यान सुनने के लिए आए हुए थे। वे स्वामीजी के कट्टर विरोधी थे। उन्हें वे विचार बिलकुल रुचिकर नहीं लगे। उन्होंने स्वामीजी से कहा— 'भीखणजी! बंदर बूढ़ा हो जाता है तो भी छलांग लगाना नहीं छोड़ता। वही स्थिति तुम्हारी भी है। बूढ़े हो गए हो, फिर भी दूसरों का खंडन करना नहीं छोड़ा है।'

स्वामीजी बोले—'मेरा कार्य साध्वाचार को सुदृढ़ करना तथा शिथिलाचार को दूर हटाना है। इसे छोड़ा कैसे जा सकता है? तुम अपना ही उदाहरण क्यों नहीं लेते? तुम्हारे पिता ने व्यापार किया और हुंडियां लिखीं, तुम्हारे दादा ने भी वैसा ही किया था और मैं देखता हूं कि अभी तक तुमने भी दुकान उठाई नहीं है।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २१०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

दीपचंदजी मुणोत मोतीरामजी के साथ स्वामीजी के पास गए थे। उक्त वार्तालाप के पश्चात् जब वे घर आए, तो अपने मित्रों और सम्बन्धियों से कहा—'मोतीरामजी के लिए भीखणजी के जो शब्द निकले हैं, उनसे लगता है कि निकट भविष्य में ही उनकी दुकान बन्द हो जाएगी।' संयोग ही कहना चाहिए कि कुछ दिन ही व्यतीत हो पाए थे कि दिवाला निकल जाने के कारण उन्हें अपना व्यापार बन्द कर देना पड़ा।[१]

पानी से ज्ञानी नहीं

रीयां में अमरसिंहजी के टोले के मुनि तिलोकजी स्वामीजी के पास आए और चर्चा करने लगे। जब स्वामीजी के उत्तरों पर प्रत्युत्तर देना कठिन पड़ने लगा, तब रोब जमाने की दृष्टि से बोले—'मुझे क्या बताते हो, मैंने आगरे और दिल्ली का पानी पीया है।'

स्वामीजी ने कहा—'आगरे और दिल्ली में तो कसाईखाने भी चलते हैं। वहां का पानी पीने से कोई ज्ञानी नहीं बन जाता। तत्त्व-चर्चा के लिए आगम-ज्ञान की गहराई चाहिए। वह हो तो बोलो, अन्यथा इधर-उधर की बातें करना निरर्थक है।'

मुनि तिलोकजी ने अपनी बात जमती नहीं देखी, तब चुपचाप वहां से चलते बने।[२]

दो अधिक सही

मुनि कुशलोजी और मुनि तिलोकजी स्थानकवासी सम्प्रदाय के अपने टोले से पृथक् होकर स्वयं को सर्वाधिक दृढ़ आचारी जतलाने के लिए इस प्रकार की प्ररूपणा करने लगे—साधु को केवल तीसरे प्रहर में ही गोचरी करनी चाहिए, गांव में नहीं रहना चाहिए, मिठाई आदि सरस तथा घृत आदि गरिष्ठ पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए आदि।

एक बार किसी गांव में स्वामीजी पधारे तो पाया कि उक्त दोनों मुनि वहां प्रथम प्रहर में गोचरी कर रहे थे। स्वामीजी कब चूकने वाले थे? तत्काल उनसे पूछ लिया—'तुम लोग तो केवल तीसरे प्रहर में गोचरी करने की प्ररूपणा करते हो, फिर यह प्रथम प्रहर में गोचरी कैसे हो रही है?'

कुशलोजी ने तमकते हुए कहा—'कौन कर रहा है गोचरी? हम तो धोवन-पानी की गवेषणा कर रहे हैं।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २३।

२. वही, दृ. २४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने कहा—'पानी कौनसा आहार से बाहर है? वह भी चतुर्विध आहार के अन्तर्गत आता है। पानी यदि प्रथम प्रहर में ले सकते हैं तो रोटी लेने में क्या अड़चन है?'

कुशलोजी इसका कोई उत्तर नहीं दे सके तब बौखलाते हुए बोले—'तुम तेरापन्थियों ने दान और दया को समाप्त कर दिया है, अतः हम तुम्हें सारे संसार में बदनाम कर देंगे।'

स्वामीजी मुस्कराये और कहने लगे—'कोई बात नहीं। मुझे यह धमकी और भी बहुत व्यक्ति देते रहते हैं। लोगों का कथन है कि मुनि-वेष में रहने वाले दो हजार व्यक्ति मेरे विरोधी हैं। यदि पूरे हैं, तो दो अधिक हुए सही। यदि दो कम हैं, तो चलो, आज पूरे हो गये। गाड़ी में छाज का कौनसा भार होता है?'[1]

पांच रुपये की आज्ञा

पाली के बाबेचा परिवार के कुछ व्यक्तियों ने स्थानीय ब्राह्मणों को स्वामीजी के विरुद्ध खड़ा करने की दृष्टि से कहा—'तुम लोगों को दान देने की इच्छा तो थी, परन्तु भीखणजी कहते हैं कि इनको देने में पाप होता है, इसलिए अब देने से मन हट गया है।'

ब्राह्मण बहुत क्रुद्ध हुए। वे एकत्रित होकर तत्काल स्वामीजी के पास आये और कहने लगे—'आप हमें दान देने में पाप कहते हैं, अतः बाबेचा परिवार के लोगों ने हमें दान देना बन्द कर दिया है। यह कार्य आपने उपयुक्त नहीं किया। हमारी तो जीविका ही मारी गई।'

स्वामीजी ने कहा—'मैंने बाबेचों को तुम्हें देने से कभी निषेध नहीं किया है। वे लोग यदि तुम्हें पांच रुपये भी दें, तो मुझे निषेध करने का त्याग है।'

ब्राह्मण भागते हुए बाबेचों के पास आये और बोले—'स्वामीजी ने पांच रुपये देने की आज्ञा प्रदान की है। लाइये दीजिए।'

देना किसको था। वे तो केवल उन्हें स्वामीजी से भिड़ाना चाहते थे। परन्तु स्वामीजी ने ऐसा उत्तर दिया कि उलटे लेने के देने पड़ गये।[2]

१५. पात्रानुसार उत्तर

भाजन देखकर

स्वामीजी प्रत्युत्पन्नमति वाले व्यक्ति थे। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर जैसे उनके पास तैयार रहता था। एक ही प्रसंग को अनेक प्रकार से समझाने का उनमें विचित्र

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ७५।

२. वही, दृ. ६५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

सामर्थ्य था। वे उत्तर प्रायः समय और व्यक्ति को देखकर देते थे। पाव किलो के भाजन में पांच किलो और पांच किलो के भाजन में पाव किलो पकाने की वृत्ति उन्हें पसन्द नहीं थी। यह भी कहा जा सकता है कि वे उतना ही वैचारिक भोजन परोसने के पक्षधर थे, जिससे भोक्ता को न भूखा रहना पड़े और न अजीर्ण का ही सामना करना पड़े। वास्तव में पात्रानुसार उत्तर देने में वे बड़े निपुण थे।

जितना गुड़, उतना मीठा

सं. १८४५ का चतुर्मास स्वामीजी ने पीपाड़ में किया। वहां एक गैबीरामजी चारण जाति के भक्त रहा करते थे। उनके वहां प्रतिदिन भजन-कीर्तन होता तथा समागत भक्तों को लपसी खिलाई जाती थी। स्वामीजी के विरोधियों ने भिड़ाने की दृष्टि से उनको कहा—'तुम प्रतिदिन भक्तों को लपसी खिलाते हो, उसमें भीखणजी पाप कहते हैं, इस विषय में उनसे पूछकर तो देखो।'

गैबीरामजी उनकी बातों में आ गये। उन्होंने अपना घोटा उठाया और पैरों में घुंघरुओं को धमकाते हुए स्वामीजी के पास आये। उन्होंने पूछा—'भीखण बाबा! मैं भक्तों को लपसी खिलाता हूं, इससे मुझे क्या फल होता है?'

स्वामीजी तत्काल समझ गये कि भिड़ाने की दृष्टि से किसी विरोधी ने इनको बहकाया है। व्रत-अव्रत तथा संयम-असंयम आदि जैन तत्त्वों और मान्यताओं को उन्हें तत्काल समझा पाना संभव नहीं था, अतः स्वामीजी ने प्रसंग को जरा घुमाव देते हुए कहा—'लपसी में जितना गुड़ डालते हो, वह उतनी ही मीठी होती है। उसका मीठापन जैसे गुड़ की मात्रा पर निर्भर है, वैसे ही शुभाशुभ फल भी भावना पर निर्भर है। तुम्हारी भावना जितनी अधिक विशुद्ध होगी, उतना ही अधिक शुभ फल होगा।'

स्वामीजी के उत्तर से वे बहुत प्रसन्न हुए। नाचते हुए बाजार में गये और उन लोगों से बोले—'भीखण बाबा ने बहुत अच्छा उत्तर दिया है।'

विरोधी लोग चकित होकर सोचने लगे कि भीखणजी ने क्षणभर में ही इनको कैसे समझा दिया? क्या उन्होंने पहले से ही घड़ा-घड़ाया उत्तर तैयार कर रखा था?[१]

पांचलड़ा जीव

स्वामीजी पुर में पधारे। वहां मेघजी भाट चर्चा करने के लिए आये। वे कालवादी साधुओं के अनुयायी थे। उन्होंने कहा—'भीखणजी! आपने एक पद्य में कहा है—'एकलड़ो जीव खासी गोता' परन्तु आपकी मान्यता के हिसाब से तो

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वहां 'पांचलड़ो जीव खासी गोता' होना चाहिये, क्योंकि नव पदार्थों में आपने पांच को जीव माना है। तब वह सहज ही पांचलड़ा सिद्ध हो जाता है।'

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—यद्यपि मेरे पद्य में प्रयुक्त 'एकलड़ो' शब्द का अर्थ 'अकेला' ही है, 'इकहरा' नहीं, फिर भी यदि कालवादी उसका अर्थ 'इकहरा' मानकर 'पंचलड़े' का सुझाव देते हैं तो पहले स्वयं उन्हें 'चारलड़ा' जीव होने की अपनी मान्यता घोषित करनी पड़ेगी।

मेघजी—'वह कैसे?'

स्वामीजी—'कालवादी सिद्धों में कितनी आत्मा मानते हैं?'

मेघजी—'चार।'

स्वामीजी—'उन चारों को वे जीव मानते हैं या अजीव?'

मेघजी—'जीव मानते हैं।'

स्वामीजी—'कालवादी सिद्धों में चार आत्मा मानते हैं और उन चारों को जीव मानते हैं, तब 'चोलड़ा' जीव तो उनके कथन से ही सिद्ध हो जाता है। हमारे और उनके कथन में एक लड़ का ही तो अन्तर रहा।'

मेघजी—'आपकी बुद्धि बड़ी गजब की है। हर चर्चा का उत्तर आपके पास तैयार रहता है।'[1]

अभी चर्चा मत करो

आमेट में स्वामीजी का पदार्पण हुआ। वहां पुर के काफी लोग दर्शन करने के लिए आये। परस्पर तत्त्व-चर्चा करते समय एक प्रश्न उठा कि छह पर्याप्ति और दस प्राण जीव हैं या अजीव? कई व्यक्ति उन्हें जीव कहते थे, कई अजीव। कुछ गरम प्रकृति के व्यक्तियों ने उस तत्त्व-चर्चा को विवाद में परिणत कर दिया। जब झगड़ा बहुत तीव्रता पर पहुंच गया, तब किसी समझदार भाई ने उन सब से कहा—'इसका निर्णय हमें स्वामीजी से पूछ कर करना चाहिए।' उसके दबाव देने पर वे लोग स्वामीजी के पास आये, परन्तु वहां भी उन्होंने अपने-अपने पक्ष पर झगड़ा प्रारम्भ कर दिया।

स्वामीजी ने जब देखा कि दोनों ही पक्ष इस समय पूर्ण आग्रह पर हैं, जिज्ञासा किसी को नहीं है, तब उन्होंने कहा—'इस समय दिया गया मेरा उत्तर तुम्हारे में ज्ञान की अपेक्षा जय-पराजय के भाव ही अधिक जगायेगा, अतः इस विषय में अभी मुझे कुछ नहीं कहना है। तुम लोगों के लिए भी यही उचित है कि

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ५०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

मौन हो जाओ और इस संबंध की अभी कोई चर्चा मत करो।' यों समझाकर दोनों पक्षों को शान्त किया और उनका तनाव मिटाया।[1]

अपने प्रश्न को संभालो

स्वामीजी भीलवाड़ा में थे। वहां कुछ व्यक्ति चर्चा करने के लिए आये। उन्होंने पूछा—'भीखणजी! किसी श्रावक ने पाप का सर्वथा त्याग कर दिया हो, तो उसे आहार-पानी देने में क्या हुआ?'

स्वामीजी—'धर्म हुआ।'

आगन्तुक—'आप धर्म कैसे कहते हैं? आपकी श्रद्धा के अनुसार तो श्रावक को देना अव्रत का पोषण है, वह धर्म न होकर पाप ही होना चाहिए।'

स्वामीजी—'तुम पहले अपने प्रश्न को संभाल लो। जिस श्रावक ने पाप का सर्वथा त्याग कर दिया, वह श्रावक न रहकर साधु ही हो गया। साधु को देना अव्रत का नहीं, व्रत का पोषक है।'[2]

आज्ञा दी, वह धर्म है

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—'पौषध करने वाले को अपना मकान दिया, उसे क्या हुआ?'

स्वामीजी—'अपने मकान में पौषध करने की आज्ञा देने वाले को धर्म ही हुआ।'

वह व्यक्ति—'मैं आज्ञा देने की बात नहीं पूछता, मकान देने की बात पूछता हूं?'

स्वामीजी—'पौषध के लिए मकान देने का अर्थ उसका स्वामित्व देना नहीं है। उसका तात्पर्य तो अपने स्थान में पौषध करने की आज्ञा देना ही होता है, और वह धर्म है। स्थान तो परिग्रह है। उसका सेवन करना तथा करवाना धर्म नहीं होता।'[3]

१६. मानव-मन के पारखी

तलस्पर्शी ज्ञान

स्वामीजी मनुष्य के मन में उठने-गिरने वाले भावों को बहुत शीघ्र पकड़ लिया करते थे। आवश्यक होने पर जब-कभी वे किसी की अन्तश्चिन्तित भावना

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २५६।
२. वही, दृ. २०१।
३. वही, दृ. २३७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

को खोलकर बाहर प्रकट कर देते, तब लोग आश्चर्यचकित होकर सोचा करते कि स्वामीजी ने इस रहस्य को कैसे जाना? वस्तुतः वे मानव-मन के एक अनन्य पारखी थे।

किसी भावना का कोई बिन्दु भी यदि उनकी पकड़ में आ जाता तो वे उसी के आधार पर अन्य अनेक बिन्दुओं का अनुमान लगाकर पूरी घटना को जान लेते। उनका प्रत्येक अनुमान प्रायः इतना सत्य निकलता कि देखने-सुनने वाला यही समझता, मानो स्वामीजी ने किसी विशिष्ट ज्ञान से उसे जाना है। उस युग में दूसरे की मनोभावना को परखने में उन जैसा पटु व्यक्ति शायद ही कोई दूसरा रहा हो। उनका ज्ञान सतही नहीं, तलस्पर्शी होता।

दीक्षा का भय

केलवा की एक बहिन अपना बड़प्पन दिखाने के लिए लोगों के सम्मुख बार-बार कहा करती—'इस बार स्वामीजी यहां पधारेंगे, तब मैं उनके पास दीक्षा ग्रहण कर लूंगी।'

कुछ समय के अनन्तर स्वामीजी विहार करते हुए वहां पधार गये। उस बहिन को जब यह पता चला तो ऐसी घबरायी कि सहसा ज्वरग्रस्त हो गयी। सन्ध्या के समय ज्वर कुछ हल्का पड़ा, तब दर्शन करने आयी। थरथराती आवाज में उसने कहा—'स्वामीजी! आपका पदार्पण हुआ और मुझे ज्वर चढ़ आया।'

स्वामीजी को उसकी दीक्षा-सम्बन्धी घोषणा का पता था; अतः उसके मन को पढ़ते हुए पूछा—'कहीं दीक्षा के भय से तो तुझे ज्वर नहीं हो गया है?'

वह बोली—'स्वामीजी! मन में थोड़ी घबराहट तो अवश्य हुई थी।'

स्वामीजी—'तुम्हारा मन इतना निर्बल है, तब दीक्षा लेने की घोषणा क्यों करती रहती हो? दीक्षा कायरों का नहीं, वीरों का मार्ग है।'[1]

जामाता रोने लगे तो?

खैरवा-निवासी चतरोजी ने स्वामीजी से कहा—'मेरे मन में दीक्षा लेने की भावना उठती है।'

स्वामीजी—'तुम्हारा हृदय बहुत कच्चा है। परिवार का मोह भी बहुत गहरा है। जब तक वह नहीं छूटता, दीक्षा कैसे आ सकती है? सम्भव है, दीक्षा की बात चलाते ही तुम्हारे पुत्र रोने लगें और फिर तुम भी उनके साथ-साथ रोने लग जाओ।'

चतरोजी—'स्वामीजी! स्थिति तो यही है। परिवार वालों से जब कभी बिछुड़ने का अवसर आता है, आंखें तो भर ही जाती हैं।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ३६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने उदाहरण दिया—'जामाता गौना कराने ससुराल जाता है, तब विदा के समय माता-पिता आदि से बिछुड़ने के दुःख में लड़की रोने लगती है, पर उसे रोती देखकर जामाता भी रोने लगे, तो जग-हंसाई होती है। इसी प्रकार दीक्षा लेते समय सांसारिक व्यक्ति तो अपना स्वार्थ छूटने पर दुःख करने तथा रोने लगते हैं, पर जिसे दीक्षा लेनी हो—परमार्थ की ओर चलना हो, वह रोने लग जाये तो कितना विपरीत लगे? इसीलिए तुम्हारे जैसा निर्बल हृदय का व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं हो सकता।'[1]

नया कलह मत कर आना

स्वामीजी का चतुर्मास सिरियारी में था। पोतियाबन्द सम्प्रदाय के कपूरजी नामक भाई तथा कुछ बहिनें भी वहीं चतुर्मास कर रही थीं। बहिनों के साथ किसी विषय को लेकर कपूरजी का तनाव हो गया। संवत्सरी आयी, तब 'खमत-खामणा' करने के लिए कपूरजी बहिनों के स्थान की ओर जा रहे थे। स्वामीजी ने उनको देखा, तो पूछ लिया—'कपूरजी! आज इधर कहां जा रहे हो?'

कपूरजी बोले—'बहिनों से तनाव चल रहा था, अतः 'खमत-खामणा' करने जा रहा हूं।'

स्वामीजी—'जा तो रहे हो, परन्तु नया कलह मत कर आना।'

कपूरजी—'पिछले कलह के लिए जब 'खमत-खामणा' करने जा रहा हूं तब नये कलह की क्या बात हो सकती है?'

वे बहिनों के स्थान पर गये और कहने लगे—'मैं तुम लोगों से 'खमत-खामणा' करता हूं। तुमने तो दुष्टता करने में कोई कमी नहीं रखी, पर मुझे राग-द्वेष नहीं बढ़ाना है।'

बहिनों ने कहा—'दुष्टता तुमने की या हमने?'

और फिर उत्तर-प्रत्युत्तर में पहले से भी अधिक झगड़ा हो गया।

कपूरजी वापस आते समय स्वामीजी से बोले—'भीखणजी! कलह तो मिटने के स्थान पर बढ़ ही गया। परन्तु आपको कलह बढ़ाने की पहले ही शंका कैसे हो गयी थी।'

स्वामीजी ने कहा—'तुम्हारा बोलने का जो ढंग है, वह मुझसे छिपा नहीं है।'[2]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ३७।

२. वही, दृ. ८२।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

मुझे ही सत्य किया

मुनि अखैरामजी कुछ अस्थिर परिणामी थे। एक बार उनके विषय में बात करते हुए मुनि खेतसीजी ने स्वामीजी से कहा—'अब तो मुनि अखैरामजी स्थिर हो गये लगते हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'पूरा विश्वास नहीं आता।'

उक्त बात किसी ने मुनि अखैरामजी से कह दी। वे बहुत अप्रसन्न हुए। उसके पश्चात् वे राजनगर चतुर्मास करने के लिए गये। वहां स्वामीजी के अनेक दोष पत्र में लिखे और संघ से पृथक् हो गये? चतुर्मास की समाप्ति पर विहार करते हुए वे उन्हीं गांवों में आये, जहां स्वामीजी थे। उन्हें देखते ही मुनि खेतसीजी वन्दन करने के लिए उठे, तब मुनि अखैरामजी ने कहा—'अब हम परस्पर साम्भोगिक नहीं हैं।'

मुनि खेतसीजी ने धैर्यपूर्वक उन्हें बहुत समझाया, तब वे स्वामीजी के पास आये और आंसू टपकाते हुए बोले—'मुनि खेतसीजी ने तो मेरे प्रति विश्वास व्यक्त किया था, परन्तु आपने अविश्वास व्यक्त किया। उसी से मेरा मन अत्यन्त खिन्न हो गया और मैंने यह भूल कर दी।'

स्वामीजी ने कहा—'मैंने अविश्वास व्यक्त किया था, तो तुम उसे अपने आचरण से मिटाते। पृथक् होकर तो तुमने मुझे ही सत्य सिद्ध किया। सरल-स्वभावी खेतसीजी ने तुम्हारा विश्वास किया, तो उन्हें असत्य सिद्ध होना पड़ा।'

मुनि अखैरामजी स्वामीजी के चरणों में गिर पड़े और अपने सुधार का संकल्प किया। स्वामीजी ने तब उनको पुनः संघ में सम्मिलित कर लिया।[१]

निंदा के लिए तो नहीं

स्वामीजी की मान्यता थी कि संयमी को दान देना मोक्ष-मार्ग है और असंयमी को देना संसार-मार्ग। उक्त तात्त्विक विवेचन को आधार बनाकर विरोधी लोग उन्हें दान-विरोधक या दान-निषेधक कहा करते थे। एक दिन एक व्यक्ति ने सभा में खड़े होकर स्वामीजी से कहा—'मुझे असंयती को दान देने का परित्याग करा दें।'

स्वामीजी ने उसकी अन्तरंग भावना को पढ़ते हुए कहा—'ये प्रत्याख्यान तुम विराग-भाव से करते हो या हमें निन्दित करने की भावना से?'

स्वामीजी के इस अप्रत्याशित प्रश्न ने उसे हड़बड़ा दिया। वह वस्तुतः स्वामीजी के विरुद्ध प्रचार करने के लिए ही वैसा कर रहा था।[२]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ४६।

२. वही, दृ. ११८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

पूछते हैं, वहां नहीं जाते

मुनि चन्द्रभाणजी संघ से पृथक् होकर गांव-गांव में स्वामीजी की निंदा करने लगे। स्वामीजी ने तब उनका पीछा किया और उनके द्वारा फैलाये गये भ्रम को दूर किया। स्वामीजी उनका पीछा न कर सकें, इसीलिए वे मार्ग तो किसी अन्य गांव का पूछते और जाते किसी अन्य गांव में। स्वामीजी जब उनके विहार के विषय में पूछताछ करते, तो लोग कहते, अमुक गांव का मार्ग पूछ रहे थे। स्वामीजी तब उस गांव की ओर न जाकर अनुमान से किसी अन्य गांव की ओर विहार कर देते।

साथ के साधु स्वामीजी से कहते कि उन्होंने जब उस गांव का मार्ग पूछा है, तब आप उसे छोड़कर अन्य गांव की ओर क्यों पधारते हैं?

स्वामीजी कहते—'मैं उनकी चालाकी को जानता हूं। वे हमें भ्रान्त करने के लिए ऐसा करते हैं।'

स्वामीजी का अनुमान ठीक निकलता। वे उसी गांव में आगे तैयार मिलते, जहां स्वामीजी अनुमान से पधारते।[1]

कलह के लिए आये हैं

स्वामीजी ढूंढाड़ के एक गांव में पधारे। वहां दिगम्बर सम्प्रदाय के श्रावक चर्चा करने के लिए आये। उनका कथन था, वस्त्र रखना साधुता में बाधक है। उसका खंडन करते हुए स्वामीजी ने जो तर्क उपस्थित किये, उनका वे कोई प्रत्युत्तर नहीं दे पाये। एक प्रकार से पराजय का भाव लेकर ही वे लोग उस दिन वहां से गये। दूसरे दिन उन्होंने उस पराजय का बदला लेने का विचार किया और बहुत-सारे व्यक्ति एकत्रित होकर आये। एकत्रित होते समय एक-दूसरे की प्रतीक्षा में उन्हें बहुत विलंब हो गया। वे आये, तब स्वामीजी शौचार्थ जाते हुए उन्हें मार्ग में मिले। वे कहने लगे—'हम तो कल की चर्चा का उत्तर देने के लिए आये थे, पर आप पहले ही बाहर की ओर चल दिये।'

स्वामीजी ने उनके बोलने के प्रकार को परखा और आकृति पर उभरे भावों को पढ़ते हुए कहा—'आज तो आप लोग चर्चा के लिए नहीं, किन्तु कलह के लिए उद्यत होकर आये लगते हैं।'

एक व्यक्ति गरम होकर बोल पड़ा—'क्या आपको केवलज्ञान हो गया है, जो ऐसी बात कहते हैं?'

स्वामीजी बोले—'इतना-सा जानने में केवलज्ञान की क्या आवश्यकता है? यह सब तो तुम्हारी मनःस्थिति को देखकर मतिज्ञान से भी जाना जा सकता है।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १६५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उनमें से कुछ सरल व्यक्तियों ने स्वीकारते हुए कहा—'भीखणजी! हमारी मनः-स्थिति को आपने ठीक-ठीक भांप लिया।'[1]

१७. विनोदी स्वभाव

आह्लाद बांटते

स्वामीजी स्वभाव के जितने गम्भीर थे, उतने ही विनोदी भी। समय-समय पर अपने शिष्य-वर्ग से तो विनोदभरी बातें वे करते ही थे, पर जो व्यक्ति उनका निरन्तर विरोध करते रहते थे, उनके साथ भी वे व्यावहारिक स्तर पर मधुर और विनोदपूर्ण वार्तालाप करने में कभी नहीं चूकते थे।

स्वामीजी का विनोद कभी शब्द-प्रधान होता तो कभी घटना-प्रधान। तात्त्विक प्रसंगों को भी कभी-कभी वे अपने विनोद से इतना मधुर बना देते कि सुनने वाले मुदित हो उठते। दैनिक जीवन तथा व्यवहार की साधारण से साधारण घटना को थोड़ा-सा शाब्दिक या भावात्मक मोड़ देकर वे उसे अत्यन्त मनोमुग्धकारी बना दिया करते थे। यही कारण था, उनका जीवन विरोधियों एवं उनके द्वारा खड़ी की गई विविध कठिनाइयों से निरन्तर घिरा होने पर भी नीरस न होकर सदैव सरस रहता था। इसीलिए वे अपने साथ रहने वालों तथा संपर्क में आने वालों को ऊब न बांटकर आह्लाद ही बांटा करते थे।

कितनी मूर्त्तियां ?

स्वामीजी एक बार स्थानक में गये और वहां ठहरे हुए साधुओं से मिले। बातचीत करने के पश्चात् स्वामीजी ने उनसे पूछा—'आप लोग यहां कितनी मूर्त्तियां हैं?'

उन साधुओं ने अपनी संख्या बतला दी। स्वामीजी जरा मुस्कराए और वहां से वापस अपने स्थान पर आ गये।

स्वामीजी की मुस्कराहट ने उन लोगों को शंकाशील बना दिया। तभी वहां उपस्थित एक व्यक्ति ने कहा—'भीखणजी तो तुम्हें 'भगत' (वैष्णव साधु) बना गये।'

स्वामीजी के उस सूक्ष्म विनोद पर वे साधु बड़े चकराये। बदला लेने की दृष्टि से स्वामीजी के पास आकर उन्होंने पूछा—'भीखणजी! आप लोग कितनी मूर्त्तियां हैं?'

स्वामीजी ने हंसते हुए कहा—'वह तो उसी अवसर की बात थी। अब इस

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ३०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

प्रकार अपनी असावधानी का बदला नहीं उतारा जा सकता है। हम तो 'मूर्त्ति' नहीं, इतने साधु हैं।'[1]

ढंढण से कम नहीं

सं. १८५६ के शेषकाल में स्वामीजी देवगढ़ पधारे। स्वामीजी सहित १४ साधु और २४ साध्वियां, कुल २८ 'ठाणे' थे। कुछ दिन पश्चात् स्थानकवासी सम्प्रदाय के ३ साधु भी वहां आ गये। एक दिन गोचरी के समय मार्ग में वे स्वामीजी से मिले और खीझभरी निराशा के स्वर में कहने लगे—'भीखणजी! हम तीन साधुओं को भी पूरा आहार नहीं मिल पा रहा है, तब आप लोगों को—इतने साधु-साध्वियों को आहार कैसे मिलता होगा?'

स्वामीजी ने उनकी निराशा को अपने विनोद से हलका बनाते हुए कहा—'आप लोग ढंढण मुनि से कोई कम थोड़े ही हैं? द्वारिका में सहस्रों साधु-साध्वियों को आहार मिलता था, परन्तु अकेले ढंढण मुनि के ही ऐसा कर्मोदय था कि उन्हें नहीं मिल पाता था।'

स्वामीजी के मुख से विनोद में ही सही, ढंढण मुनि से अपनी तुलना सुनकर वे कृतार्थ हो गये। आहार उनको पूरा न भी मिला होगा, पर स्वामीजी ने उनकी झोली प्रसन्नता से पूरी भर दी थी।[2]

एक अक्षर का अन्तर

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—'आपमें और अमुक सम्प्रदायवालों में कितना अन्तर है?'

स्वामीजी अधिक विवरण में जाना नहीं चाहते थे, अतः बोले—'मात्र एक अक्षर का ही अन्तर है।'

वह व्यक्ति आश्चर्यचकित होकर कहने लगा—'मैंने तो समझ रखा था कि कोई बहुत बड़ा अन्तर होगा, तभी तो वे लोग प्रत्येक स्थान पर आपका तीव्र विरोध तथा खुली निन्दा करते हैं।'

स्वामीजी ने अपने भाव को थोड़ा-सा स्पष्ट करते हुए कहा—'साधु बनकर भी यदि कोई साधुता के नियम न पाले, तो वह असाधु कहलाता है। साधु और असाधु में एक अक्षर का ही तो अन्तर होता है।'[3]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १०२।

२. वही, दृ. ११०।

३. वही, दृ. २१५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आबू गये या नहीं?

पुर में छाजूजी खाभिया स्वामीजी के पास आये। वे मूर्त्तिपूजक आम्नाय के थे। तीर्थक्षेत्रों का माहात्म्य बतलाते हुए उन्होंने स्वामीजी को एक गीतिका सुनायी। उसके एक पद्य में कहा गया था—

आबू गढ़ तीर्थ नहीं जुहार्‌यो, तिण अहल जमारो हार्‌यो।

स्वामीजी ने पूछा—'तुम कभी आबू गढ़ गये या नहीं?'

छाजूजी बोले—'मुझे अभी तक यह सौभाग्य नहीं मिला है।'

स्वामीजी ने कहा—'तब तो आज तक का तुम्हारा जीवन निरर्थक ही गया।'

छाजूजी अपनी निरुत्तरता की खीझ मिटाते हुए बोले—'आपने तो मेरी बात मेरे ही गले में डाल दी।'[१]

जोड़ना अच्छा या तोड़ना?

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—'आप इतनी 'जोड़' (पद्य-रचना) क्यों करते हैं? आपकी ये जोड़ें झगड़ा बढ़ाती हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'एक साहूकार के दो पुत्र थे। उनमें से एक तो संपत्ति जोड़ता था और दूसरा तोड़ता—अपव्यय करता था। अब तुम ही बताओ उन दोनों में जोड़ने वाले को अच्छा कहा जाये या तोड़ने वाले को?'

वह व्यक्ति बोला—अच्छा तो संपत्ति जोड़ने वाले को ही कहा जायेगा।

स्वामीजी ने कहा—'तो फिर तुम जोड़ने वाले को उपालम्भ देने क्यों आये हो?'

और तब उपस्थित व्यक्तियों की सम्मिलित हंसी में उनकी शिकायत वहीं समाप्त हो गई।[२]

बाजोट टूटे तो?

स्वामीजी अन्य सम्प्रदाय के कुछ साधुओं से बात कर रहे थे। उनमें से एक साधु ने अपने सम्प्रदाय की विशेषता की छाप डालने के लिए स्वामीजी से कहा—'हमारे यहां तो सुई टूट जाने पर तेले का प्रायश्चित्त दिया जाता है।'

स्वामीजी कब चूकने वाले थे। वे बोले—'बाजोट टूट जाने पर तो फिर आपके यहां संथारा करवाया जाता होगा?'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २३८।

२. वही, दृ. २४३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी के कथन ने शेखी बघारनेवाले को जहां चुप कर दिया, वहां अन्य सभी को हास्य-निमज्जित कर दिया।[1]

वह पैर सरकाया

मुनि बेणीरामजी अपनी बाल्यावस्था में भी बड़े स्पष्टवादी थे। कभी-कभी तो वे स्वामीजी तक में दोष निकाल देते थे। एक दिन वे स्वामीजी से कुछ दूर सामने ही बैठे थे। स्वामीजी ने उनको छकाने की सोची। उन्होंने उनकी दृष्टि को बचाकर भूमि-प्रतिलेखन किया और पार्श्वस्थित सन्तों से यह कहते हुए पैर को आगे सरकाया कि देखें, अब बेणा क्या कहता है?

मुनि बेणीरामजी ने उसी समय उधर देखा और बोल उठे—'वह स्वामीजी ने अयत्ना से पैर सरकाया है।'

स्वामीजी तथा वहां उपस्थित सभी साधु हंस पड़े। स्वामीजी ने कहा—'बेणा की तीक्ष्ण दृष्टि भी आज चूक गई।'

मुनि बेणीरामजी ने तब क्षमा मांगकर अपनी झेंप मिटाई।[2]

काचरी की कमी

मुनि हेमराजजी दीक्षित होने को तैयार हुए, तब एक व्यक्ति ने स्वामीजी से कहा—'हेमजी दीक्षा को तैयार तो हुए हैं, परन्तु उनमें तमाखू पीने का व्यसन है। जब तक वे उसे नहीं छोड़ देते, उन्हें दीक्षित नहीं करना चाहिए।'

स्वामीजी ने कहा—'काचरी की कमी से कोई विवाह थोड़े ही रोका जाता है?'[3]

सूत्र-व्यतिरिक्त

एक बार मुनि बेणीरामजी ने मुनि हेमराजजी की शिकायत करते हुए स्वामीजी से कहा—'हेमजी को कोई भी व्याख्यान अस्खलित रूप से कण्ठस्थ नहीं है। जहां अटकते हैं, वहां मनमाने ढंग से जोड़कर गा देते हैं, यह अच्छा नहीं है।'

स्वामीजी ने बात को विनोद की ओर मोड़ते हुए कहा—'केवली सदा सूत्र-व्यतिरिक्त ही होते हैं। वे जो बोलते हैं, वही सूत्र बन जाता है।'[4]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २८२।

२. वही, दृ. १६२।

३. वही, दृ. १६७।

४. वही, दृ. १६५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

खोटा काम

पीपाड़ में आचार्य रुघनाथजी के एक शिष्य मुनि जीवणजी स्वामीजी से मिले। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा—'साधु का भोजन करना अव्रत-सेवन है।'

स्वामीजी साधु के भोजन को अव्रत-सेवन नहीं मानते थे, क्योंकि वह रस-लोलुपता या केवल शरीर-पोषण के लिए न होकर संयम-पोषण के लिए होता है। उन्होंने कहा—'भगवान् अव्रत-सेवन की आज्ञा नहीं देते। साधु को भोजन करने की आज्ञा उन्होंने दी है, अतः वह अव्रत-सेवन कैसे हो सकता है?'

मुनि जीवणजी—'भीखणजी! आप चाहे कुछ भी कहें, वस्तुतः भोजन का त्याग ही अच्छा होता है, भोजन करना नहीं।'

स्वामीजी—'साधु के भोजन को अच्छा कार्य नहीं मानोगे, तो क्या खोटा कार्य मानोगे?'

मुनि जीवणजी—'प्रत्यक्ष ही खोटा है।'

स्वामीजी ने इस पर उन्हें कुछ भी नहीं कहा और वे अपने स्थान पर चले गये। उसके पश्चात् कभी गोचरी करते समय और कभी शौचार्थ जाते-आते वे प्रायः स्वामीजी को मिल ही जाया करते थे। वे जब मिलते, तब कभी-कभी विनोद में स्वामीजी पूछते—'क्यों जीवणजी! खोटा काम कर आये हो या जाकर करोगे?'

मुनि जीवणजी को स्वामीजी के उक्त प्रश्न का प्रत्येक बार उत्तर देना बड़ा कठिन हो गया। उनके श्रावक ही उनसे पूछने लगे—'भीखणजी आप से खोटे काम के विषय में क्या पूछ रहे थे?'

अन्त में एक दिन जब वे स्वामीजी से मिले, तो उनके पूछने से पूर्व ही बोले— 'भीखणजी! साधु का भोजन खोटा काम न होकर अच्छा काम ही है।'

स्वामीजी मुस्कराये और बोले—'तब ठीक है।'[१]

दिये हुए 'डाम'

पीपाड़ के एक भाई ने स्वामीजी के पास गुरु-धारणा की। उसके घरवालों को पता लगा, तो वे तरह-तरह से उसे तंग करने लगे और धमकियां देने लगे। कोई कहता—भीखणजी ने इसे गुरु-धारणा क्या कराई है, 'डाम' लगाये हैं। कोई कहता—अब यह दागी हो गया है, अतः हमारे घर में रहने योग्य नहीं है। सब मिलकर उस पर दबाव डालने लगे कि यदि हमारे साथ सुख से रहना है, तो भीखणजी के पास की गई गुरु-धारणा उन्हें वापस दे आ।

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

विवश होकर वह भाई स्वामीजी के पास आया और कहने लगा—'स्वामीजी! मेरे परिवार वाले मुझे कहते हैं कि भीखणजी ने इसके 'डाम' लगा दिये हैं। वे नाना प्रकार से मुझे कष्ट भी देते हैं, अतः आप अपनी गुरु-धारणा वापस ले लें।'

स्वामीजी ने कहा—'तू उनसे ही पूछ ले, क्या भला दिये हुए 'डाम' कभी वापस लिए जा सकते हैं?'[१]

महापुरुष अब भी खाते हैं

अपने-आपको विरागी और तपस्वी मानने वाले स्थानकवासी मुनि कुशलोजी और तिलोकजी ने स्वामीजी से कहा—'साधु को लड्डू आदि सरस पदार्थ तथा घी, दूध आदि गरिष्ठ पदार्थ खाने नहीं कल्पते। उसे कौन-से बच्चे पैदा करने हैं, जो ऐसी वस्तुएं खाये?'

स्वामीजी—'देवकी के पुत्रों ने गोचरी में मोदक (लड्डू) ग्रहण किए थे। ऐसा आगमों में वर्णन आया है, तब तुम कैसे कह सकते हो कि साधु को लड्डू खाना नहीं कल्पता?'

कुशलोजी—'वे तो महापुरुष थे। उनकी क्या तुलना हो सकती है?'

स्वामीजी—'ठीक है, ठीक है। तुम नहीं खा सकते। जो महापुरुष होते हैं, वे तो अब भी खाते ही हैं।'[२]

नगजी का तत्त्व-ज्ञान

केलवा के नगजी नामक भाई अचक्षु थे। बुद्धि भी बहुत कम थी। वीरभाणजी वहां रहकर आये, स्वामीजी से बोले—'नगजी को मैंने तत्त्व-ज्ञान सिखाकर सम्यक्त्वी बना दिया है।'

स्वामीजी ने कहा—'उसकी तो ऐसी बुद्धि ही नहीं थी। तुमने उसको क्या तत्त्व-ज्ञान सिखाया?'

वीरभाणजी—'ओलखणा दोरी भवि जीवां' यह ढाल और 'नन्दन मणियारे का व्याख्यान' सिखाया है।'

कुछ समय पश्चात् स्वामीजी केलवा पधारे, तब नगजी भी दर्शन करने आये। स्वामीजी ने उनसे पूछा—'नगजी! तुमने जो 'नन्दन मणियारे का व्याख्यान' सीखा है, उसमें 'मणिया' सोने का है अथवा लकड़ी या रुद्राक्ष का?'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ११६।

२. वही, दृ. ७५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

नगजी—'स्वामीजी! यह तो आगमों में आया है, अतः सोने का ही होगा, लकड़ी या रुद्राक्ष का तो क्या होगा!'

स्वामीजी ने फिर पूछा—'ओलखणा' की ढाल में आया है—'साधवियां नै जड़णो चाल्यो' यहां ये 'धवियां' (धमनी) कौन-सी हैं? गाड़ी-लुहारों वाली छोटी हैं अथवा स्थानीय लुहारों वाली बड़ी।'

नगजी—'आगमों में आई हैं, अतः छोटी कैसे हो सकती हैं, ये तो बड़ी ही हैं।'[1]

१८. गहरे व्यंग्य

पैनी मधुरता

स्वामीजी बहुधा उदाहरणों तथा दृष्टान्तों आदि से अपना मन्तव्य समझाते थे। कभी-कभी उनके कथन में गहरा व्यंग्य भी हुआ करता था। अपने छोटे-से व्यंग्य में वे इतना-कुछ कह जाते कि फिर अन्य-कुछ कहने को स्थान ही नहीं रह पाता। अपने कथन को व्यंग्य की भाषा में वे प्रायः तभी कहते, जब उन्हें किसी की कटु भाषा का उत्तर मधुरता में देना होता, परन्तु उनकी वह मधुरता इतनी पैनी होती कि उससे कटुता भी स्वयं कट कर रह जाती। कभी-कभी उनकी व्यंग्य-भाषा तब स्फुटित होती, जब संक्षेप में ही किसी का मुंह बन्द करना होता। किसी का झूठा विश्वास या गलत स्वभाव छुड़ाने में तथा वास्तविकता को भांपने के लिए भी वे व्यंग्य का प्रयोग कर लिया करते थे।

दोनों ही सत्य हैं

स्वामीजी के समय में स्थानकवासी सम्प्रदाय में अनेक 'टोले' थे। बाईस टोले तो केवल एक धर्मदासजी महाराज के ९९ शिष्यों के ही हो गये थे। स्वामीजी के समय तक तो वह संख्या और भी बढ़ गई थी। उनमें परस्पर इतना विरोध चलता था कि वे एक-दूसरे को साधु नहीं मानते थे। एक टोले का साधु दूसरे टोले में आता तो उसे नई दीक्षा दी जाती थी।

इसी विषय में किसी ने स्वामीजी से कहा—'अमुक-अमुक टोले वाले परस्पर एक-दूसरे को झूठा कह रहे हैं।'

स्वामीजी ने संक्षेप में कहा—'इस विषय में तो दोनों ही सत्य हैं।'[2]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २२०।

२. वही, दृ. ७६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

यह कला किससे सीखी ?

स्वामीजी एक बार आचार्य अमरसिंहजी के स्थानक में पधारे। वहां दरवाजे के एकदम पास ही 'खेजड़ा' उगा हुआ देखकर स्वामीजी ने आचार्य अमरसिंहजी से पूछा—'रात को परिष्ठापन आदि के लिए जाते समय इसकी दया कैसे पलती होगी ?'

पास में ही खड़े उनके शिष्य ने मुंह बनाकर स्वामीजी की नकल उतारते हुए उसी वाक्य को फिर से दुहराया। स्वामीजी ने उसके ठहरते ही पूछा—'यह कला तुमने स्वयं ही सीखी या गुरु ने सिखलाई ?'

गुरु अमरसिंहजी कट कर रह गये। शिष्य को वहां से चले जाने का कहते हुए उन्होंने स्वामीजी से कहा—'यह तो मूर्ख है। इसने जो किया उसे मन में मत रखना।'[1]

दुःखी की रात

स्वामीजी ने सं. १८४५ का चतुर्मास पीपाड़ में किया। वहां रात्रिकालीन व्याख्यान में जनता बहुत एकत्रित होने लगी। व्याख्यान का रस ही कुछ ऐसा था कि लोग सुनते हुए अघाते ही नहीं थे। विरोधी व्यक्तियों ने लोगों को रोकने के अनेक उपाय किये, पर सफलता नहीं मिली। उन्होंने तब यह प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया कि इनके व्याख्यान में सवा प्रहर, डेढ़ प्रहर तक रात्रि व्यतीत हो जाती है। अर्द्ध-रात्रि तक हल्ला मचाना कहां की साधुता है ?

विरोधियों का उक्त कथन किसी ने आकर स्वामीजी को बतलाया तो उन्होंने फरमाया—'दुःखी व्यक्ति को रात लम्बी ही लगा करती है।'

कथन का हार्द नहीं समझ पाने के कारण उस भाई ने पूछा—'स्वामीजी ! वह कैसे ?'

स्वामीजी ने कहा—'किसी के घर पर विवाह आदि उत्सव होता है तो समय का पता ही नहीं लगता। पूरी रात यों ही बीत जाती है, मानो कुछ ही घण्टे व्यतीत हुए हों। परन्तु किसी के घर पर सन्ध्या होते ही किसी की मृत्यु हो गई हो तो उस शोक-विह्वल परिवार को वह रात्रि युग जैसी लम्बी लगने लगती है।' अपने कथन का उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा—'व्याख्यान तो प्रहर रात्रि तक ही होता है, परन्तु जिनके मन में जनता के आगमन का दुःख है, उन्हें वह समय डेढ़-दो प्रहर जितना लम्बा लगता है।[2]

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ६३।

२. वही, दृ. १८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

झालर और कुत्ता

पीपाड़ चतुर्मास में व्याख्यान के समय कुछ विरोधी लोग सभास्थल के आस-पास बैठ जाते। कभी वे परस्पर जोर-जोर से बातें करते, तो कभी स्वामीजी की निंदा। उनके उस व्यवहार की आलोचना करते हुए एक भाई ने स्वामीजी से कहा—'ये कैसे व्यक्ति हैं, जो व्याख्यान तो नहीं सुनते और इधर-उधर बैठकर निन्दा करते हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'स्वभाव से विवश हैं। उन्हें पता ही नहीं है कि वे ज्ञान-प्राप्ति का एक अवसर खो रहे हैं। झालर बजने लगती है तब कुत्ते स्वभाववश रोने लगते हैं। वह किसी के विवाह पर बजाई जा रही है यां मृत्यु पर, इतना समझ पाने योग्य विवेक उन बेचारों के पास होता ही नहीं।'[१]

ठूंठ को नहीं

पीपाड़ में स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे। जनता बहुत थी। विरोधी सम्प्रदाय के मुख्य व्यक्ति ताराचन्दजी संघवी वहां आए और स्वामीजी के सम्मुख ही व्याख्यान सुनने वालों को लताड़ते हुए बोले—'तुम लोग भीखणजी का व्याख्यान सुनते हो, तुम्हें शीतदाह लग जाएगा।'

स्वामीजी ने कहा—'कम से कम तुम तो उससे सुरक्षित हो, क्योंकि 'शीत-दाह' हरे वृक्षों को ही जलाता है, ठूंठ को नहीं।'[२]

सर्वाधिक आघात

पीपाड़ के चतुर्मास में बहुत लोग सम्यक्त्वी बने। उनमें एक अत्यन्त प्रतिष्ठित और तत्वज्ञ श्रावक जग्गूजी गांधी भी थे। उनके मत-परिवर्तन से विरोधी सम्प्रदाय को बहुत बड़ा आघात लगा। उनके मित्र खेतसीजी लूणावत के लिए तो वह असह्य-सा हो गया।

एक भाई ने स्वामीजी से कहा—'जग्गूजी का आघात तो बहुत लोगों को लगा, पर खेतसीजी को वह इतना तीव्र लगा कि रात-दिन उन्हीं की चिंता करते रहते हैं।'

स्वामीजी ने उनकी मित्रता की ओर संकेत करते हुए कहा—'परदेश से किसी की मृत्यु के समाचार आते हैं तब चिन्तातुर तो अनेक होते हैं, पर पत्नी को जो आघात लगता है, वैसा अन्य किसी को नहीं।'[३]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १९।

२. वही, दृ. २८।

३. वही, दृ. १७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

रुपयों के श्रावक

एक बार पाली में बहुत लोग समझे और तेरापंथी बने। विरोधियों ने उस विषय में प्रचार किया कि विजयचन्दजी पटवा रुपये दे-देकर इन लोगों को तेरापंथी बना रहे हैं।

स्वामीजी ने जब उक्त बात सुनी तो कहा—'जब रुपयों के लिए उनके श्रावक तेरापंथी बन जाते हैं तो उन्होंने उस मार्ग को समझा ही कहां था? यदि ये सब रुपये लेकर ही समझे हैं, तो किसी के अवशिष्ट रहने की आशा भी उन्हें नहीं करनी चाहिए, क्योंकि रुपये मिलने पर वे भी आ सकते हैं।'[1]

गांव के निकट खेत

सं. १८५३ में स्वामीजी ने अपना चतुर्मास सोजत में किया। वहां काफी लोग श्रद्धालु बने। उस कार्य की प्रशंसा करते हुए एक व्यक्ति ने कहा—'स्वामीजी! यहां उपकार बहुत अच्छा हुआ। इतने लोगों के समझने की तो आशा ही नहीं थी।'

स्वामीजी बोले—'खेती की तो है, पर वह गांव के निकट और मार्ग पर है, अतः घुसपैठ से बचा पाना जरा कठिन है।'[2]

नगजी का तेज

एक बार स्वामीजी करेड़ा पधारे। वहां के कुछ व्यक्तियों ने स्वामीजी को बतलाया कि यहां मुनि नगजी रहते हैं। वे बड़े तेजस्वी हैं।

स्वामीजी ने जिज्ञासा की—'ऐसा क्या तेज देखा?'

लोग बोले—'एक कुत्ती उन्हें देखकर बहुत भौंका करती थी। कई दिनों तक तो उन्होंने यह समझकर प्रतीक्षा की कि प्रतिदिन देखते-देखते परिचित हो जाएगी, तब भौंकना अपने-आप बंद कर देगी। परन्तु वह नहीं मानी और पूर्ववत् ही भौंकती रही। तब एक दिन उन्होंने उसकी टांग पकड़ी और घुमाकर दूर फेंक दिया। उस दिन के पश्चात् कुत्ती ने भौंकना तो बंद कर ही दिया, पर उन्हें देखते ही भागकर कहीं छिप जाती है।'

स्वामीजी मुस्कराये और पूछने लगे—'कुत्ती जिस स्थान पर गिरी, उसका प्रतिलेखन तो पहले कर ही लिया होगा?'

स्वामीजी का यह व्यंग्यपूर्ण प्रश्न सुनकर वे लोग झुंझला उठे और बोले—'आप तो प्रत्येक कार्य में दोष ही खोजते रहते हैं।'[3]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २३४।
२. वही, दृ. २१
३. वही, दृ. ५४

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

कसाई से भी बुरे

विरोधी सम्प्रदाय के एक साधु ने स्वामीजी के विषय में कहा—'भीखणजी तो करोड़ कसाइयों से भी कहीं अधिक बुरे हैं।'

स्वामीजी ने जब यह सुना तो कहने लगे—'वे लोग अपने हिसाब से ठीक ही कहते हैं। कसाई केवल बकरों को मारता है। वह उनका कुछ नहीं बिगाड़ता, परन्तु मैं उनके मन्तव्यों का खण्डन करता हूं और उनके श्रावकों को अपना अनुयायी बना लेता हूं। इस स्थिति में यदि वे मुझे कसाई से भी बुरा कहकर अपना दुःख कुछ हल्का कर लेते हैं, तो मेरा इसमें क्या बिगड़ता है?'[1]

पत्र उड़ गया तो?

स्वामीजी पुर में विराज रहे थे। उन्हीं दिनों स्थानकवासी गुलाब ऋषि भी वहां आ गये। वे स्वयं को बड़ा आगमज्ञ समझते थे। बत्तीस ही सूत्र अपने पास रखते थे। एक बार वे चर्चा करने के लिए स्वामीजी के पास आये।

स्वामीजी ने उनके ज्ञान की क्षमता को टटोलते हुए पूछा—'पांच महाव्रतों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव क्या हैं?'

गुलाब ऋषि ने अपने मस्तिष्क को काफी घुमाया, परन्तु कुछ भी स्मरण नहीं आया। खिसियाने होकर बोले—'यह सब तो मेरे पास पत्र में लिखा पड़ा है।'

स्वामीजी ने कहा—'साधुत्व पत्र पालता है या आप? यदि पत्र फट गया या उड़ गया तो?'

गुलाब ऋषि निरुत्तर होकर चुपचाप वहां से चल दिए।[2]

मूल ज्ञान आ गया

संघ की सुव्यवस्था के अभाव में उस समय अनेक धूर्त व्यक्ति मुनि-वेष पहन कर जनता को धोखा देते और अपना उल्लू सीधा किया करते। स्वामीजी के विरोध की लहर चली, तब उस बहती गंगा में उन्होंने भी खूब हाथ धोये। लोगों की बुद्धि पर द्वेष का ऐसा परदा पड़ा हुआ था कि स्वामीजी की निन्दा में दो शब्द कहकर कोई भी उनके लिए पूज्य बन सकता था। विरोधी लोगों की उस गहन अज्ञता पर स्वामीजी करारी चोट करते रहते थे। एक बार उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा—'एक भांड साधु का वेष पहन कर गांव में आया। लोगों ने पूछा—'आप किस टोले से हैं?'

'वह बोले—'डूंगरनाथजी के टोले का।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. ८४।

२. वही, दृ. ९०

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

'आप का नाम?'

'पत्थरनाथ।'

'क्या कुछ ज्ञानाभ्यास किया है?'

'पढ़ा तो विशेष नहीं, पर इतना अवश्य जानता हूं कि हम अच्छे और तेरापंथी बुरे हैं।'

'लोग बोले—'तब मूल ज्ञान आपको आ गया।'

'और फिर वे सब 'मत्थएण वंदामि' कहकर चरणों में झुक गये।'

स्वामीजी ने उपसंहार करते हुए कहा—'ऐसे मतान्ध व्यक्ति जहां हों, वहां न्याय तथा सत्यासत्य के निर्णय की क्या आशा की जा सकती है?'[1]

महात्मा-धर्म

पुर में स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे। धर्म का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा— 'आगम में श्रमण-धर्म के दश भेद बतलाये हैं।'

जयचन्दजी विराणी, जो कि यति आम्नाय को मानने वाले थे, बीच में बोल पड़े— 'श्रमण-धर्म के नहीं, यति-धर्म के।'

स्वामीजी ने तत्काल कहा—'तुम उन्हें महात्मा-धर्म के भेद भी कह सकते हो।'

स्वामीजी का उक्त कथन सुनकर जयचन्दजी चुप हो गये, क्योंकि उस समय जो यति घर बसा लेते थे, वे अपने आपको 'महात्मा' कहा करते थे। स्वामीजी का संकेत भी उसी ओर था, जबकि मूलतः श्रमण, यति और महात्मा पर्यायवाची शब्द हैं।[2]

गधे पर बिठाएं तो

एक व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—'मार्ग में चलते-चलते कोई साधु थक जाए और उसी समय उधर जाने वाली कोई बैलगाड़ी सहज रूप से आ जाए तो उस पर बिठाकर साधु को ले आने में क्या दोष है?'

स्वामीजी ने कहा—'मान लो, गाड़ी नहीं आई, किन्तु गधा आ गया, तो उस पर बिठाकर ले आना कैसा रहे?'

वह व्यक्ति झल्लाकर बोला—'आप गधे की बात बीच में क्यों लाते हैं? मैं गाड़ी की पूछ रहा हूं।'

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १५१।

२. वही, दृ. १२३

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी ने कहा—'अहिंसा की दृष्टि से साधु के लिए दोनों ही अकल्पनीय हैं, अतः किसी पर बिठाकर लाया जाये, क्या अन्तर पड़ता है?'[1]

मेरणियां और दीक्षा

कंटालिया के एक भाई ने स्वामीजी से कहा—'मेरे दीक्षा ग्रहण करने के भाव हैं, किन्तु माता के प्रति अत्यन्त मोह होने के कारण जब तक वे जीवित हैं, तब तक तो दीक्षा ली नहीं जा सकेगी।'

कुछ वर्षों पश्चात् जब उसकी माता गुजर गई, तब स्वामीजी ने उससे पूछा—'दीक्षा के लिए तेरी भावना थी न? अब तो तेरी माता भी गुजर चुकी है। फिर विलम्ब किसलिए करता है?'

वह भाई बोला—'स्वामीजी! मां तो गुजर गई, पर अब तो एक और अड़चन आ गई है। मैं पहाड़ी गांवों में व्यापार करता हूं। वहां 'मेर' बसते हैं। मेरा मोह कुछ मेरणियों से हो गया है। सोचता हूं, कुछ ठहर कर ही दीक्षा लूंगा।'

स्वामीजी उसकी दुर्बलता को लक्ष्य कर बोले—'माता तो एक ही थी, पर ये मेरणियां तो बहुत हैं। कब वे मरेंगी और कब तुझे दीक्षा आयेगी? ऐसी निर्बल मनोदशा वाले को दीक्षा की आशा नहीं करनी चाहिए।'[2]

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १५३।

२. वही, दृ. ४३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

:६:

महान् साहित्य-सर्जक

साधना का साहित्य

स्वामी भीखणजी जहां तेरापंथ के आद्य प्रवर्त्तक थे, वहां तेरापंथ के साहित्य-क्षेत्र में भी आद्य पुरुष थे। यद्यपि उनको अपने साधना-काल में भारी संघर्षों की घाटियों से गुजरना पड़ा था, परन्तु वे उस सारे समय में पग-पग पर मुंह बाये खड़ी विपरीतताओं का डटकर सामना करते हुए आगे बढ़ते रहे। इतने पर भी उन्होंने अपने जीवन-रस को निरर्थक कभी नहीं बहने दिया। विरोध में शक्ति का अपव्यय करने की अपेक्षा उन्होंने उसे रचनात्मकता की ओर मोड़ दिया। विरोध में खड़े लोगों ने जब आक्षेप किये, निंदा की और आवेशपूर्ण हो-हल्ला मचाया, तब स्वामीजी ने शान्तभाव से उनके उत्तर में आगम-मंथन किया। फलतः नवनीत-रूप में उन्हें जो निष्कर्ष प्राप्त हुए, उन्हीं को आधार बनाकर उन्होंने साहित्य-सर्जन किया। उनके उस कार्य से विरोध को तो सटीक उत्तर मिला ही, पर उससे भी महत्त्वपूर्ण फल यह हुआ कि संसार को इतना गंभीर और खोजपूर्ण साहित्य उपलब्ध हुआ।

स्वामीजी के साहित्य में पांडित्य के स्थान पर सहजता के दर्शन ही अधिक होते हैं। वे अपने युग के एक महान् संत थे। कबीर जैसी निर्भयता और फक्कड़पन उनके जीवन में सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। ऐसे संतों की साहित्य-साधना वस्तुतः सत्य की ही साधना होती है। इसीलिए स्वामीजी की सहज वाणी से निःसृत साहित्य-धारा सत्य से ही अनुप्राणित है। इसी अर्थ में वह अपने-आप में पूर्ण भी है। स्वामीजी के साहित्य का मूल आधार सत्य का उद्घाटन तथा जन-मानस को आदर्श की ओर उत्प्रेरित करना रहा। यही कारण है कि उसे प्रकाश-किरणों के समान सहस्रों-सहस्रों मनुष्यों के मानस-कमलों को विकस्वर करने में साफल्य प्राप्त हुआ। स्वामीजी के साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन-मनन करने वालों को अवश्य ही यह अनुभव होगा कि उनके उस उपक्रम को 'साहित्य की साधना' से कहीं अधिक 'साधना का साहित्य' कहना संगत होगा।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जन-भाषा में

स्वामीजी मारवाड़ के थे। उनका विहार-क्षेत्र भी मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़ तथा हाड़ोती आदि ही प्रमुख रूप से रहा। ये सब मारवाड़ के ही संलग्न क्षेत्र हैं। वर्तमान में तो ये सब राजस्थान प्रांत के ही अंगभूत हो चुके हैं। इन सबकी भाषा कुछ आंचलिक भेदों को छोड़कर एक ही है। उस समय उसे 'मारवाड़ी बोली' कहा जाता था और आज 'राजस्थानी भाषा' कहा जाता है। स्वामीजी ने अपनी रचना का माध्यम उसी जन-भाषा को बनाया। जन-भाषा को महत्त्व देने की परम्परा जैन श्रमणों में प्रारम्भ से ही रही है। स्वयं भगवान् महावीर ने अपने समय की जन-भाषा प्राकृत—अर्धमागधी को ही अपने उपदेशों का माध्यम बनाया था। उसी परम्परा के अनुसार स्वामीजी ने भी आबाल-वृद्ध के उपकारार्थ ऐसी सरल भाषा में साहित्य-रचना की कि अल्पज्ञ भी उसे सरलतापूर्वक हृदयंगम कर सकता है।

स्वामीजी का दृष्टिकोण तत्त्व एवं अध्यात्म की गहराइयों में लगा हुआ था, इसलिए उनके साहित्य में भी तत्त्व, आचार और अध्यात्म आदि का निरूपण ही प्रमुख रूप से है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि उसमें रस-तत्त्व का पूर्ण अभाव ही है। वह भी प्रचुरता से विद्यमान है, परन्तु अपने सर्जक द्वारा प्रदत्त सीमाओं के अन्दर। उनके व्याख्यान-साहित्य में अनेक ऐसे मार्मिक प्रसंग हैं जहां धार्मिकता की गोद में किलकारियां भरते हुए रस-तत्त्व का आनन्द लिया जा सकता है। उनकी कृतियों में शांतरस की प्रधानता है। अन्य रसों के प्रवाह को भी उन्होंने अन्तिम परिणति के रूप में शांतरस की ओर ही मोड़ने का प्रयास किया है। उनका साहित्य भाषाशास्त्र और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है, लाक्षणिक दृष्टि से चाहे उसका उतना महत्त्व न भी हो।

इतना सब-कुछ होने पर भी यह स्पष्ट है कि स्वामीजी की वाणी का सामर्थ्य उनके भाषा-सौष्ठव या रसात्मकता के कारण नहीं, किन्तु उनके उत्कृष्ट अध्यात्म-बल, उदात्त संयम और उत्कट लोक-कल्याण की भावना के कारण था। इन्हीं विशेषताओं को उनकी पूंजी कहा जा सकता है। इन्हीं के बल पर उन्होंने जन-मानस में निर्द्वन्द्व प्रवेश पाया था।

जन-उद्बोधन के लिए

स्वामी भीखणजी एक सिद्धपुरुष थे। 'स्वान्तः सुखाय' साहित्य-रचना करने की उन्हें कोई आवश्यकता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसीलिए कहा जा सकता है कि उन्होंने जो भी लिखा, वह मुख्यतः जन-उद्बोधन के लिए था। वस्तुतः उस समय की वह एक अनिवार्य आवश्यकता भी थी। वे अपने समय के एक महान् ऋषि थे। ऋषि स्वप्न द्रष्टा और तत्त्व-द्रष्टा—दोनों होता है, तभी वह मंत्र-द्रष्टा बन सकता है। उन्होंने धर्म-विशुद्धि का एक स्वप्न देखा। उसे अपने ही आत्म-

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

बलिदान के आधार पर पल्लवित और पुष्पित करके फलित भी किया। उसका बीज-वपन उन्होंने तत्त्व-दर्शन की उर्वरा भूमि में किया। तत्त्व-शून्य थोथी धरती पर किसी भी स्वप्न का वृक्ष बद्धमूल नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने स्वयं अपने जीवन में धार्मिकता का जो मूल रूप उतारा, उसी से उद्भूत अनुभवों के सार को उन्होंने जनोद्धार के लिए शब्द-बद्ध किया। इसीलिए उनका हर कथन सत्यानुभूति के अमृत-कुंड से निकला हुआ अनुच्छिष्ट अमृत बिन्दु-सा मोहक और प्राणदायी बन गया। लयबद्ध शब्दों में आबद्ध उनकी उस वाणी का केवल धार्मिक महत्त्व ही नहीं, साहित्यिक महत्त्व भी है। सत्यानुभूति की उपयुक्त अभिव्यक्ति ही तो साहित्य है। वही साहित्यकार अपने कर्त्तव्य का यथावत् पालन कर सकता है जो अपनी अनुभूति को प्रामाणिकता एवं कलात्मकता के साथ अभिव्यक्ति प्रदान करता है। स्वामीजी ने यही कार्य किया था।

बाण की तरह

लोग स्वामीजी की पद्यबद्ध वाणी को 'स्वामीजी के बाण' कहकर पुकारते हैं। लोगों के उस कथन में वास्तविकता भी है, क्योंकि उनके बहुत-सारे पद्य वस्तुतः अनाचार, कदाचार और शिथिलाचार पर बाण की तरह ही बड़ी करारी चोट करते हैं। स्वामीजी ने अपनी इस पद्धति को कभी नकारा नहीं, वे तो बड़ी स्पष्टता के साथ उसे स्वीकार करते हैं।

एक बार किसी ने स्वामीजी से पूछा—'इतने तीखे पद्य लिखने तथा इतने तीखे उदाहरण देने के पीछे आपका उद्देश्य क्या है?' स्वामीजी ने उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'शिथिलाचार बहुत गहराई तक व्याप्त हो गया है। यह अब सामान्य सुझावों तथा उपदेशों से मिटने वाला नहीं है। जिस प्रकार गंभीर वात का रोग साधारण औषधोपचार से नहीं मिटता, उसके लिए तो 'दागना' ही एकमात्र उपचार होता है। मेरी ये तीखी बातें उनका मन दुखाने के लिए नहीं, किन्तु उनके अन्तरंग को झकझोरने के लिए हैं।' वास्तविकता भी यही है। कोई वैद्य यदि रोगी को कड़वी औषधि देता है तो वह उसको पीड़ित करने के लिए नहीं, किन्तु अनन्योपाय होकर उसके कठिन रोग को शमन करने के लिए ही देता है।

स्वामीजी का साहित्य एक ऐसा दर्पण है जिसमें तत्कालीन जैन समाज के मानसिक उद्वेलनों के प्रतिबिम्बों का स्पष्ट निरीक्षण-परीक्षण किया जा सकता है। उस समय का समाज, विशेषकर साधु-समाज, आचार-विषयक शिथिलता के सोपान उतरता हुआ क्रमशः नीचे, और नीचे चला जा रहा था। मार्गदर्शकों के उस शैथिल्य का अनुभव करता हुआ श्रावक-समाज किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता के अजगर की गुंजलक में फंसा हुआ कुंठाग्रस्त होता जा रहा था। स्वामीजी अपने साहित्यिक शंखनाद से साधु-समाज एवं श्रावक-समाज को उद्बुद्ध कर धार्मिक विशुद्धि की

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

ओर ले जाना चाहते थे। उनके प्रत्येक ग्रंथ के पद्यों में यही ध्वनि विविध लयों में सुनाई देती है। वे जानते थे कि सदोष धार्मिकता धर्म के साथ-साथ धार्मिक का भी विनाश कर डालती है।

आगमवाणी भी इस विचार का पूर्ण समर्थन करती है। वहां कहा गया है :

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसे व धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो।।[1]

'पीया हुआ कालकूट विष, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और अनियंत्रित प्रेत जैसे विनाशकारी होते हैं, वैसे ही सदोष धर्म भी विनाशकारी होता है।'

बाण की तरह सनसनाते हुए स्वामीजी के पद्य धार्मिकता की सदोषता को वेध डालने में पर्याप्त सफल रहे। आज भी सहस्रों-सहस्रों व्यक्तियों को वे कंठस्थ हैं और धार्मिक क्षेत्र में निर्दोषता बनाये रखने की प्रेरणा देते हैं।

आदिस्रोत की कहानी

प्रत्येक भारतीय भाषा संत-साहित्य से अनुप्राणित होती रही है। राजस्थानी भाषा को जिन अनेक संत-पुरुषों की वाणी का अनुषेचन मिला है, उनमें स्वामी भीखणजी का योगदान भी बहुत मूल्यवान रहा है। यदि उन भाषाओं से संत-साहित्य को पृथक् कर दिया जाए तो यहां की प्रत्येक भाषा के साहित्य की पृष्ठभूमि ही विलुप्त हो जाए।

स्वामीजी के वाङ्मय की धारा नदी के वेगवान् प्रवाह के समान अपना मार्ग बनाती हुई बड़े ऊर्जस्वल वेग से बही है। उनके सम्मुख आद्योपान्त अपना कथ्य रहा, अतः छंदशास्त्र या काव्यशास्त्र के नियमों के ऐकान्तिक निर्वाह के लिए उन्होंने स्वयं को प्रतिबद्ध नहीं माना।

साहित्य-रचना का कार्य स्वामीजी ने दीक्षित होने के कुछ वर्षों पश्चात् ही प्रारंभ कर दिया था। 'जिनरिख जिनपाल का चोढालिया' नामक आख्यान स्थानकवासी समाज में रहते समय की उनकी रचना कही जाती है।[2] अन्य रचनाएं भी हों तो आश्चर्य नहीं। उसके पश्चात् धर्म-क्रान्ति के कुछ प्रारंभिक वर्षों तक वे इस कार्य से पूर्णतः विरत रहे। एकांतर चौविहार तपस्या और आतापन के रूप में

१. उत्तराध्ययन, २०।४४।

२. जैन-इतिहास-निर्णय-समिति, जयपुर द्वारा प्रकाशित 'पट्टावली-प्रबंध-संग्रह' में संगृहीत 'मरुधर पट्टावली' में लिखा है कि सं. १८१३ में भीखणजी ने 'जिनरिख का चोढालिया' बनाकर आचार्य रुघनाथजी को दिखलाया।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

केवल आत्म-साधना ही उस समय उनका ध्येय रहा। मुनि थिरपालजी और मुनि फतेहचंदजी ने तब तपस्यालीन स्वामीजी को धर्म-प्रचार के लिए जो प्रेरणा दी, उसी बीज में से तेरापंथ के आदि-साहित्य का अंकुर फूटा। स्वामीजी ने तब जन-उद्बोधन की दृष्टि से ग्रंथों का निर्माण प्रारंभ किया। यही है तेरापंथ-साहित्य के आदि स्रोत की कहानी।

ऐसे कर लेता हूं

स्वामीजी की चलने की गति तेज थी, उसी प्रकार से रचना की गति भी काफी तेज थी। मूड-निर्माण, भाव-प्रवाह तथा अनुकूल शब्द-चयन के लिए उन्हें कभी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी। मानो ये सब उनकी कलम की नोक पर ही निवास करते थे। ज्यों ही स्याही में डुबोकर कलम के अग्रभाग को कागज पर रखा जाता कि अनायास ही एक रचना-यात्रा प्रारम्भ हो जाती। उनकी रचना-त्वरता को देखकर एक बार आगरिया-निवासी श्रावक प्रतापजी ने पूछ लिया—'आप इतनी शीघ्रता से कविता कैसे कर लेते हैं?' स्वामीजी ने तत्काल सामने उघाड़ी पड़ी किसी साधु की सफेदे की 'टोपसी' की ओर लक्ष्य किया और उसी भावना को शब्द-परिधान देते हुए कहा :

छोटी-सी-क टोपसी, मांहें भर्‌यो सफेतो।
जतन घणा कर राखज्यो, पड़ै नहीं ज्यूं रेतो।।

उन्होंने प्रतापजी से कहा—'मैं इसी प्रकार से अन्य रचनाएं भी कर लेता हूं।'

साहित्य-परिक्रमा

आचार री चौपई

स्वामीजी के पूरे वाङ्मय का स्वर जन-जागरण का स्वर है। आचार और विचार— इन दोनों क्षेत्रों में व्याप्त उस समय की शिथिलता एवं विपरीतता उनके मन को सदा मथती रही थी। मुनिजन तो मार्गदर्शक होते हैं, उन्हें आचार और विचार के क्षेत्र में परिपूर्ण आदर्श होना चाहिए। वे ही जब शैथिल्य एवं वैपरीत्य से आक्रान्त हो जाएं तब उन्हें देखकर स्वामीजी जैसे आदर्शवादी व्यक्ति का मन पीड़ा का अनुभव करने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं। यही एकमात्र कारण कहा जा सकता है कि साध्वाचार की शिथिलता पर उनकी वाणी मानो गाज बनकर गिरी।

यद्यपि स्वामीजी ने व्यक्तिगत रूप से न किसी को शिथिलाचारी कहा और न किसी का खंडन किया, परन्तु सामूहिक रूप में प्रचलित आचार और विचार की कमियों पर उन्होंने भरपूर वार किये। इसी कारण 'आचार री चोपई' में उनके पद्य आचार-शैथिल्य पर बड़ी तीखी और करारी चोट करने वाले हैं। वे कहते हैं :

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

बिन अंकुस जिम हाथी चालै, घोड़ो बिगर लगाम।
एहवी चाल कुगुरु री जाणो, कहिवा नै साधु नाम।।[1]
आभे फाटे थीगरी, कुण छै देवणहार।
ज्यूं गुरु सहित गण बिगड़ियो, त्यांरै चिहुं दिस पड़िया बघार।।
एक-एक तणा दोषण ढांकै, अकारज करता नहीं सांकै।
त्यांनै कोई नहीं हटकण वालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो।।
साथे लियां फिरै पुस्तक पोथा, आचार पालण जाबक थोथा।
ते फस रह्या माया-जालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो।।
विकलां नै मूंड किया भेला, ते नाच रह्या कुबदी खेला।
जाणै भरभोलियां तणी मालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो।।
वैराग्य घट्यो न भेष बधियो, हाथ्यां रो भार गधां लदियो।
थक गया बोझ दियो रालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो।।
इण भेष तणा कूड़ कपड़ तणी, कितली-एक कहूं हो त्रिभुवन धणी।
रुलियारां तणो नहीं रुखवालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो।।[2]
साधपणो थां सूं सझतो न दीसे, तो श्रावक नाम धरावो।
सगत सारू वरत चोखा पालो, दोषण मतीय लगावो।।
आचार थां सूं पलतो न दीसे, तो ओरां रे माथे मत न्हाखो।
भगवंत रा केड़ायत बाजो, झूठ बोलता क्यूं नहीं सांको।।[3]

उपर्युक्त पद्यों में स्वामीजी के मन में शिथिलाचार को देख कर वेदना की जो कसक उठा करती थी, वह बड़ी मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त हुई है। बिना अंकुश के हाथी और बिना लगाम के घोड़े की उपमा देकर उन्होंने शिथिल साधुओं की स्वेच्छाचारिता के विषय में इतनी सटीक बात कह दी है कि वह सौ विवरणों का काम कर देती है। जब वे कहते हैं कि आकाश फट जाये तब उसके 'थेगली' कौन लगा सकता है?—यह उस समस्या की विकटता की ओर ध्यान आकृष्ट करने वाली बात है कि जहां गुरु सहित सारा गण ही शिथिलता को प्रश्रय देने लगता है, तब उस संघ के 'बघारों'—छेदों को कौन सांध सकता है?

साधुओं की शिथिलता में मुख्यतः उनकी वृत्तियां ही कारण बनती हैं। इसलिए स्वामीजी कहते हैं—वे एक-दूसरे के दोषों को ढांकते हैं, अतः बड़े से बड़ा

१. भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर (खंड १), आचार री चौपई, १।३५।
२. वही, ६। दो. ४, गा. १, ४, ६, २८, ३४।
३. वही, ६।१६, २०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

अकृत्य करने में भी किसी को संकोच नहीं होता। कोई उन्हें टोकने वाला भी तो नहीं होता। वे धर्म-ग्रंथों का केवल भार ढोते हैं। आचार पक्ष में तो बिल्कुल थोथे हैं। ऐसे व्यक्ति संसार के माया-जाल से बाहर नहीं निकल पाते।

स्वामीजी ने अयोग्य व्यक्तियों को दीक्षित कर संख्या बढ़ाने की उनकी वृत्ति पर भी बड़ा बेधक प्रहार किया है। उन्होंने उसे 'भरभोलियों'—गोबर के मणकों की माला जैसा बतलाया है। ऐसी माला किसी काम की तो होती ही नहीं, अपितु निर्माता की मूर्खता प्रदर्शित करती है और घर में कचरा बढ़ाती है। इसी प्रकार वे अयोग्य शिष्य भी अपनी दुर्बुद्धिपूर्ण प्रवृत्तियों द्वारा जहां अपने दीक्षक को लज्जित करते हैं वहां जिन-शासन की भी अवहेलना करवाते हैं। 'भरभोलिया' ग्राम-संस्कृति से संबद्ध एक साधारण-सा शब्द है। स्वामीजी ने रूपक के रूप में उसका प्रयोग कर उक्त प्रकार की दीक्षा की व्यर्थता को जिस गहराई से व्यक्त कर दिया है, वैसा शायद अन्य किसी एक शब्द से नहीं किया जा सकता था।

उक्त प्रकार की वृत्तियों के उत्पन्न होने का मूल कारण खोजते समय स्वामीजी का यह कथन सहज ही ध्यान आकृष्ट कर लेता है—वैराग्य घट गया है, वेष बढ़ रहा है। संयम तो हाथियों का भार है, पर वह गधों पर लदा हुआ है। वे उसे वहन नहीं कर पाते, अतः गिराकर एक तरफ हो जाते हैं।

तद्युगीन साधुओं की दयनीय दशा का खाका खींचते हुए स्वामीजी अपनी मानसिक पीड़ा को भगवान् से निवेदित करते हुए कहते हैं—हे त्रिभुवन के स्वामी ! साधुवेष में रहकर छल-छद्म करने वालों की आपको कितनी बातें बतलाऊं? वे तो अपार हैं। इन आवारा लोगों का कोई रखवाला नहीं है।

स्वामीजी उन शिथिल साधुओं को परामर्श देते हैं कि साधुता सध सके—ऐसा दिखाई नहीं देता, तब क्यों न श्रावक कहलाने लगो? पूर्ण व्रतों के नाम पर धोखा करने से तो यह अच्छा है कि श्रावक के यथाशक्य व्रत ग्रहण करो और उनका निर्दोष पालन करो। अपने आचार-शैथिल्य का दोष 'पंचम अर' (कलिका) के सिर पर मत डालो। तुम भगवान् महावीर के अनुयायी कहलाते हो। उन्होंने 'पंचमकाल के शेष तक साधुता रहेगी' ऐसा कहा है। उनके कथन को झुठलाने का प्रयास करने में तुम क्यों नहीं लजाते हो?

जीवन में माता-पिता, मित्र और गुरु—इनका सर्वोपरि प्रभाव पड़ता है। प्रथम माता-पिता का, द्वितीय मित्रों का और तृतीय गुरु का होता है। गुरु का प्रभाव श्रद्धा से जुड़कर आता है, अतः वह इन तीनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। परन्तु गुरु सत् भी हो सकता है और असत् भी। सद्गुरु से पवित्र प्रेरणा मिलती है

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

और असद् गुरु—कुगुरु से अपवित्र। आगम में **'जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो'**[1] सुसाधु—संत पुरुष को ही गुरु कहा है। स्वामीजी ने अपने ग्रंथों में स्थान-स्थान पर सुगुरु-कुगुरु की पहचान कर लेने पर बल दिया है। वे कहते हैं :

विनें मूल धर्म जिन कह्यो, ते जाणै विरला जीव।
जे सतगुर रो बिनो करै, त्यां दीधी मुगत री नींव।।
जे कुगुरु तणो बिनों करै, ते किम उतरै भव पार।
ज्यां सुगुर कुगुर नहीं ओळख्या, ते गया जमारो हार।।
केई अज्ञानी इम कहै, गुर नें बाप एक होय।
भूंडा भला जे गुर कर्‌या, त्यांनें न छोडणा कोय।।
जिन-आगम मांहें इम कह्यो, गुर करणा गुण देख।
खोटा गुर नें नहीं सेवणा, त्यांरी कीमत करणी विशेख।।[2]

स्वामीजी का कथन है कि आगमों में विनय को धर्म का मूल बतलाया है, पर सुगुरु का विनय ही मुक्ति का हेतु बनता है, कुगुरु का नहीं। सुगुरु-कुगुरु के भेद को नहीं पहचानने वाले व्यक्ति जीवन को हार जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि गुरु और बाप तो एक ही होता है, जैसा भी है, बदलना नहीं चाहिए। आगम कहते हैं कि गुणों के आधार पर ही किसी को गुरु स्वीकार करना चाहिए। कुगुरु के तो पास बैठने से भी बचना आवश्यक है। उन दोनों में भेद जानने के लिए बड़ी गहराई से मूल्यांकन करना चाहिए।

संतों के वेष में रहने वाले असंतों की इस संसार में कमी नहीं है। साधारण जन वास्तविकता को कम देखता है, अतः बाह्य वेष के भुलावे में फंस जाता है। खुला कुआं प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है, अतः उससे बचना अधिक कठिन नहीं, परन्तु ढका हुआ कुआं प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, उससे बचना कठिन है। सुगुरुवेषी कुगुरु ढके कुएं के समान होते हैं, अतः उनका संपर्क अधिक दुष्परिणामकारी होता है। स्वामीजी कहते हैं :

जाजम बिछाई कुवा ऊपरे, चिहुं कानी रे मेल्यो ऊपर भार।
भोला बेसे तिण ऊपरे, ते डूब मरे रे तिण कूवा मझार।।
तिम कुगुर छै कुवा सारिखा, जाजम सम रे कने साध रो भेख।
त्यांने गुर लेखव बंदणा करे, ते डूबे रे मूरख अंध अदेख।।

१. आवस्सयं, दंसणाइयार सुत्तं।
२. आचार री चौपई, ११। दो. १ से ४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

कुगुर भड़भूंजा सारिखा, त्यांरी सरधा हो खोटी भाड़ समाण।
भारी करमां जीव चिणां सारिखा, त्यांने झोखे हो खोटी सरधा में आंण।।[1]

यहां बतलाया गया है कि कुएं पर जाजम बिछी हो और उसे चारों ओर भार रखकर अच्छी तरह से दबा दिया गया हो तो कोई भी अजाण व्यक्ति भुलावे में आकर उस पर बैठ जाता हैं और कुएं में डूब मरता है। इस रूपक में बतलाया गया है कि कुगुरु कुएं के समान होते हैं और उनका साधुवेष जाजम के समान। वेष के भुलावे में आकर जो उन्हें गुरु मानने लगता है, वह उनकी कुशिक्षाओं के जल में डूब जाता है।

दूसरे रूपक में कुगुरु को भड़भूंजे के समान, उनकी असत् मान्यता को भाड़ के समान और बहुलकर्मी जीवों को चनों के समान बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि कुगुरु अज्ञ जीवों को मिथ्यात्व की भाड़ में भूनते रहते हैं।

अनुकम्पा री चौपई

स्वामीजी ने आचार-शुद्धि पर जितना बल दिया, विचार-शुद्धि पर भी उससे कम नहीं दिया। वे जानते थे कि अन्ततः विचार ही आचार में ढलता है। वे बहुत गहरे तत्त्व चिंतक थे। अहिंसा आदि का गूढ़ चिंतन उन्होंने दिया, वह बहुत सूक्ष्म और तर्कपूर्ण है। **'अत्तसमे मन्निज्ज छप्पि काए'**[2] भगवान् महावीर की उक्त वाणी सदा उनके सम्मुख रही। इसीलिए उन्होंने छोटे जीवों, पेड़-पौधों से लेकर बड़े जीवों, पशु-पक्षी और मनुष्यों तक के प्रति अहिंसक वृत्ति को प्रोत्साहन दिया। उस युग में अनेक लोग ऐसे थे जो जीवन-यापन में होने वाली अनिवार्य या आवश्यक हिंसा को हिंसा नहीं मानते थे। अनेक ऐसे थे जो बड़े जीवों के हित या सुख के लिए छोटे जीवों की हिंसा को धर्म मानते थे। अनेक ऐसे थे जो उक्त हिंसा में अल्प-पाप तथा बहुत प्राणियों को तृप्ति मिलती है, अतः बहुत धर्म मानते थे। इस प्रकार वे एक ही क्रिया में पाप एवं धर्म—दोनों का मिश्रण मानते थे। स्वामीजी ने उन सबका निरसन करते हुए विशुद्ध अहिंसा या दया को ही धर्म की कोटि में मान्य किया। जीवन की दृष्टि से कुछ हिंसा अनिवार्य हो सकती है, सामाजिक दृष्टि से क्वचित् वह कर्त्तव्य भी हो सकती है, पर वह धर्म कदापि नहीं हो सकती। किसी भी प्राणी की पीड़ा या हिंसा पर आधारित दया विशुद्ध दया नहीं, अतः वह आध्यात्मिक या लोकोत्तर न होकर लौकिक सीमा तक ही मान्य हो सकती है। इस विषय में 'अनुकंपा री चौपई' में स्वामीजी का कथन इस प्रकार है :

---

१. आचार री चौपई, १०।६,७,८।

२. दसवेआलियं, १०।६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

हिंसा री करणी में दया नहीं छै, दया री करणी में हिंसा नांही।
दया नें हिंसा री करणी छै न्यारी, ज्यूं तावड़ो नें छांही।।
ओर वसत में भेल हुवे पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो।
ज्यूं पूरव ने पिछम रो मारग, किण विध खाये मेलो।।
केई दया ने हिंसारी मिश्र करणी कहे, ते कूड़ा कुहेत लगावे।
मिश्र थापण ने मूढ मिथ्याती, भोला लोकां ने भरमावे।।
जो हिंसा कियां थी मिश्र हुवै तो, मिश्र हुवै पाप अठारो।
एक फिर्‌यां अठारे फिरे छै, कोई बुधवंत करज्यो विचारो।।
जिन मारग री नींव दया पर, खोजी हुवे ते पावे।
जो हिंसा मांहें धर्म हुवे तो जल मथियां घी आवे।।[१]

यहां स्वामीजी बतलाते हैं कि हिंसा की क्रिया में दया और दया की क्रिया में हिंसा नहीं हो सकती। इन दोनों की क्रियाएं धूप और छाया के समान परस्पर बिल्कुल भिन्न हैं। अन्य वस्तुओं में मिलावट हो सकती है, परन्तु दया में हिंसा की कोई मिलावट नहीं हो सकती। पूर्व और पश्चिम—दो भिन्न दिशाओं में जाने वाले मार्ग कैसे मिल सकते हैं? कुछ लोग एक ही क्रिया में दया और हिंसा का मिश्र मानते हैं। वे मिश्र धर्म की स्थापना के लिए अवास्तविक तर्क प्रस्तुत करते हैं और अल्पज्ञ लोगों को भ्रांत करते हैं।

स्वामीजी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यदि दया के साथ हिंसा का मिश्रण हो सकता है तो वह फिर अठारह ही पापों का हो सकता है। अर्थात् दया के निमित्त की गई हिंसा को यदि धर्म कहा जाएगा तो उस निमित्त किए गए सभी पाप धर्म बन जायेंगे। अठारहों पर समान तर्क लागू होता है, अतः एक की स्थिति में फेर-बदल होते ही वह अठारहों की स्थिति में हो जाएगा। बुद्धिमान इस पर गहराई से विचार करें।

निष्कर्ष की भाषा में स्वामीजी कहते हैं कि जैन धर्म की तो नींव ही दया पर अवस्थित है, परन्तु उसके विशुद्ध स्वरूप को कोई खोजी ही प्राप्त कर सकता है। जो हिंसा में धर्म कहते हैं, उन्होंने गहराई से खोज नहीं की है। यदि हिंसा में धर्म होने लगेगा तो फिर जल को मथने पर भी घी निथर आने लगेगा।

नव पदार्थ

जिन-धर्म में सम्यक्त्वी को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए उसे प्रथम सोपान कह सकते हैं। नव पदार्थों का यथार्थ

---

१. भि. ग्र. र. (खंड १) अनुकंपा री चौपई, ६।७० से ७४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

ज्ञान होने पर ही कोई सम्यक्त्वी बन सकता है। स्वामीजी ने 'नव पदार्थ' नामक अपने ग्रंथ में उनका विशद विवेचन किया है। एक-एक पदार्थ का भेद-प्रभेदों सहित इतना गंभीर वर्णन प्रायः कम ही उपलब्ध होता है। केवल विवेचन ही नहीं, यथावसर सजगता की सीख भी उसमें है। पुण्य पदार्थ का विवेचन करते हुए वे कहते हैं :

पुन तो पुद्गल री परजाय छै, जीव रे आय लागे ताम।
ते जीव रे उदय आवे सुभ पणे, तिण सूं पुद्गल रो पुन छै नाम।।
च्यार कर्म ते एकंत पाप छै, च्यार कर्म छै पुन ने पाप।
पुन कर्म थी जीव ने, साता हुवे पिण न हुवे संताप।।
अनंता प्रदेस छै पुन तणा, ते जीव रे उदय हुवे आय।
अनंतो सुख करे जीव रे, तिण सूं पुन री अनंती परजाय।।
निरवद जोग वरते जब जीव रे, सुभ पणे लागे पुद्गल ताम।
त्यां पुद्गल तणा छै जू जुआ, गुणा परिणामे त्यांरा नाम।।[1]

उपर्युक्त पद्यों में पुण्य के विषय में कहा है कि वह पुद्गल का ही एक पर्याय है। वे पुद्गल बाहर से आकर जीव के चिपकते हैं। वे जीव के शुभ रूप में उदय में आते हैं, अतः उनका नाम पुण्य है।

चार घनघात्य कर्म एकान्ततः पाप हैं। शेष वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—ये चार पुण्य-पाप दोनों हैं। पुण्य कर्म से जीव को साता प्राप्त होती है, असाता दूर हो जाती है।

पुण्य के अनंत प्रदेश होते हैं। वे उदय में आते हैं तब जीव को अनन्त सुख प्रदान करते हैं। इसलिए पुण्य के अनंत पर्याय हैं।

जब जीव के निरवद्य योगों—शुभ योगों की प्रवृत्ति होती है तब शुभ पुद्गल चिपकते हैं। उन पुद्गलों के गुण-परिणमनों के अनुसार पृथक्-पृथक् नाम दिये जाते हैं, जैसे—साता वेदनीय, शुभ नाम, उच्च गोत्र, शुभ आयु आदि।

पुण्य से प्राप्त होने वाले सुख पौद्गलिक होते हैं, अतः वे व्यक्ति को भोग की ओर ही ले जाते हैं। उनसे बचने की प्रेरणा देने वाले स्वामीजी के शब्द इस प्रकार हैं :

पुन रा सुख छै पुद्गल तणा, काम भोग शबदादिक जाण।
ते मीठा लागे छै कर्म तणे वसे, ग्यानी तो जाणे जेहर-समान।।

१. भि. ग्र. र. (खंड १), नव पदार्थ ३।१ से ४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जेहर सरीर में त्यां लगे, मीठा लागे नींब-पान।
ज्यूं कर्म उदय हुवे जीव रे जब, लागे भोग इमरत समान।।[1]
पुन तणी वंछा कियां, लागे छै एकंत पाप।
तिण सूं दुख पामे संसार में, बधतो जाये सोग संताप।।[2]
जिण पुन तणी वंछा करी, तिण वंछिया काम नें भोग।
संसार बधे काम भोग सूं, तिहां पामे जनम मरण सोग।।[3]

स्वामीजी चेतावनी देते हुए कहते हैं कि पुण्य से प्राप्त पौद्गलिक सुख केवल शब्दादि कामभोगों के सुख हैं। मोहवश वे मीठे लगते हैं, पर ज्ञानी तो उन्हें विषतुल्य समझते हैं।

शरीर में विष का प्रभाव रहता है तब तक नीम के पत्ते मीठे लगते हैं। इसी प्रकार से कर्मोदय रहता है तभी तक इन्द्रिय-सुख अमृतोपम लगते हैं।

पुण्य की वांछा करने मात्र से भी एकांततः पाप का बन्ध होता है। उससे दुःख, शोक एवं संताप की परम्परा आगे बढ़ती रहती है।

जिसने पुण्य की वांछा की उसने भोग की वांछा की। भोग से संसार की वृद्धि होती है और तब जन्म, मरण तथा शोक का क्रम चालू रहता है।

विनीत अविनीत री चौपई

स्वामीजी मानव-मन की गहराइयों में झांक कर देखने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने जन-साधारण से लेकर अपने शिष्यों तक की मानसिकता को परखने का सफल प्रयास किया था। प्रत्येक व्यक्ति में गुण बढ़े—यह उनका निरंतर प्रयास था। धर्म-क्षेत्र में विनय को सर्वोत्कृष्ट गुण तथा अविनय को सर्वोत्कृष्ट अवगुण माना जाता है। विनयी सर्वत्र आदर पाता है एवं अविनयी अनादर। इसीलिए स्वामीजी ने अपने धर्म-संघ में विनय के क्रमिक विकास की एक परिपाटी डाली। उसमें उनकी रचना 'विनीत अविनीत री चौपई' का बड़ा सहयोग रहा। स्वामीजी ने उसमें विनीत तथा अविनीत शिष्य की वृत्तियों तथा कार्यों का बड़ी सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है। वे कहते हैं :

कोई उपगारी कंठ कला धर साधु री, प्रशंसा जस कीरति बोले लोग।
अविनीत अभिमानी सुण सुण परजले, उण रे द्वेष घटे ने वधे सोग।।

---

१. नव पदार्थ, ३। दो. २,३

२. वही, ३।५२

३. वही, ४।६२

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

**जो कंठ कला न हुवै अविनीत री, तो लोकां आगे बोले विपरीत।
यां गाय-गाय रीझाया लोक ने, कहे हूं तत्त्व ओलखाऊं रूड़ी रीत।।
ओ गुर रा पिण गुण सुण ने विलखो हुवे, ओगुण सुणे तो हरखत थाय।
एहवा अभिमानी अविनीत तेहने, ओलखाऊं भवजीवां ने इण न्याय।।
बले करे अभिमानी गुर सूं बरोबरी, तिण रे प्रबल अविनो ने अभिमान।
ओ जद-तद टोला में आछो नहीं, ज्यूं बिगड्यो बिगाडे सड़ियो पान।।**[1]

स्वामीजी ने यहां अविनीत की मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा है—किसी साधु का कंठ मधुर है। वह अच्छा गाता है। लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। अविनीत साधु के मन में उससे जलन पैदा होती है और वह शोकाकुल बन जाता है। यदि अविनीत के कंठ मधुर न हों तो वह लोगों से कहता है—यह गा-गाकर लोगों को प्रसन्न करता है। यह कोई महत्त्व का कार्य नहीं। मेरी तरह लोगों को तत्त्व सिखलाए तब पता चले।

वह गुरु के गुण सुनकर उदासीन हो जाता है। अवगुण सुनता है तो बड़ा प्रसन्न होता है। वह प्रबल अभिमान रखता है और गुरु की बराबरी करता है। ऐसे अविनीत साधु संघ के लिए हितकर नहीं होते। वे तो सड़े हुए पान की तरह होते हैं, जो औरों में भी संड़ाध पैदा करते हैं।

अविनीत की दुरंगी चाल एवं दूषित स्वभाव का वर्णन करते हुए स्वामीजी कहते हैं :

**गुर भगता श्रावक श्रावका कने, गुर रा गुण बोले ताम।
आप रे वश हुओ जाणे तिण कने, ओगुण बोले तिण ठाम।।
अविनीत ने अविनीत श्रावक मिले, ते पामे घणो मन हरख।
ज्यूं डाकण राजी हुवे, चढवा ने मिलियां जरख।।
बांध्यों काला री पाखती गोरियो, वर्ण नावै पण लखण आवे।
ज्यूं विनीत अविनीत कने रहे, तो उ कांयक कुबद सीखावे।।
कांदा ने सो बार पाणी सूं धोवियां, तो ही न मिटे तिणरी वास।
ज्यूं अविनीत ने गुर उपदेश दिये घणो, पिण मूल न लागे पास।।
कांदा री तो वास धोयां मुधरी पड़े, निरफल छै अविनीत नें उपदेश।
जो छेड़वे तो अविनीत अंवलो पड़े घणो, उणरे दिन-दिन इधक कलेश।।**[2]

---

१. भि. ग्रं. र. (खंड १), विनीत अविनीत री चौपई, १।२२,२३,२५,२८।

२. विनीत अविनीत री चौपई, २। दो. ३,५।२८,२।२४,३।२६,३०।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

उक्त पद्यों में बतलाया है कि अविनीत व्यक्ति गुरुभक्त श्रावक-श्राविकाओं के सामने तो गुरु की प्रशंसा करता है, परन्तु जब अपने से प्रभावित व्यक्ति आ जाता है तब गुरु के अवगुण बोलने लगता है। उसको यदि श्रावक भी अविनीत मिल जाता है, तब तो मन में ऐसा प्रसन्न होता है मानो डायन को चढ़ने के लिए जरख मिल गया हो।

कहावत है कि काले बैल के पास गोरिया बांधा जायेगा तो वर्ण चाहे न आये, लक्षण अवश्य आ जायेंगे। यही बात शिष्यों पर भी लागू होती है। विनीत और अविनीत साथ में रहेंगे तो अविनीत उसे कोई न कोई कुबुद्धि अवश्य सिखला देगा।

अविनीत की दुर्बोध्यता की स्वामीजी ने प्याज से तुलना की है। प्याज को सौ बार पानी से धोया जाये तो भी उसकी दुर्गंध मिटती नहीं। उसी तरह अविनीत को यदि गुरु सौ उपदेश दें तो भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्याज की गंध तो बार-बार धोने पर कुछ मंद हो जाती है, परन्तु अविनीत को दिये गये सारे उपदेश निष्फल हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वह उल्टी दिशा पकड़ लेता है और प्रतिदिन अधिकाधिक क्लेश करने लगता है।

स्वामीजी ने अविनीत की अन्तरंगता को सोरे-बारूद की तुलना से उजागर किया है। उनके शब्द हैं :

सोर ठंडो लागे मुख में घालियां, अग्नि मांहें घाल्यां हुवे तातो।
ज्यूं अविनीत ने सोर री ओपमां, सोर ज्यूं अलगो पड़ै जातो।।
आहार पाणी वस्त्रादिक आपियां, तो उ श्वान ज्यूं पूंछ हलावे।
करड़ो कह्यां उठे सोर अग्नि ज्यूं, गण छोड़ी एकल उठ जावे।।
सोर आप बले बाले ओर नै, पछे राख थई उड़ जावे।
ज्यू अविनीत आप ने पर तणा, ग्यानादिक गुण गमावे।।[1]

सोरा मुख में डालने पर ठंडा लगता है, पर अग्नि में डालते ही भभक उठता है। अविनीत के लिए यह तुलना ठीक बैठती है। उसे आहार, पानी एवं वस्त्रादि देते रहो तो श्वान की तरह पूंछ हिलाता रहेगा। उपालंभ दोगे तो विस्फोट कर देगा, अर्थात् गण से पृथक् हो जायेगा। सोरा स्वयं जलता है, दूसरों को जलाता है और फिर राख या धुआं होकर उड़ जाता है। वैसे ही अविनीत भी अपने और दूसरों के ज्ञानादि गुणों की राख कर डालता है।

---

१. विनीत अविनीत री चौपई, २।३१-३३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

विनीत एवं अविनीत के पास प्रतिबोध पाने वालों में भी गुणों का अन्तर हो जाता है। उनमें कितना अन्तर हो सकता है—यह प्रश्न उपस्थित कर स्वयं स्वामीजी ही उसका समाधान करते हुए कहते हैं :

समझाया विनीत अविनीत रा, त्यां में फेर कितोयक होय।
ज्यूं तावड़ो ने छांहड़ी, इतरो अन्तर जोय।।
विनीत तणा समझाविया, सालदाल ज्यूं भेला होय जाय।
अविनीत रा समझाविया, ते कोकला ज्यूं कांनी थाय।।[1]

विनीत और अविनीत द्वारा प्रतिबुद्ध व्यक्तियों में उतना ही अन्तर होता है, जितना धूप और छाया में। विनीत के समझाये हुए व्यक्ति सबके साथ चावल और दाल की तरह घुलमिल जाते हैं। अविनीत के समझाये हुए 'कोकलों' की भांति अलग-थलग रहते हैं।

आख्यान

स्वामीजी ने जन-उद्बोधन के लिए आख्यानों का बहुलता से उपयोग किया। आचार, तत्त्व एवं अहिंसा आदि विषयों पर लिखते समय रचनाकार को एक सीमित दायरे में ही अपनी बात कहने का अवसर मिलता है, परन्तु आख्यानों में सभी प्रकार के चरित्र-चित्रण का अवसर उपलब्ध होता है। स्वामीजी द्वारा रचित २१ आख्यान उपलब्ध हैं। कथानक, रागिणी और सुबोध्य भाषा ने उनकी महत्ता को शतगुण बना दिया है। 'सुदर्शन चरित' नामक आख्यान में वसंतऋतु का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

आयो आयो हे सखी! कहीणे मास वसंत,
ते रितु लागे छै अति ही सुहामणी।
सहु नर नारी हे सखी! इण रितु हुवे मयमंत,
त्यां ने रमण खेलण ने छै रितु रलियामणी।।
फूल्यो रहे सखी! चंपो मरवो अथाय,
फूल्या छै जाइ जुही ने केतकी।
फल्या फूल्या हे सखी! पाडल फूलड़ा ताय,
फूल्या छै रूंख धवला ने सेतकी।।
तिण ठामे हे सखी! कोयल करे टहुकार,
वले मोर किंगार शब्द करे घणा।

१. विनीत अविनीत री चौपई, ५।१४,१५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

चकवा चकवी हे सखी! शब्द करे श्रीकार,
वले अनेक शब्द गमता पंखियां तणा।।[1]

यहां रानी अभया ने अपनी सखी को नाना पुष्पों और वृक्षों के फलने-फूलने तथा नाना पंखियों के मनोज्ञ शब्दों की याद दिलाते हुए वसंत-क्रीड़ा की तैयारी के लिए प्रेरणा दी है। उद्यान का यह प्रसाद गुण संवलित प्रकृति-चित्रण वास्तव में स्वामीजी के शब्द शिल्प का एक अनुपम उदाहरण है।

सास और बहू का झगड़ा एक प्रकार से शाश्वत जैसा है। उस ओर इंगित करते हुए स्वामीजी ने कहा है :

घर में धन माल छतें थके, पिण सासू न करे बहु नों बेसास।
आछो खावा पहरवा दे नहीं, वांदी नी परे रोलवे तास।।
सासू दुख दिया ते भूले नहीं, आ पिण नारी नी जात जहर।
कदे डाव पडे जद एहनो, आ पिण लेवे सवेखो वेर।।
जो दोनूंइ हुवे बथोकड़ी, जब लड़ती काढे दिन रात।
त्यां ने फिट-फिट लोक करे घणी, परपूठै करे मांहोंमांहिं तात।।[2]

गर्भस्थ शिशु के शुभाशुभ कर्मों का प्रभाव अदृश्य रूप में पूरे परिवार को प्रभावित करता है। कहावत है—'पूत के पग पालने में ही पहचान लिए जाते हैं।' स्वामीजी का कथन है कि वे तो पेट में ही पहचान लिये जाते हैं। वे कहते हैं :

पापी जीव जो गर्भ में आवे, मां ने ईंट लीयाला भावे।
घर में आवे खांचाताण, पापी जीव रा ए अहलाण।।
पापी जीव गर्भ में थकां ताहि, तब माता रे सूल चाले पेट मांहि।
वले दिन-दिन वेदन इधकी थावे, माता दिन-दिन गलती जावे।।
लोक मांहें पिण छै ओखाणो, पूत रा पग पालणा में पिछाणो।
ते पालणो तो ज्यां ही रह्यो ताहि, पूतरा पग जोवो पेट रे मांहिं।।[3]

मनुष्य की कर्मजन्य विभिन्नताओं का वर्णन करते हुए स्वामीजी ने बहुत-सारे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। सभी उदाहरण ऐसे हैं जो हम प्रतिदिन हमारी आंखों से देखते हैं। उनका कथन है कि इस संसार में सारे शुभ फल सुकृत से ही प्राप्त होते हैं। दुष्कृत करने वाले को हर क्षेत्र में केवल अभाव का ही सामना करना पड़ता है।

---

१. भि. ग्र. र. (खंड २), सुदर्शन चरित, ७।१,२,५।
२. भि. ग्रं. र. (खंड २), चेड़ा कोणिक री सिंध, १८।२९-३१।
३. वही, मृगालोढ़ा रो बखाण, ११।११, १२, १६।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

किसी को कोई उपालंभ नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह सब स्वयं की क्रियाओं एवं व्यवस्थाओं के वैपरीत्य का ही फल है। स्वामीजी का कथन है कि वृक्ष निष्फल हो सकता है, स्त्री भी निष्फल हो सकती है, परन्तु की हुई शुभ या अशुभ करणी कभी निष्फल नहीं होती। एतद्विषयक उनके पद्य इस प्रकार हैं :

एक नर पंडित प्रवीण, एकण ने आखर ना चढे।
एक नर मूरख दीन, भाग बिना भटकत फिरै।।
एक एक रे भर्‌या भंडार, रिद्ध संपत घर में घणी।
एकण रे नहीं अन्न लिगार, दीधा सोई पाइये।।
एकण रे भूषण अनेक, गहणा वस्तर नित नवा।
एकण रे नहीं एक, वस्त्र विना नागा फिरे।।
एक नर जीमे कूर, सीरा पूरी ने लापसी।
एक बूके बूकस बूर, भीख मांगत घर-घर फिरे।।
एक नर पोढे खाट, सेट बिछाइ ऊपरे।
एक नर जीमे हाट, आदर मान पावे नहीं।।
एक नर होवे असवार, चढे हस्ती ने पालखी।
एक चले शिर भार, गाम-गाम हिंडतो फिरे।।
एक एक नर ने हजूर, हाथ जोड़ी हाजर रहे।
एक नर ने कहे दूर, निजर मेले नहीं तेह सूं।।
एक सुन्दर रूप सरूप, गमतो लागे सकल ने।
एकज कालो कुरूप, गमतो न लागे केह ने।।
एक एक नी निर्मल देह, एक ने रोग पीड़ा घणी।
किसो कीजे अहमेव, कियो जिसो ई पाइये।।
एक बालक विधवा नार, रात दिवस झूरे घणी।
एक सज सोले सिणगार, नित नवला सुख भोगवे।।
एक नर छत्र धराय, आण मनावे देश में।
एक अलवाणे पाय, घर-घर टुकड़ा मांगतो।।
एक बैठे सिंघासन पाट, हुकम चलावे लोक में।
एक फिरे हाटोहाट, एक कोडी के कारणे।।
निर्फल रूंखज होय, निर्फल होय जावे अस्त्री।
सुणज्यो भवियण लोय, पिण करणी कदे निर्फल नहीं।।[1]

---

१. सुदर्शन चरित्र, २।२ से १३, १७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

कुलटा स्त्रियां अपने ही अपलक्षणों से सर्वत्र अनादर पाती हैं। शायद ही कोई उनका अन्तरंग से विश्वास करता है। उनका व्यवहार बाहर से जैसा दिखलाई देता है, आभ्यन्तर में प्रायः उससे बिल्कुल उल्टा होता है। वे दिखावा भीरुता का करती हैं, परन्तु होती हैं अत्यन्त दुस्साहसी। स्वामीजी ने उनके उस द्विरूप को बड़े मननीय ढंग से प्रस्तुत किया है। जन-जीवन में रची-बसी शब्दावली, सहजगम्य उपमाओं, रूपकों एवं प्रतीकों का ऐसा मन को छूने वाला प्रयोग प्रायः विरल व्यक्ति ही कर पाते हैं। स्वामीजी ने तत्कालीन समाज का बड़ी गहराई से अध्ययन किया था। उस धरातल पर जो-कुछ निरखा-परखा एवं मनन किया, उसी आधार पर वे लिखते हैं :

डेली चढती डिग डिग करै, चढ जाये डूंगर असमान।
घर मांहें बैठी डर करे, राते जाय मसाण।।
देख बिलाइ ओजके, सिंह ने सनमुख जाय।
सांप ओसीसे दे सुवे, उन्दर स्यूं भिड़काय।।
कोयल मोर तणी परे, बोले मीठा बोल।
भीतर कड़वी कटुक-सी, बाहिर करे किलोल।।
खिण रोवे खिण में हसे, खिण मुख पाड़े बूम।
खिण राचे विरचे खिणे, खिण दाता खिण सूम।।
नारी ने काजल-कोटड़ी, बेहूं एकज रंग।
काजल अंग कालो करे, नारी करे शील भंग।।
नारी ने वन-वेलड़ी, बेहूं एक स्वभाव।
कंटक-रूंख कुशील नर, ताहि विलंबे आय।।
मोर तणी पर मोहिनी, बोले मीठा बोल।
पिण सांप सपूंछो ही गिले, आ ले नर ने भोल।।
पुरुष पोत कपड़ा जिसो, निर्गुण नित नवी भांत।
नारी कातर वश पड्यो, काटत है दिन रात।।
त्रिया मदन तलावड़ी, बूडो बहु संसार।
केइक उत्तम उगर्‌या, सद्‌गुरु वचन संभार।।[1]

नारी की जातिगत कमियों पर भी स्वामीजी ने प्रकाश डाला है। जैन-अजैन प्रायः समग्र संत-साहित्य में नारी के प्रति बड़ी कटुक्तियां मिलती हैं। प्रायः सभी ने उन्हें मोक्ष की बाधा, नरक में ले जाने वाली, मलमूत्र की कोथली आदि विशेषणों

---

१. सुदर्शन चरित्र, ६।५ से ८,१०,११,१६,१७,२१।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

से विभूषित किया है। प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्मचर्य की दृढ़ता के लिए स्त्री-जाति की ओर से आकर्षण हटाने के निमित्त कहा गया है। क्योंकि धारणा में प्रायः यह रहा है कि पुरुष के विषय में भी स्त्री की ऐसी ही अशुचि आदि की भावना से स्वयं को उस आकर्षण से विरक्त करना चाहिए। वस्तुस्थिति के आधार पर सोचने से हर किसी को यह स्पष्ट ध्यान में आ सकता है कि पुरुष और स्त्री समान रूप से ही एक-दूसरे के भले-बुरे के निमित्त बनते आये हैं। स्वामीजी ने तो स्पष्ट ही संतुलन किया है। नारी के अवगुण बतलाते हुए वे कहते हैं :

माठी मति छै नारनी, ऊंधी छै तिण री चाल।
पाणी नी परे नीचो स्वभाव छै, आ नरक तणी दलाल।।
वले मायां भेद घलावणी, तोरावे सजन सूं नेह।
घणी पीत मांडै भरतार सूं, सवारथ नहीं पूगां छेह।।
मात पिता सूं मन भांग दे, कामणी रा चरित अनेक।
कलह लगाय कुल रो खय करे, आछी नहीं बुध विवेक।।
आ तो मन में ओर ही चिंतवे, वले कहे करे कुछ ओर।
कपटाई घणी छै नार ने, संगत कियां लागे झोर।।[1]

स्वामीजी ने इसी प्रकार से पुरुष की कमियों को भी स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है। उसका सार-संक्षेप बतलाना हो तो निम्नोक्त एक पद्य में ही सब-कुछ समा जाता है। वे कहते हैं :

छट्ठी नरक तांईं जावे अस्तरी, पुरुष सातवीं तांईं जाय।
ए तो अस्तरी बिचै पापी घणा, ओ देखो उघाड़ो न्याय।।[2]

कुल मिलाकर निष्कर्ष की भाषा में कहें तो कहा जा सकता है कि इस विषय में स्वामीजी ने बहुत अच्छा संतुलन बिठाया है। निम्नोक्त पद्य उस संतुलन का एक अप्रतिम उदाहरण है। वे कहते हैं :

सगला नर सरिखा नहीं, नहीं सारखी नार।
केइ भला ने केई बुरा, चलियो जाए संसार।।[3]

गद्य

स्वामी भीखणजी द्वारा रचित वाङ्मय का अधिकांश भाग पद्य में है, फिर भी अल्पांश में ही सही, उन्होंने गद्य में भी लिखा है। जैन तत्त्व-विद्या की प्राथमिक

---

१. चेड़ा कोणिक री सिंध, ५।१ से ४।

२. वही, १८।४२।

३. वही, १९। दो.१।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जानकारी के लिए उन्होंने थोकड़े लिखे। उनमें एक है 'तेराद्वार'। उसके तेरह अध्याय—द्वार हैं, अतः उसका नाम 'तेराद्वार' दिया गया। उसमें दुर्बोध सैद्धान्तिक तत्त्वों को भी बड़ी सुबोध भाषा में समझाया गया है। अनेक योनियों में परिभ्रमण करते हुए एवं अनेक प्रकार के शरीर धारण करते हुए भी आत्मा तथा उसका मूल चैतन्य गुण कभी नष्ट नहीं होता। स्वामीजी ने उदाहरण के द्वारा उसे इतना सरल कर दिया कि एक बालक भी समझ सकता है। वे कहते हैं :

जिम सोना रो गहणो भांजी-भांजी और-और आकारे घड़ावै तो आकार नो विनाश थाय, पण सोना रो विनाश नहीं, तिम कर्मां ने उदय थी जीव की पर्याय पलटै, पण मूल चेतन गुण को विनाश नहीं।

एक अन्य थोकड़ा है—'१८१ बोलां की हुंडी।' उसमें साधुओं के कल्पाकल्प के संबंध में आगम-कथनों का संकलन एवं अति संक्षिप्त समीक्षा है। उसके उपोद्घात में स्वामीजी ने लिखा है :

जे कोई हलुकर्मी जीव हुसी ते सुण-सुण नै हर्ष पामसी। त्यां नै न्याय मार्ग बतायां सुध साधां नै उत्तम जाणसी नै कुगुरु छोड़ सतगुरु आदरसी। अनें भारी कर्मा जीव हुसी ते सुण सुणनै धेख पामसी। त्यां नै न्याय मार्ग बतायां उल्टी निंद्या जाणसी। त्यां नै आचार री बात न सुहावसी।

स्वामीजी ने सं. १८३२ में अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति की और तभी प्रथम मर्यादा-पत्र का निर्माण किया। उसमें वे मर्यादा-निर्माण की प्रक्रिया बतलाते हुए लिखते हैं :

रिख भीखण सर्व साधां नै पूछ ने सर्व साध साधवियां री मरजादा बांधी। ते साधां नें पूछ नें, साधां कनां थी कहिवाय नें ते लिखिये छै—सर्व साध साधवी भारमलजी री आज्ञा मांहें चालणों। विहार चोमासो करणो तो भारमलजी री आज्ञा सूं करणो। दिख्या देणी ते भारमलजी रा नाम दिख्या देणी। चेलारी, कपड़ारी, साता कारिया खेतर री आदि देइ नें ममता कर-कर नें अनंता जीव चारित गमाय नें नरक निगोद मांहें गया छै। तिणसूं सिखादिक री ममता मिटावण रो नै चारित चोखो पालण रो उपाय कीधो छै। विनै मूल धर्म नै न्याय मारग चालण रो उपाय कीधो छै।

उक्त मर्यादा-पत्र की समाप्ति पर लिखा है—**सर्व साधां रा परिणाम जोयनै रजाबंध कर नै, यां कना सूं पिण जूदो जूदो कहवाड़ नै मरजादा बांधी छै। जिण रा परिणाम मांहिला चोखा हुवै ते मतो घाल जो। कोई सरमा सरमी रो काम छै नहीं। मूंढै और नै मन में और इम तो साधां नै करवो छै नहीं।**

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

वर्गीकरण

स्वामीजी ने गद्य और पद्य—दोनों विधाओं में प्रचुर साहित्य लिखा। वह ३८ हजार पद्य-प्रमाण है। पद्य-साहित्य प्रायः दोहों तथा विभिन्न राजस्थानी रागों में आबद्ध है। गेयात्मकता का अधिकांश पद्य-साहित्य 'भिक्षु-ग्रंथ-रत्नाकर' नाम से दो विशाल खंडों में प्रकाशित है। 'अधिकांश' शब्द का प्रयोग मैंने यहां इस आशय से किया है कि कुछ गीतिकाएं अनध्यवसायवश उनमें नहीं आ पाई हैं। गद्य तो अभी पूरा का पूरा ही अप्रकाशित अवस्था में है।

विषयानुसार स्वामीजी के पद्य-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. आचार-मीमांसा

१. आचार री चौपई
२. श्रावक ना बारह व्रत
३. एकल री चौपई
४. विनीत अविनीत री चौपई
५. विनीत अविनीत री ढालां

२. सिद्धान्त-मीमांसा

१. श्रद्धा री चौपई
२. अनुकंपा री चौपई
३. विरत अविरत री चौपई
४. निक्षेपां री चौपई
५. जिनाज्ञा री चौपई
६. मिथ्यात्वी करणी री चौपई
७. समकित री ढालां
८. पोतियाबंध री चौपई
९. टीकम डोसी री चौपई
१०. पर्यायवादी री चौपई
११. इंद्रियवादी री चौपई
१२. कालवादी री चौपई

३. तत्त्व-मीमांसा

१. नव पदार्थ

४. आख्यान

१. भरत चरित
२. जंबूकुमार चरित
३. सुदर्शन चरित
४. चेड़ा कोणिक री सिंध
५. द्रौपदी रो बखाण
६. उदाई राजा रो बखाण
७. तेतली प्रधान रो बखाण
८. थावच्चापुत्र रो बखाण
९. नंद मणिहार रो बखाण
१०. पुंडरीक कुंडरीक रो बखाण
११. जिनरख जिनपाल रो बखाण
१२. मल्लिनाथ रो बखाण
१३. सकडाल पुत्र रो बखाण
१४. तामली तापस रो बखाण
१५. मृगालोढा रो बखाण
१६. उंबरदत्त रो बखाण
१७. सुबाहुकुमार रो बखाण
१८. धन्ना अणगार री चौपई
१९. गोसाला री चौपई
२०. चेलणा रो चोढालियो
२१. सास-बहू रो चोढालियो

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

५. उपदेश
१. वैराग री ढालां
२. गणधर सीखामणी ढालां
३. दान री ढालां

६. इतिहास
१. निह्नव री चौपई
२. अविनीत रास

७. विविध
१. ब्यावलो
२. निह्नव रास
३. दसवें प्रायछित री ढाल
४. मोहिनी कर्मबंध री ढाल
५. जिण लखणा चारित आवै न आवै री ढाल
६. सूंस भंगावण रा फल री ढाल
७. जुआ री ढाल
८. उरण री ढाल
९. सामधर्मी सामद्रोही
१०. तात्त्विक ढालां
११. दुगंछणी कुल निषेधन नी ढाल
१२. गांव गरदोड़ा गुडला पाणी की ढाल
१३. भगवंत भाख्या रे श्रावक एहवा
१४. दृढ़ समकितधर थोड़ला

स्वामीजी के गद्यात्मक वाङ्मय का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

१. हुंडी

आगमों के विशेष विषयों की नोंध को 'हुंडी' कहते हैं। वे अग्रोक्त हैं :

१. ३०६ बोलां री हुंडी
२. १८१ बोलां री हुंडी

२. चर्चा

आगमज्ञान का प्रश्नोत्तर रूप में किया गया संकलन 'चर्चा' कहलाता है। व्यक्तिशः किये गये आगमिक प्रश्नों और उनके उत्तरों के संकलन को भी 'चर्चा' कहते हैं। स्वामीजी की इन चर्चाओं में ९ प्रथम कोटि की और अन्तिम दो दूसरी कोटि की हैं :

१. पांच भावां री चर्चा
२. जोगां री चर्चा
३. खुली चर्चा
४. आस्रव संवर री चर्चा
५. जिनाज्ञा री चर्चा
६. कालवादी री चर्चा
७. इंद्रियवादी री चर्चा
८. द्रव्य जीव भाव जीव री चर्चा
९. निक्षेपां री चर्चा
१०. टीकम डोसी री चर्चा
११. भिक्खु-पृच्छा

३. थोकड़ा

आगमिक ज्ञान का विषयानुवर्ती संक्षिप्त विवरणात्मक संकलन 'थोकड़ा' कहलाता है। स्वामीजी द्वारा निर्मित थोकड़े ये हैं—

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

१. तेराद्वार
२. जीव पदार्थ ऊपर पांच भावां रो थोकड़ो
३. आठ आत्मा रो थोकड़ो
४. उदय निष्पन्नादिक बोलां ऊपर पांच भावां रो थोकड़ो

४. लिखत-१

संघ-व्यवस्था के लिए स्वामीजी द्वारा समय-समय पर लिखे गये मर्यादा-पत्रों को 'लिखत' कहा गया है। वे ही सामूहिक रूप में आज तेरापंथ का संविधान कहलाते हैं। ऐसे 'लिखत' अग्रोक्त हैं :

१. युवराज पदवी रो लिखत। (सं. १८३२ मिगसर बदी ७)
२. समचै आर्यां रो लिखत—१। (सं. १८३४ जेठ सुदी ६)
३. सर्व साधां रै मर्यादा रो लिखत—१ (सं. १८४१ चैत बदी १३)
४. प्राछित रो लिखत। (सं. १८४१)
५. आंख्यांदिक र कारणीक री चाकरी रो लिखत। (सं. १८४५ जेठ सुदी १)
६. सर्व साधां रै मर्यादा रो लिखत—२।(सं. १८५० माघ बदी ५)
७. सर्व आर्यां रै मर्यादा रो लिखत—२।(सं. १८५२ फागुण सुदी १४)
८. सर्व साधां रै मर्यादा रो लिखत—३। (सं. १८५६ माघ सुदी ७ शनिवार)
९. विगयादिक खावा रै परिमाण रो लिखत। (सं. १८५६)

५. लिखत-२

व्यक्ति-विशेष के लिए अनुशासनार्थ लिखे गये व्यवस्था-पत्रों को भी 'लिखत' ही कहा गया है। स्वामीजी ने ऐसे अनेक पत्र अपने पास में रहे व्यक्तियों के लिए भी लिखे तथा दूरस्थ व्यक्तियों के लिए भी। दूरस्थ साधु-साध्वियों के लिए लिखे गये व्यवस्था-पत्र साधु-साध्वियों के द्वारा ही पहुंचाये जाते थे। उन्हें 'कागद' भी कहा गया है। ऐसे 'लिखत' अग्रोक्त हैं :

१. अखैरामजी पाछा गण मांहें आया, त्यांरो लिखत। (सं. १८२६ माघ सुदी १२ बृहस्पतिवार, बुसी)
२. वीरभाणजी ने प्राछित देणो थाप्यो, ते लिखत। (सं. १८३२ जेठ सुदी ११)
३. फत्तूजी आदि च्यार आर्यां गण में आई, त्यांरो लिखत। (सं. १८३३ मिगसर बदी २ बुधवार)
४. ऋषि अखैरामजी रे अने ऋषि सिंघजी रे विगय खावा रा त्याग रो लिखत। (सं. १८४१ चैत बदी १३ बृहस्पतिवार)

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

५. ऋषिरामजी रो अभिग्रह पूरो हुवो, तिणरो लिखत। (सं. १८४१ चैत्र दूजा बदी १०, सोमवार, लाटोती)
६. बड़ा रूपचन्दजी रो लिखत। (सं. १८५०)
७. अखैरामजी दूजी बार पाछा गण में आया, त्यांरो लिखत। (सं. १८५० मिगसर बदी ८)
८. आर्या चन्दू ने गण मांहें लीधां पहली करार कीधो, तिण रो लिखत। (सं. १८५१)
९. आर्या सरूपां रो लिखत। (सं. १८५४ चैत बदी ६)
१०. आर्या मैणांजी रो लिखत (कागद)। (सं. १८५५ जेठ बदी ६)
११. ओटोजी रो लिखत। (सं. १८५७ पौष)
१२. आर्या नंदूजी रो लिखत (कागद)। (सं. १८५८ जेठ बदी १२)

६. विगत

घटनाओं, वार्ताओं तथा सूचनाओं के विवरणों को यहां 'विगत' कहा गया है। कहीं-कहीं इनके लिए 'विवरण' या 'लिखत' शब्द का भी उपयोग किया गया है। स्वामीजी द्वारा लिखित ऐसी विगतें अग्रोक्त हैं :

१. वीरभाणजी दोष काढ्या, तिणरी विगत। (सं. १८३२)।
२. वीरभाणजी अवगुण बोल्या, ते पन्नै लिखाया, तिणरी विगत। (सं. १८३३)
३. गांव चूरू में फत्तूजी रा दोष उघड़िया, त्यांरो विवरण। (सं. १८३७)
४. फत्तूजी आदि पांच आर्यां नै गण बारै काढी, त्यां रो लिखत। (सं. १८३७ फागण बदी २)
५. तिलोकचन्द चंद्रभाण रा कूड कपट नै दगा रो विवरण। (सं. १८३७)
६. तिलोकचन्द चंद्रभाण नै विश्वासघाती जाण नै गण बारै काढ्या, तिण रो लिखत। (सं. १८३७ माघ बदी ९)
७. संतोषजी शिवरामजी रो मन भांग नै आपरा कीधा, तिणरी विगत। (सं. १८३७)
८. सुखोजी रो मन भांग नै आपरा कीधा, तिणरी विगत। (सं. १८३७)
९. तिलोकचन्द चंद्रभाण री बातां गाम ईड़वा में सांभली, तिणरी विगत। (सं. १८३८)
१०. तिलोकचन्द चंद्रभाण री बातां गाम बाजोली मांहें भायां कही, तिणरी विगत। (सं. १८४५ पौष सुदी ११)

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

११. रूपचन्दजी अखैरामजी पाछा न्यारा होय नै दोष काढ्या, तिण री विगत। (सं. १८५०)

१२. रूपचन्दजी द्वेषवंश अखैरामजी आगै अनेक बातां कही, त्यांरी विगत। (सं. १८५०)

१३. चंदू वीरा नै गण बारे काढी, तिणरी विगत। (सं. १८५२ बैसाख बदी १)

१४. सिरियारी में चंदू अवगुण बोल्या, त्यांरी विगत। (सं. १८५२)

१५. वीरां नै फाडण तांईं चन्दू साध साधवियां रा अवगुण बोल्या, तिणरी विगत। (सं. १८५२)

१६. चन्दू अवगुण बोल्या, ते अजबांजी लिखाया, त्यांरी विगत। (सं. १८५२)

१७. चन्दू नै बारै काढ्यां पछै आर्यां रै आल दीधा, तेहनी विगत। (सं. १८५४)

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

:१०:

जीवन का संध्याकाल

सक्रिय जीवन

स्वामीजी का सारा जीवन एक सक्रिय व्यक्ति का जीवन था। विश्राम की न उन्हें कभी आवश्यकता अनुभूत हुई और न कभी उन्होंने उसे महत्त्व ही दिया। जीवन के संध्याकाल में भी वे युवकोचित साहस और सामर्थ्य से कार्य करते रहे। वृद्धावस्था उनकी कार्यक्षमता पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकी। जनपद-विहार, धर्म-प्रसार, आगमिक चर्चाएं, साहित्य-निर्माण और शिष्यों के प्रशिक्षण आदि कार्यों में उनकी दैनिकचर्या अत्यन्त व्यस्त रहा करती थी।

'नांगला' और 'झोलका'

अपना कार्य स्वयं अपने ही हाथों से करने की वृत्ति स्वामीजी में प्रारम्भ से ही थी। वृद्धावस्था में भी वह तद्रूप बनी रही। वे गोचरी के लिए प्रायः स्वयं जाया करते थे। विहार में अपनी निश्रा के भंडोपकरणों का 'झोलका' तो उनके पास रहता ही था, उसके अतिरिक्त दो पुस्तकों का 'नांगला' भी वे वहन करते थे। दोनों को मिला कर लगभग दस किलो भार उनके कंधों पर रहता था। शिष्यों के अनेक बार आग्रह करने पर भी उन्होंने उसे नहीं छोड़ा। सं. १८३८ में मुनि खेतसीजी दीक्षित हुए। उन्होंने स्वामीजी से इतना आग्रह किया कि उन्हें 'नांगला' देना ही पड़ा। उसके पश्चात् सं. १८५३ में मुनि हेमराजजी की दीक्षा हुई। उनके आग्रह पर 'झोलका' भी दे दिया। उस समय उनकी अवस्था लगभग सत्तर वर्ष की थी।

खड़े होकर प्रतिक्रमण

स्वामीजी प्रातः और सायं—दोनों ही समय का प्रतिक्रमण खड़े-खड़े किया करते थे। वे इस मानव-स्वभाव से पूर्ण परिचित थे कि अनुयायी प्रायः अपने नेता का ही अनुकरण किया करते हैं। यदि नेता अपनी चर्या में थोड़ी-सी भी ढील करता है, तो अनुयायी उसे और भी बड़े प्रमाण में करने लगते हैं। यदि नेता अधिक कठिनता से काम लेता है, तो अनुयायी कम-से-कम एक मध्यम सीमा तक की कठिनाई को तो स्वीकार कर ही लेते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

एक बार किसी ने स्वामीजी से कहा—'इस वृद्धावस्था में आप खड़े-खड़े प्रतिक्रमण क्यों करते हैं? बैठकर करने में सुविधा रहेगी।'

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा—'मैं यदि बैठकर प्रतिक्रमण करूंगा तो मेरे पीछे वाले सम्भव है सोकर करने लगें। मैं खड़ा-खड़ा करूंगा, तो आशा की जा सकती है कि वे लोग कम-से-कम बैठकर तो अवश्य ही करेंगे।'[1]

सोया ही कौन था?

स्वामीजी के जीवन की सक्रियता अनुकरणीय थी। अग्रोक्त घटना उसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कही जा सकती है—एक बार पाली में रात्रिकालीन व्याख्यान के पश्चात् दो भाई स्वामीजी के पास तत्त्वचर्चा करने के लिए आये। उनमें एक थे तत्कालीन स्थानकवासी समाज के अग्रणी विजयचन्दजी पटवा और दूसरे थे मूर्तिपूजक समाज के प्रमुख वर्धमानजी श्रीश्रीमाल। दोनों ही समृद्धिशाली व्यक्ति थे और परस्पर गहरे मित्र थे। समाज-भय से दिन में आना उन्हें कठिन लगा, अतः एकान्त अवसर देखकर प्रहर रात्रि व्यतीत होने के पश्चात् ही आये।

स्वामीजी ने संतों को सो जाने के लिए कहा और स्वयं आगन्तुकों के साथ तत्त्वचर्चा करने बैठ गये। दोनों व्यक्ति दुकान की चबूतरी के पास खड़े रहकर प्रश्न-प्रतिप्रश्न करने लगे। चर्चा लम्बी चली तब दोनों चबूतरी पर बैठ गये। फिर तो वे स्वामीजी के तत्त्वचिंतन की गहराइयों में ऐसी डुबकियां लगाने लगे कि समय का भान मानो खो ही गया। तत्त्वचर्चा आगे से आगे बढ़ती गई और रात्रि क्रमशः घटती गई। प्रातःकालीन प्रतिक्रमण की वेला आ गई। दोनों व्यक्तियों ने एक ही रात्रि में स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को परिपूर्णता के साथ समझा और खड़े होकर गुरु-धारणा कर ली।

कार्य-सिद्धि के पश्चात् स्वामीजी अपने आसन से उठे और सन्तों को जगाते हुए बोले—'साधुओ! उठो, प्रतिक्रमण का समय होने वाला है।'

साधु उठे और स्वामीजी से पूछने लगे—'आप कब जागे?'

स्वामीजी ने कहा—'पहले यह तो पूछो कि आप कब सोये? जागने का समय तो तभी बतलाया जा सकता है, जब कोई सोया हो।'[2]

पूर्वावस्था के इस प्रकार के श्रमी जीवन ने वृद्धावस्था में भी उन्हें सक्रिय बनाये रखा। उपकार के निमित्त इस प्रकार न जाने उन्होंने कितने रात्रि-जागरण किये थे?

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. २१२।

२. वही, दृ. ५३।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

लिखित उत्तर

स्वामीजी ने वि.सं. १८५९ का चतुर्मास पाली में किया। वहां कच्छ से आकर टीकमजी डोसी ने स्वामीजी के दर्शन किये। वे अपनी जिज्ञासाओं को उनतीस पत्रों (५८ पृष्ठों) में लिखकर लाये थे। स्वामीजी ने उनके सब प्रश्नों के लिखित उत्तर प्रदान किये। डोसीजी क्रमशः प्रदत्त उत्तरों का मनन करते तब तक स्वामीजी आगे के उत्तर लिख दिया करते थे। अपने सैद्धान्तिक प्रश्नों का अत्यन्त स्पष्ट और तर्क-संगत उत्तर पाकर वे इतने हर्ष-विह्वल हुए कि स्वामीजी के चरणों में सिर रखकर बालक के समान फफक-फफक कर रो पड़े। उन्होंने कहा—'यदि आप न होते तो मेरी क्या गति होती? आपने मेरे प्रश्नों के इस प्रकार उत्तर दिये हैं मानो केवलज्ञानी ने दिये हों।'[1]

स्वामीजी की अवस्था उस समय छिहत्तर वर्ष की थी, फिर भी वे एक युवक के समान निरन्तर परिश्रमरत रहा करते थे। वस्तुतः वृद्धत्व उसे ही घेरता है जो क्रिया-विरत हो जाता है। क्रियारत व्यक्ति आन्तरिक रूप से सदा युवक ही रहता है। स्वामीजी ने अट्ठावन पृष्ठों के जो लिखित उत्तर दिये थे, वे 'टीकम डोसी नी चर्चा' नाम से आज भी सुरक्षित हैं और उनके गहन ज्ञान तथा श्रमशीलता की गाथा कह रहे हैं।

बाटी की घाटी

स्वामीजी की सक्रियता बेजोड़ थी, पर वह उनकी मनोजन्य सबलता थी। साधारण जन की अपेक्षा उनकी शारीरिक सबलता भी बेजोड़ थी, फिर भी अवस्थाजन्य प्रभाव उन्हें अनुभव होने लगा था। सं. १८५८ में केलवा चतुर्मास के पश्चात् विहार करते हुए वे गोगूंदा तथा उसके पार्श्ववर्ती सभी क्षेत्रों में विचरे। पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण ऊबड़-खाबड़ मार्गों पर चलना तब ७५ वर्ष की अवस्था में स्वामीजी को कठिन लगने लगा। 'बाटी की घाटी', 'भूताला का घाट' और 'मोडी' आदि के पर्वतीय मार्गों को पार करते हुए उन्होंने थकान का अनुभव किया। परन्तु आगे गोगूंदा के श्रावकों की भक्ति का आकर्षण भी कोई कम नहीं था। 'भगवान् तो भक्ति के ही भूखे होते हैं'—यह जनोक्ति वस्तुतः एक सत्य का ही प्रस्तुतीकरण है। स्वामीजी ने अपनी थकान और श्रावकों की भक्ति, इन दोनों को उसी समय एक पद्य के द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की :

बाटी री घाटी हो चढ़तां दोहिली, दोहिलो भूताला रो घाट।
मोड़ी तो पग मोड़े अति ही घणा, आगै परखदा रो ठाट।
जिनेश्वर देवां! बुढ़ापो आयां हो चलणो दोहिलो।।

---

१. भिक्खु-दृष्टान्त, दृ. १८०, १९४।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

स्वामीजी की उपर्युक्त मेवाड़-यात्रा त्रिवार्षिक थी। नाथद्वारा, पुर और केलवा में क्रमशः तीन चतुर्मास करके वे गोगूंदा तक पधारे और फिर देवगढ़ होकर मारवाड़ में पधार गये। वह उनकी अंतिम मेवाड़-यात्रा थी।

अन्तिम विहार

स्वामीजी ने सम्वत् १८५९ का चतुर्मास सम्पन्न कर पाली से विहार किया। वह उनका अन्तिम विहार था। उस समय वे चाणोद और पीपाड़ के मध्यवर्ती ग्रामों को पवित्र करते हुए सोजत पधारे। वहां बाजार में स्थित रायमलजी मुंहता की छत्री में विराजे। सन्त-सतियों ने भी भिन्न-भिन्न स्थानों से विहार कर सोजत में स्वामीजी के दर्शन किये और आगामी चतुर्मास के लिए स्थानों का निर्देश प्राप्त किया। वहां सिरियारी से आये हुए श्रावक हुकमचंदजी आछा ने स्वामीजी को सिरियारी में चतुर्मास करने की प्रार्थना की। साथ ही बाजार में अपनी पक्की 'हाट' में विराजने की भी प्रार्थना की। स्वामीजी ने उनके आग्रह पर वहां का चतुर्मास स्वीकार कर लिया। सोजत से कंटालिया तथा बगड़ी होते हुए वे चतुर्मास करने के लिए सिरियारी पधारे और पूर्वोक्त पक्की हाट में विराजे।

सप्तर्षि-मण्डल

उस चतुर्मास में स्वामीजी की सेवा में (१) मुनि भारमलजी, (२) मुनि खेतसीजी, (३) मुनि उदयरामजी, (४) मुनि रायचन्दजी, (५) मुनि जीवोजी और (६) मुनि भगजी—ये छह सन्त थे। स्वामीजी सहित यह सप्तर्षि-मण्डल सिरियारी के भाग्य-आकाश में एक अनुपम ज्योति लिए हुए आया। स्थानीय श्रावकों में अत्यन्त उल्लास और हर्ष की एक लहर दौड़ गई।

उस समय का सिरियारी

सिरियारी उस समय मारवाड़ का एक अच्छा नगर गिना जाता था। जैन श्रावकों के भी वहां बड़ी संख्या में घर थे। नगर के अंचल से बिलकुल सटी हुई पर्वत-श्रेणी परकोटे की तरह उसकी सुरक्षा करती है। कुछ ही मील की दूरी पर अरावली पर्वत-श्रेणी भी सुरक्षा-भित्ति की ज्यों सुशोभित है। तत्कालीन मारवाड़ राज्य के दक्षिण-पूर्वी किनारे का यह नगर बहुत समृद्ध और सुन्दर गिना जाता था। स्वामीजी के समय वहां के अधिपति ठाकुर दौलतसिंहजी कूंपावत थे, जो कि राठौर सरदारों में बहुत प्रभावशाली गिने जाते थे।

सिरियारी में इस समय ओसवालों के बहुत थोड़े घर हैं। बहुत-से परिवार व्यापारार्थ दक्षिण भारत जा बसे हैं। कुछ परिवार ऐसे भी हैं, जो यदा-कदा मारवाड़ में आते हैं और अपने पुराने घरों की सार-संभाल कर पुनः चले जाते हैं। परन्तु स्वामीजी के समय में वहां ओसवालों के नौ-सौ-इक्यासी घर थे। उनमें से

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

सात-सौ-इक्यासी घर तो तेरापन्थी और शेष दो-सौ घर अन्य सम्प्रदायों की मान्यता वाले थे।[1]

स्थानीय इतिहास के अनुसार सिरियारी का ह्रास सं. १८७३ में राजनीतिक कारणों से हुआ। उस समय जोधपुर-नरेश मानसिंहजी को बंदी बनाकर उनके पुत्र छत्रसिंहजी ने राज्य पर अधिकार कर लिया था। उन्होंने निष्कंटक होने के लिए अपने पिता के कृपापात्रों को सताना एवं समाप्त करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी स्थिति में कुछ लोग अन्यत्र भाग गये। उनमें एक चैनकरणजी सिंघी भी थे। वे तत्कालीन सिरियारी ठाकुर मालमसिंहजी के पास चले गये। ठाकुर ने आश्वासन दिया कि हम आपकी सुरक्षा के लिए आवश्यकता होने पर नरेश की सेना का भी सामना करेंगे।[2]

नरेश को जब पता चला कि सिंघीजी सिरियारी में हैं, तो उन्होंने ठाकुर साहब को कहलवाया कि उन्हें जोधपुर भेज दें। ठाकुर ने उस आदेश को नहीं माना तो नरेश ने क्रुद्ध होकर सेना भेज दी। सेना के भय से काफी लोग वहां से अन्यत्र पलायन कर गये। ठाकुर ने परकोटे की पोल के दरवाजे बंद कर लिए। छह महीनों तक सेना पड़ी रही, पर न तो पोल के दरवाजे तोड़े जा सके और न परकोटे की भींत ही फोड़ी जा सकी। रक्षक बहुत सजग थे। सैनिकों को भींत के निकट नहीं फटकने देते थे।

नरेश ने तब अमीरखां पिंडारी को नई सेना के साथ वहां भेजा। वह चालाकी से अपनी सेना को पहाड़ियों का चक्कर दिलवा कर पीपली-दरवाजे पर ले आया और कहलवाया कि मेवाड़ से सहायता आई है। ठाकुर पीपली में विवाहित थे, अतः ससुराल से सहायता आई समझ कर धोखा खा गये। उन्होंने दरवाजा खोलने का आदेश दे दिया। दरवाजा खुलते ही सेना अन्दर घुसी और मारकाट तथा लूट-खसोट प्रारम्भ हो गई। धोखा समझते ही ठाकुर ने तत्काल प्रजा को सूचित किया कि जो जिधर भाग सकता हो माल-मता लेकर भाग जाए। दूसरी ओर उन्होंने राजपूतों को एकत्रित कर सेना को आगे बढ़ने से रोका। आठ घंटों तक अविश्रांत युद्ध करने के पश्चात् ठाकुर मारे गये। फिर तो नरेश की सेना ने सारे नगर को जमकर लूटा और जन-शून्य कर डाला। यह घटना सं. १८७३ मिगसर सुदी ८ की है। उसके बाद सिरियारी को फिर कभी ओसवालों की हजार घरों की बस्ती का गौरव नहीं मिल पाया। परन्तु यह तो स्वामीजी के दिवंगत होने के १३ वर्षों बाद

१. उपर्युक्त जानकारी स्थानीय निवासियों द्वारा प्राप्त है।

२. सिरियारी-ठिकाणे के पद्यबद्ध इतिहास के एक 'सिलोको' में कहा है—
'सुणज्यो सिंघीजी काढे नहीं देसां, लाखों फोजां सूं झड़ाको लेसां।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

की घटना है। स्वामीजी चतुर्मास करने पधारे, उस समय तो सिरयारी नगर जन और धन की दृष्टि से अपने पूरे यौवन पर था, ऐसा कहा जा सकता है।

अन्तिम चतुर्मास

वि. सं. १८६० का सिरियारी चतुर्मास स्वामीजी का अन्तिम चतुर्मास था। उस समय उनकी अवस्था सतहत्तर वर्ष की हो चुकी थी, फिर भी उनके शरीर में कोई रोग नहीं था। पांचों ही इन्द्रियां पूर्ण बलवान् और कार्यक्षम थीं। उनकी चाल भी बड़ी तेज थी। उपयोग तीव्र और निर्मल था। शारीरिक शक्ति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उस अन्तिम चतुर्मास में श्रावणी पूर्णिमा तक तो वे प्रतिदिन स्वयं गोचरी के लिए जाया करते और शिष्यों को आवश्यक सूत्र का अर्थ लिख-लिखकर समझाया करते थे। व्याख्यान देने तथा तत्त्व-चर्चा करने में भी उन्हें कभी थकान का अनुभव नहीं होता था।

दस्तों का रोग

श्रावण मास के अन्तिम दिनों में स्वामीजी के शरीर में साधारण दस्तों की शिकायत रहने लगी। औषध-सेवन किया गया, फिर भी कोई लाभ नहीं हुआ। इतने पर भी सभी ने उसे सामान्य गड़बड़ ही समझा। स्वयं स्वामीजी ने भी उसकी कोई परवाह नहीं की। वे प्रतिदिन गोचरी के लिए जाते तथा उत्सर्ग के लिए भी बाहर ही जाते।

भाद्रमास प्रारम्भ हुआ तभी से स्वामीजी को शरीर में श्रान्तता अनुभव होने लगी। फिर भी उनके साहसी मन ने उसे साधारण ही माना। सामने पर्युषण-पर्व के दिन आ गए। लोगों का आगमन बढ़ गया। त्याग-तपस्या एवं संवर-सामायिक आदि धार्मिक क्रियाओं में लोग अधिक समय लगाने लगे। तीनों समय व्याख्यान होता था। प्रत्येक समय भरपूर परिषद् रहती थी।

मृत्यु का पूर्वाभास

भाद्र शुक्ला चतुर्थी की बात है। स्वामीजी को अचानक ही ऐसा आभास होने लगा कि अब उनका आयुष्य पूर्ण हो गया है। जीवन के प्रति वे जितने सजग थे, मृत्यु के प्रति भी उतने ही सजग थे। वीरता का जीवन जीकर वीरता की मृत्यु स्वीकार करना उनके लिए उपयुक्त ही था। जीवन को उन्होंने जिस प्रकार से आदर्श बना लिया था, अब मृत्यु को भी आदर्श बनाने का समय आ गया था। समय को चूकने वाले वे थे ही कहां? जीवन से जितना सार खींचा, उससे भी कहीं अधिक मृत्यु से खींच लेने का उनका निश्चय था। उनका निश्चय और अटल सत्य मानो पर्यायवाची बने हुए थे। तत्काल उन्होंने अपनी मृत्यु की तैयारी प्रारम्भ कर दी।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

शिष्यों की प्रशंसा

जन्म और मृत्यु—ये दोनों जीवन-नदी के किनारे हैं। नदी को लांघने वाले को किनारों से क्या मोह हो सकता है? स्वामीजी न जीवन के प्रति आसक्त थे और न मृत्यु से भीत। मृत्यु की आसन्नता का आभास पाते ही अपने पास सेवा-निमित्त बैठे हुए मुनि खेतसीजी से बिना ही किसी भूमिका के उन्होंने कहा—'तुम, भारमल और टोकरजी बड़े सुविनीत शिष्यों के रूप में मुझे मिले। तुम लोगों ने मेरी बड़ी सेवा और भक्ति की है। तुम लोगों के कारण मेरे मन में बड़ी समाधि रही और संयम-पालन में मुझे बहुत सहायता मिली।'

अपने गुणवान् शिष्यों की प्रशंसा में कुछ शब्द कहे ही थे कि युवाचार्य भारमलजी आदि अन्य साधुओं का ध्यान भी उधर आकृष्ट हुआ। वे सब स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हो गये। श्रावक-श्राविकाएं भी स्वामीजी के शब्दों को सुनने के लिए एकत्रित हो गईं।

अन्तिम शिक्षा

स्वामीजी ने उस समय बड़े मार्मिक शब्दों में साधुओं को शिक्षा दी। वह उनकी अन्तिम शिक्षा थी। उसका सार इस प्रकार है :

१. जिस तरह तुम लोग मुझे बहुमान देते रहे और मेरे प्रति विश्वास रखते रहे, उसी तरह भारमल के प्रति भी रखना।

२. भारमल संघ के सारे संत-सतियों का नाथ है, अतः इसकी आज्ञा का आराधन करना। किसी मर्यादा या आज्ञा का भंग मत करना।

३. भारमल की आज्ञा का उल्लंघन कर जो व्यक्ति गण से पृथक् हो जाए, उसे साधु मत समझना। जो इसकी आज्ञा का आराधन करे और सुविनीत हो, उसकी सेवा करना। यह जिन-मार्ग की रीति है।

४. भारमल को गण का भार निभाने के योग्य समझ कर ही मैंने आचार्य-पद दिया है। इसकी प्रकृति बड़ी भद्र है। इसमें शुद्ध साधु की चाल है और इसकी नीति भी चारित्रपरक है। इसमें किसी को कोई शंका का स्थान नहीं है।

५. शुद्ध आचारवान् साधुओं की संगति करना और अनाचारियों से दूर रहना। अरिहंत और गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले स्वच्छन्द व्यक्तियों को वन्दन-योग्य मत समझना।

६. उसन्नों, पासत्थों, कुशीलियों, प्रमादियों और अपछन्दों की संगति मत करना। भगवान् ने ज्ञाता आदि अनेक आगमों में उसका निषेध किया है। उपासकदशांग में आनन्द श्रावक के अभिग्रह का जो वर्णन है, उसके

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

परमार्थ को समझकर इस बात का पालन करना। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएं—सबको इस रीति का सुचारु रूप से पालन करना चाहिए।

७. सारे साधु और साध्वियां परस्पर में विशेष प्रीतिभाव रखना। एक-दूसरे के प्रति राग-द्वेष मत करना और न कभी दलबन्दी करना। दलबन्दी करने वाला अविनयी व्यक्ति एकल-विहारी से भी बुरा होता है।

८. यदि कोई दीक्षा लेना चाहे, तो पहले उसके मन की विराग-भावना की परीक्षा करके दीक्षा देना। हर किसी को मूंड कर संख्या बढ़ाने के लालच में मत पड़ जाना।

९. श्रद्धा, आचार, कल्प और सूत्र की कोई बात समझ में न आये, तो उसे गुरु तथा बुद्धिमान् साधुओं के विश्वास से मान लेना। विश्वास नहीं कर पाओ तो उसे लेकर खींचतान मत करना, मन में धैर्य रखकर केवलियों पर छोड़ देना।

१०. किसी 'बोल' (बात) की स्थापना गुरु की अनुमति के बिना स्वच्छन्द मति से मत करना।

११. एक, दो या तीन आदि कितने ही व्यक्ति गण से पृथक् क्यों न हो जाएं, परन्तु उनकी कोई परवाह न करते हुए शुद्धता से साधु-आचार का पालन करते रहना।

१२. एक गुरु की आज्ञा में रहना। इस मर्यादा को परम्परा के रूप में सदैव निभाना। जो लिखित मर्यादाएं पहले से हैं, उनका पूर्ण रूप से पालन करना।

१३. कोई साधु दोष-सेवन कर झूठ बोले और प्रायश्चित्त न ले, तो उसे गण से पृथक् कर देना।[१]

स्वामीजी का यह शिक्षात्मक उपदेश धार्मिक होने के साथ-साथ इतना आकस्मिक था कि सुनने वालों को बड़ा आश्चर्य हुआ। युवाचार्य भारमलजी आदि संतों ने पूछा—'क्या आपके शरीर में कोई विशेष कष्ट है?'

स्वामीजी ने कहा—'नहीं, चालू कष्ट के अतिरिक्त कोई कष्ट नहीं है, परन्तु मुझे लगता है कि मेरा आयुष्य अब पूर्ण होने के समीप है। इसलिए यह अन्तिम शिक्षा दी है। मुझे मृत्यु का तनिक भी भय नहीं है। मेरे हृदय में परम आनन्द है। मैंने सत्यतापूर्वक जिनेश्वरदेव के मार्ग को बतलाया है। अनेक

---

१. भि. ज. र., ५५।१ से २८।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

व्यक्तियों के हृदय में सम्यक्त्व का बीजारोपण किया है। अनेकों को बारह व्रत ग्रहण कराये हैं और अनेकों को संयममार्ग में प्रव्रजित किया है। तत्त्वज्ञान विषयक मैंने जो पद्य-रचनाएं की हैं, वे सब सूत्र-न्याय के अनुसार हैं। उनके पीछे कोई अभिनिवेश नहीं है। शुद्ध अन्तःकरण से मुझे जैसा ज्ञात हुआ, वैसा ही मैंने कहा है। मैं अपने को कृतकृत्य मानता हूं। मेरा मन पूर्णरूप से शांत है। मैं किसी प्रकार की अशान्ति या कमी का अनुभव नहीं करता।'

स्वामीजी ने पुनः शिक्षा देते हुए कहा—'तुम लोगों से मेरा यही कथन है कि स्थिरचित्त होकर भगवान् के मार्ग का अनुसरण करना। दुर्बुद्धि और कदाग्रह को दूर छोड़कर आत्मा की उज्ज्वलता हो, वैसा कार्य करते रहना। शुद्धाचार की आराधना में कभी स्वल्पमात्र भी मत चूकना। समिति, गुप्ति और महाव्रतों का सावधानीपूर्वक पालन करना। शिष्य-शिष्याओं पर तथा वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों पर किसी प्रकार का ममत्व मत रखना। प्रमाद को सदा दूर करना। पुद्गल-आसक्तियों में मत फंसना। संयम में शुद्ध मन से अनुरक्त रहना।'[१]

स्वामीजी की यह अन्तिम हित-शिक्षा थी। इसमें उनके सम्पूर्ण जीवन के बहुमुखी अनुभवों का सार भरा हुआ था। स्वामीजी ने अपने जीवनरूपी समुद्र को मथकर जो अमृत प्राप्त किया था, अन्तिम शिक्षा उसी की एक घूंट थी, जो संघ की तरुणिमा को अमरता प्रदान करने में समर्थ हुई।

मोह मत करना

बाल मुनि रायचन्दजी स्वामीजी के एकदम निकट बैठे थे। उन्हें शिक्षा प्रदान करते हुए उन्होंने कहा—'तुम बुद्धिमान् बालक हो। अपने आचार और व्यवहार में पूर्ण सजग रहना। निर्मल ध्यान रखना। मेरे प्रति किसी प्रकार का मोह मत करना।' मुनि रायचन्दजी ने कहा—'आप आत्म-कल्याण कर रहे हैं। अपने मनुष्य-जन्म को सफल बनाते हुए पंडित-मरण के द्वारा आप उत्तम गति को प्राप्त होंगे। ऐसी स्थिति में मैं मोह क्यों करने लगा?'[२]

मेरे से बहुत बड़े

युवाचार्य भारमलजी स्वामीजी के अनन्य भक्त थे। लोग स्वामीजी और उनकी जोड़ी को भगवान् महावीर और गणधर गौतम से उपमित करते थे। स्वामीजी को अन्तिम प्रस्थान की तैयारी करते हुए देखकर उनका हृदय व्यथा से भर गया। वे कहने लगे—'आपके चरणों में रहते हुए मन सदैव साहस से भरा रहा। अब आप

---

१. भि. ज. र., ५६/१ से १३।

२. भि. च. (वेणी.), ७/६,७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

आगे की तैयारी करने लगे हैं। आप जैसे ज्ञानी और पवित्रात्मा गुरु के दर्शनों का वियोग मेरे लिए अत्यन्त दुस्सह हो जायेगा।'

स्वामीजी ने कहा—'तुम अपने संयम की निरतिचार पालना करते रहना। किसी प्रकार की चिंता मत करना। निर्मल-चारित्र की आराधना करके जब तुम देवगति में जाओगे तब महाविदेह में अरिहंतों, गणधरों तथा मेरे से बहुत बड़े ज्ञानी और महान् संयमी अणगारों के दर्शन प्राप्त कर सकोगे। तुम स्वयं भी शीघ्र ही कर्म-बन्धनों को तोड़ कर मुक्ति प्राप्त करोगे।'[1]

कोई कामना नहीं

मुनि खेतसीजी ने अत्यन्त निकटता से स्वामीजी की सेवा की थी। वे सत्ययुग के मुनियों जैसे पवित्र-हृदय थे। इसीलिए उन्हें 'सतजुगी' कहा जाता था। उन्होंने स्वामीजी से कहा—'गुरुवर! आपके विरह की सम्भावना से ही हम लोग तो सिहर उठते हैं। आपके तो यहां भी झंड है और आगे भी झंड लगा रहेगा। आप किसी उच्च देवलोक में जाएंगे, ऐसा प्रतीत होता है।'

स्वामीजी बोले—'मुझे न किसी प्रकार के झंड की आकांक्षा है और न किसी देवलोक की। वहां केवल विनाशशील पौद्गलिक सुख होते हैं। उनमें आसक्त होने वाले को अनन्त दुःखों का भागी बनना पड़ता है। मैं ऐसे भंगुर सुखों की कोई कामना नहीं करता। मेरा मन तो मुक्ति-सुखों में लीन है। तुम लोग भी पौद्गलिक सुखों की वांछा मत करना। किसी भी प्रकार के व्यामोह में मत फंसना।'

स्वामीजी की चित्तवृत्तियों की पावनता का अनुमान जीवन के संध्याकाल में प्रदान की गई पूर्वोक्त शिक्षाओं तथा मुनिजनों से हुए वार्तालाप से सुस्पष्ट लगाया जा सकता है। वे पौद्गलिक सुखों से पूर्णतः विरक्त थे, अतः उनके जीवन-प्रसंगों से संपृक्त रहने वालों का तो कहना ही क्या, उन्हें सुनने वालों के मन में भी विरक्ति की लहरें हिलोरें लेने लगती हैं।

---

१. भि. ज. र., ५७/१ से ७।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

:११:

महाप्रस्थान

आत्म-आलोचन

स्वामी भीखणजी को जब से अपने आयुष्य का अवसान आसन्न दिखाई दिया तभी से वे अपने महाप्रस्थान की तैयारी में लग गये। उनका चारित्रिक जीवन सदैव बहुत निर्मल रहा, फिर भी छद्मस्थता के कारण ज्ञात-अज्ञात भाव से कदाचित् कोई दोष लगने की संभावना तो रहती ही है। वे उसकी आलोचना कर स्वयं को पूर्णतः निःशल्य एवं निर्मल करने को उद्यत हुए। उन्होंने अरिहंत एवं सिद्धों की साक्षी से तथा अपने प्रमुख शिष्य युवाचार्य भारमलजी एवं सत्ययुगी मुनि खेतसीजी की उपस्थिति में विशुद्ध चित्त से गहरा आत्म-निरीक्षण किया और महाव्रतों तथा समिति-गुप्तियों के अतिचारों को स्मरण करके उनके द्वारा किसी प्रकार का ज्ञात तथा अज्ञात दोष लगा हो तो उसके लिए **मिच्छा मि दुक्कडं** कह कर आत्म-शुद्धि की।

रागी के प्रति राग-भाव और द्वेषी के प्रति द्वेष-भाव आया हो, पांच आश्रवों में से किसी का सेवन किया हो, अठारह पापों में से किसी प्रकार का दोष लगा हो तो तीन करण, तीन योग से **मिच्छा मि दुक्कडं** ग्रहण किया। अध्यात्म-क्षेत्र में इस प्रक्रिया को आन्तरिक स्नान कहा जाता है।

खमत-खामणा

स्वामीजी के मन में प्राणी-मात्र के प्रति मैत्रीभाव था, फिर भी छद्मस्थतावश किसी प्राणी के प्रति अमैत्री या राग-द्वेष का भाव आया हो, उनकी किसी प्रकार की भी विराधना हुई हो तो उन सबसे उन्होंने शुद्ध अन्तःकरण से **खमत-खामणा** किया। पूर्ण निःशल्यता के लिए क्षमा-याचना के समान ही क्षमादान भी आवश्यक होता है। उसके लिए **खमत-खामणा** शब्द दोनों भावों का वाहक है।

चौरासी लाख जीवयोनि से **खमत-खामणा** करने के पश्चात् उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य युवाचार्यश्री भारमलजी से कहा—'तुम्हारे प्रति भी कभी राग-द्वेष की कोई लहर आई हो तो बारम्बार **खमत-खामणा** करता हूं।' फिर उन्होंने

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

कहा—'साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं को भी शिक्षा देने, तत्त्व-चर्चा बतलाने या अन्य किसी कार्य में कठोर व्यवहार एवं कटु भाषा का प्रयोग किया हो तो उनसे बारम्बार **खमत-खामणा** करता हूं। गण से पृथक् हुए साधु चंद्रभाणजी, तिलोकचन्दजी आदि जो इस समय थली में विहार कर रहे हैं, मिलने पर उनसे भी मेरे **खमत-खामणा** कहना। बाईस टोलों, संवेगियों, यतियों तथा अन्य भी अनेक व्यक्तियों से समय-समय पर शास्त्रार्थ करने का काम पड़ा है, अनेक समुदायों के आचार-व्यवहार की आलोचना-प्रत्यालोचना करने का काम पड़ा है, उन सबसे सरल-मना **खमत-खामणा** करता हूं।' इस प्रकार अपने संपूर्ण जीवन का सिंहावलोकन करते हुए स्वामीजी ने स्वयं को पूर्णतः निःशल्य एवं सद्यःस्नात की तरह निर्मलतर बना लिया।[1]

अब इस देह का क्या मूल्य ?

भाद्र शुक्ला पंचमी का दिन सांवत्सरिक पर्व का दिन था। समस्त श्रमण-श्रमणी-वृन्द के लिए इस दिन का निर्जल उपवास अनिवार्य होता है। स्वामीजी ने उपवास किया। निर्जलता के कारण उन्हें उस दिन बड़ा तीव्र प्यास का परीषह रहा, परन्तु उन्होंने उसे अत्यन्त समभाव से सहन किया।

षष्ठी के दिन अति स्वल्प-सा भोजन लेकर पारण किया तथा औषध भी ग्रहण किया, परन्तु उसकी सम्यक् परिणति नहीं हुई। तत्काल वमन के द्वारा सब बाहर निकल गया। स्वामीजी ने तब उस दिन के लिए तीनों आहारों का प्रत्याख्यान कर दिया। सप्तमी और अष्टमी को भी थोड़ा-सा आहार लेकर तत्काल त्याग कर दिया। मुनि खेतसीजी ने तब अनुनयभरे शब्दों में उपालंभ देते हुए कहा—'आपको इस प्रकार झट से आहार-त्याग नहीं करना चाहिए।' स्वामीजी बोले—'अब इस देह का क्या मूल्य है? अब तो इसे क्षीण करते हुए वैराग्य बढ़ाना है।'

---

१. (क) मुनि वेणीरामजी ने (भि. च. ढाल ६,७ में) भाद्र शुक्ला ४ को पहले अन्तिम शिक्षा और फिर उसी दिन आत्मालोचन एवं 'खमत-खामणा' की बात कही है।

(ख) जयाचार्य ने भी (भि. ज. र. ढाल ५४ से ५८ तक में) ये कार्य उक्त क्रम से ही भाद्र शुक्ला ४ को सम्पन्न हुए बतलाये हैं।

(ग) परंतु मुनि हेमराजजी ने (भि. च. ढाल ६,७ में) पहले आत्मालोचन एवं 'खमत-खामणा' और फिर अन्तिम शिक्षा देना कहा है। उसके बाद पर्युषण पर्व का प्रारंभ (ढाल ८ दोहा १,२ में) बतलाया है।

(घ) मुनि कालूजी ने भी ख्यात (भिक्षु वर्णन) में पर्युषण से पूर्व आत्मालोचन करना बतलाया है। वहां लिखा है—'पजुसणा पहला आलोवणा निंदणा सर्व करी नै निरमल पुरुष छा पिण विशेष निरमल थया।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

नवमी के दिन स्वामीजी ने आहार-प्रत्याख्यान का विचार किया, परन्तु मुनि खेतसीजी ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक उनके हाथ से कुछ आहार ग्रहण करने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने अपने विनीत शिष्य के आग्रह को सम्मान देते हुए उनके द्वारा लाये गये भोजन में से थोड़ा-सा चखकर उस दिन के लिए भी आहार का परित्याग कर दिया। आहारग्रहण करने की इच्छा नहीं रही थी।

अन्तिम भोजन

दशमी के दिन स्वामीजी ने फिर आहार-प्रत्याख्यान का विचार प्रकट किया, परन्तु युवाचार्य भारमलजी ने अपने हाथ से उन्हें अन्तिम रूप से कुछ लेने का आग्रह किया। विनय-शीलता के मूर्तरूप अपने शिष्य की इस अभिलाषा को स्वामीजी कैसे ठुकराते? उन्होंने गिनती कराकर चालीस चावल और दस मोठ उनके हाथ से लिए और उनके उपरान्त उस दिन के लिए भी आहार-परित्याग कर दिया।

दो दिन का उपवास

एकादशी के दिन उन्होंने पहले से ही यह स्पष्ट कर दिया कि मेरा विचार अब आहार लेने का नहीं है। दस्तों की बीमारी थी, अतः औषधि रूप में आवश्यक होने पर अमल और पानी का आगार रखकर उस दिन के लिए आहार का परित्याग कर दिया। फिर द्वादशी के दिन जल के अतिरिक्त तीनों आहारों का परित्याग कर बेला किया। इस प्रकार शरीर की ओर से औदासीन्य धारण कर पौद्‌गलिक सुखों को ठुकराते हुए स्वामीजी अनशनपूर्वक देह-विसर्जन की तैयारी करने लगे।

पराक्रम क्षीण पड़ रहा है

द्वादशी के मध्याह्नोत्तर काल में स्वामीजी कच्ची हाट से स्वयं चलकर उसके सामने वाली पक्की हाट में पधारे। शिष्यों ने बिछौना कर दिया, उस पर वे शान्तिपूर्वक विश्राम करने लगे। विश्राम करते कुछ ही समय हुआ था कि इतने में बाल साधु रायचंदजी ने पास आकर कहा—'स्वामिन्! कृपा कर दर्शन दीजिये।' स्वामीजी ने अपने नेत्र खोले और बाल साधु की ओर देखते हुए उनके मस्तक पर अपना हाथ रखा। ऋषि रायचन्दजी अवस्था में बालक ही थे, किन्तु बड़े समझदार थे। स्वामीजी की शारीरिक स्थिति देखकर उन्होंने कहा—'स्वामिन्! अब तो आपके शरीर का पराक्रम क्षीण पड़ रहा लगता है।'[1]

---

१. हेम. भि. च., ८/५

'साधां मांहोंमां विचार करनै, रायचंदजी नै मेल्यो सीखाय।
पूज नै कहै पुद्‌गल हटिया दीसै, सुण नै सिंह जिम उठ्या मुनिराय।।'

मुनि हेमराजजी के उक्त कथनानुसार यह विचार संतों ने परस्पर किया था कि स्वामीजी के शारीरिक पुद्‌गल क्षीण पड़ रहे हैं। स्वामीजी के सम्मुख उक्त भावना रखने के लिए उन्होंने बाल मुनि रायचंदजी को सिखला कर भेजा, तब उन्होंने वहां जाकर वैसा कहा।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

यह सुनते ही स्वामीजी उसी प्रकार उठ बैठे, जैसे कोई सोया हुआ सिंह जाग़कर उंठ बैठता है। वे अपने शरीर का सार खींच चुके थे, अब वह उनके लिए असार रह गया था। जब तक वह संयम-जीवन में सहायक होता रहा, तब तक वे उसका अनासक्त भाव से पालन-पोषण करते रहे और जब वह सहायक होने में असक्त लगने लगा, तो वे उसी अनासक्त भाव से उसे विसर्जित करने को उद्यत हो गये। स्वामीजी की दृष्टि में शरीर एक खेत था, जिस पर तप-संयम की खेती बोई गई थी। अब वह पूर्ण रूप से पक चुकी थी। उसे काटकर धान्य एकत्रित करने तथा शिलोञ्छ का कार्य ही अवशिष्ट था, जो कि संलेखना और संथारे के द्वारा किया जाना था।

आजीवन-अनशन

स्वामीजी ने तत्काल मुनि भारमलजी और खेतसीजी को अपने पास बुलाया। याद करते ही दोनों संत स्वामीजी के पास उपस्थित हुए। उनके आते ही स्वामीजी ने फरमाया—'अब मैंने आजीवन अनशन का निश्चय कर लिया है।' उन्होंने तत्काल अरिहन्त तथा सिद्ध भगवान् को 'नमोत्थुणं' के पाठ से वन्दन किया और श्रावक-श्राविकाओं के सम्मुख ऊंचे स्वर से यावज्जीवन के लिए तीनों आहारों का प्रत्याख्यान कर 'संथारा' कर दिया।

संतों ने कहा—'दस्तों की गड़बड़ थी, अतः औषध के रूप में अमल का तो आगार रख लिया होता।'

स्वामीजी ने उत्तर दिया—'आगार किसलिए रखना था? अब कौन-सी शरीर की रक्षा करनी है?'

स्वामीजी ने 'संथारा' भाद्रपद शुक्ला द्वादशी सोमवार को सायंकाल में किया था। उस समय लगभग दो घड़ी (४८ मिनट) दिन था। संथारे की बात हवा की तरह चारों ओर फैल गई। रात्रिकाल में ही आस-पास के गांवों के लोग दर्शन के लिए उमड़ पड़े। भीड़ इतनी हो गई कि बाजार में लोगों का समा पाना कठिन हो गया।

अनशन-काल में अनेक प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान कर लोगों ने अपनी सक्रिय श्रद्धांजलियां स्वामीजी को अर्पित कीं। संथारे का प्रभाव स्वामीजी के अनुयायियों पर तो हुआ ही, अनेक उन व्यक्तियों पर भी हुआ, जो जन्मभर स्वामीजी के विरोधी रहे थे। जनता आश्चर्यचकित होकर उनके तपोमय जीवन के सामने श्रद्धावनत हो रही थी।

व्याख्यान दो

सूर्यास्त होने के पश्चात् स्वामीजी ने सांयकालीन प्रतिक्रमण किया और उसके पश्चात् युवाचार्य भारमलजी से बोले—'व्याख्यान दो।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

युवाचार्यश्री ने कहा—'स्वामिन्! आपके 'संथारा' है तो यह रात्रिकालीन व्याख्यान अपने आप में क्या विशेषता रखता है? लोग आपकी सेवा में बैठे हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'किसी साधु या साध्वी के 'संथारा' करने पर तो वहां धर्मोपदेश किया जाता है, फिर मेरे संथारे के समय ऐसा क्यों न हो?'

स्वामीजी की आज्ञा एवं भावना को शिरोधार्य कर युवाचार्य भारमलजी ने तब धर्मोपदेश किया। स्वामीजी ने उसे बड़ी तल्लीनतापूर्वक सुना। इस प्रकार स्वामीजी जीवन के अवशिष्ट समय को पूर्णरूपेण स्वाध्याय और ध्यान में खपा देना चाहते थे।

दर्शनोत्सुक जनता

द्वादशी की रात्रि व्यतीत हुई और त्रयोदशी का सूर्य अनन्त संभावनाओं का प्रकाश लिए उदित हुआ। वह दिन स्वामीजी के भौतिक शरीर के लिए अन्तिम दिन था। ज्यों-ज्यों 'संथारे' के समाचार आगे-से-आगे पहुंचे, त्यों-त्यों जनता उमड़ती हुई चली आई। स्वामीजी के अन्तिम-दर्शन के लिए सिरियारी में मेला-सा लग गया।

एक प्रहर दिन चढ़ जाने के पश्चात् स्वामीजी ने कुछ जल ग्रहण किया। श्रावक-श्राविकाएं तथा साधु पास में बैठे हुए थे। स्वामीजी के मुखारविन्द को देखकर वे सब परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। स्वामीजी ध्यानावस्थित होकर परिणामों की निर्मलता को क्रमिक विकस्वर करते जा रहे थे।

अदृष्ट का आभास

लगभग डेढ़ प्रहर दिन चढ़ा होगा कि सबको आश्चर्यचकित कर देने वाली एक घटना घटित हुई। स्वामीजी ने साधुओं को कहा—'साधु आ रहे हैं, उनके सामने जाओ। साध्वियां भी आ रही हैं।'[1]

स्वामीजी द्वारा अचानक कही गई उन बातों पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। गुलोजी लूनिया आदि सेवा में उपस्थित जिन व्यक्तियों ने थोड़ा-बहुत ध्यान

---

१. वेणी. भि. च., १०/६,१०

'साध श्रावक सुणतां कह्यो सामजी, सूंस व्रत हो करावो सैर मांय।
वले कह्यो साध आवै अछै, आरजियां हो आवै छै चलाय।।
चोथो शब्द इसड़ो कह्यो, धीरा बोल्या हो तिणरी विगत न कांय।
गुलोजी लूण्यो कहै स्वामजी तणो, मन गयो हो साधां-आर्यां रै मांय।।'

मुनि वेणीरामजी के उक्त कथनानुसार स्वामीजी ने उस अन्तिम अवसर पर चार बातें कही थीं। वे इस प्रकार हैं—(१) गांव में त्याग-तपस्या करवाओ (२) साधु आ रहे हैं, सामने जाओ (३) आर्याएं आ रही हैं (४) चौथी बात अत्यन्त धीमे स्वर से कही गई थी, अतः सुनी नहीं जा सकी।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

दिया, उनका निष्कर्ष यह रहा कि स्वामीजी संभवतः इस समय पूर्ण सावधान अवस्था में नहीं हैं। उनका ध्यान साधु-आर्याओं में चला गया है, इसीलिए वे ऐसा कह रहे हैं।

स्वामीजी के उस कथन को एक मुहूर्त समय भी नहीं हो पाया था कि दो साधु मुनि वेणीरामजी और कुसालजी वहां पहुंचे। वे पाली से आये थे। उसके एक मुहूर्त पश्चात् ही तीन साध्वियां—बखतूजी, झूमाजी और डाहांजी वहां पहुंचीं। कहा जाता है कि वे खैरवा से आई थीं।

आये हुए साधु-साध्वियों ने स्वामीजी को वन्दन किया, तब उसे स्वीकार करते हुए स्वामीजी ने हाथ के संकेत से सबको सुख-पृच्छा की। साधुओं के मस्तक पर हाथ रखा। दो अंगुलियां आंखों की ओर उठाकर मुनि वेणीरामजी से उनकी आंखों की गड़बड़ के बारे में साता पूछी। यद्यपि उनकी बोलने की शक्ति क्षीण हो गई थी, फिर भी सावधानी पूर्ण रूप से बनी हुई थी।

साधु-साध्वियों के इस अप्रत्याशित आगमन ने सभी को आश्चर्याभिभूत बना दिया। जिन्होंने स्वामीजी के कथन का यह निष्कर्ष निकाला था कि वे असावधान अवस्था में कुछ कह रहे हैं, उन्हें अपना निश्चय बदलना पड़ा और यह मानना पड़ा कि स्वामीजी को अवश्य ही अदृष्ट का आभास हुआ है।

स्वामीजी ने जो-कुछ कहा था, वह सब यथावत् मिल गया। फिर भी इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया कि स्वामीजी को पूछकर यह निश्चित कर लिया जाये कि उन्होंने जो बातें कहीं हैं, वे किसी विशिष्ट ज्ञान के आधार पर कही हैं अथवा साधारण अनुमान के आधार पर? मुनि वेणीरामजी, जो कि उस समय दर्शनार्थ आये थे, इस विषय में कहते हैं—'लगता है कि अपनी अन्तिम अवस्था में स्वामीजी को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था, परन्तु पूछा नहीं गया, इसलिए निश्चित तो केवली ही जानते हैं।'[१]

महाप्रस्थान

स्वामीजी को लेटे हुए काफी देर हो गई थी, अतः उनकी बैठने की इच्छा होने पर साधुओं ने सहारा देकर उन्हें बिठाया। वे ध्यानासन में बैठे थे। साधु-समूह पास में बैठा था। ऐसा लग रहा था मानो उनके शरीर में कोई रोग नहीं है, परन्तु उस ध्यान मुद्रा में बैठे-बैठे ही अचानक स्वामीजी के आत्म-प्रदेश खिंचे और वे शान्तिपूर्वक देहमुक्त हो गये।

---

१. वेणी. भि. च., ११/दो. ४

'छेहड़े स्वाम भिक्षु तणै, अवधि उपनो जणाय।
निश्चै तो जाणै केवली, ताण न करवी ताय।।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

जयाचार्य ने उस विषय का वर्णन करते हुए लिखा है—'लोग कहते हैं कि दरजियों ने वैकुंठी तैयार करके इधर सूई अपनी पाग में डाली और उधर स्वामीजी का स्वर्गवास हो गया।' उस समय लगभग डेढ़ प्रहर दिन अवशिष्ट था। वि. सं. १८६० भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी, मंगलवार के दिन सात प्रहर का संथारा प्राप्त कर सिरियारी में स्वामीजी दिवंगत हुए। साधुओं ने स्वामीजी के शरीर को 'वोसराया' और चार लोगस्स का ध्यान किया। उस दिन के लिए आहार का भी सबने परित्याग कर दिया।[1]

जयाचार्य के शब्दों में स्वामीजी एक मणिधारी पुरुष थे। उन जैसा समाधिपूर्ण महाप्रस्थान भी विरल मनुष्य का ही होता है। स्वामीजी का जीवन एक सफल मनुष्य का जीवन था। उन्होंने जिस कार्य को अपने कर्मठ हाथों में लिया, उसे पूर्ण करके ही छोड़ा। जैन-शासन में वे एक प्रकाश बन कर आये और अपनी दीप्ति के द्वारा जन-जन को सन्मार्ग दिखा कर चले गये। कृतकृत्य स्वामीजी का जीवन सभी व्यक्तियों के लिए प्रेरणा-स्रोत बन गया।

---

१. भि. ज. र., ६२/दो. २

'साधां तन वोसिराय नै, चिउं लोगस चित्त धार।
कियो तदा शुद्ध काउसग्ग, अरु तिण दिन तज आहार।।'

स्वामीजी के समय में सायंकालीन गोचरी का निषेध था, अतः दोनों समय का आहार मध्याह्न की गोचरी से ही लाया जाता था। उपर्युक्त पद्य के कथनानुसार स्वामीजी के दिवंगत होने पर संतों ने उस दिन के लिए आहार का प्रत्याख्यान कर दिया था। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि सायंकालीन भोजन के लिए लाये गये आहार का उस दिन परिष्ठापन किया गया था। यह भी सम्भव है कि उस दिन स्वामीजी के संथारे के उपलक्ष्य में साधुओं ने एकाशन किया हो, ऐसी स्थिति में सायंकाल के लिए आहार लाने और फिर उसके परिष्ठापन की बात संभव नहीं होती।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

:१२:

शेष-अशेष

अग्नि-समर्पित

स्वामी भीखणजी के अन्तिम दर्शन करने के लिए आये हुए स्थानीय तथा बाहर के लोग इतने थे कि बाजार में समा नहीं रहे थे। कहा जाता है कि १०८ गांवों के लोग उस समय वहां एकत्रित थे। तेरह गुमटियों की वैकुंठी तैयार हो चुकी थी। देह को अग्नि-समर्पित करते समय अन्य जो-जो सामग्री उस समय आवश्यक समझी जाती थी, वह सब पहले से ही एकत्रित कर ली गई थी। दिवंगत होने के अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् शरीर गृहस्थों को संभला दिया गया। गृहस्थों ने अपनी परम्परा के अनुरूप उसे नहला-धुला कर नये वस्त्र पहनाये और फिर सुगंधित द्रव्यों से चर्चित कर वैकुंठी में विराजमान कर दिया। शोभायात्रा में असाधारण भीड़ थी। उक्त अवसर पर लगभग पांच सौ रुपयों की 'उछाल' भी की गई।

नगर से सटकर बहने वाली बरसाती नदी के वाम तट पर खड़े पर्वत की उपत्यका से थोड़ी ऊंची भूमि देखकर चिता बनाई गई और उस पर वैकुंठी रख दी गई। लाखों-लाखों लोगों द्वारा पूजनीय स्वामीजी के उस मुक्त अधिष्ठान को वहां अग्नि-समर्पित कर दिया गया। अवशेष के रूप में जो राख बची उसे सहेज कर एकत्रित किया गया और उस स्थान पर स्मारक के रूप में एक चबूतरे का निर्माण करवा दिया गया।

स्मारक की विस्मृति

स्वामीजी को दिवंगत हुए तेरह वर्ष ही व्यतीत हुए थे कि सिरियारी पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। वह सं. १८७३ का समय था। जोधपुर राज्य की आंतरिक दुर्घटनाओं ने सिरियारी नगर को एक अनाहूत युद्ध की भट्टी में झोंक दिया। बहुत लोग काट डाले गये तो बहुत-सारे प्राण बचाने के लिए भाग गये और अन्यत्र जा बसे। सारी व्यवस्थाएं अस्त-व्यस्त हो गईं। वैसी स्थिति में स्वामीजी का स्मारक भी विस्मृति की चादर ओढ़कर गहरी नींद में सो गया। धीरे-धीरे वर्षा और आंधी के निर्मम थपेड़ों तथा पर्वत से उतरते पानी के रेलों ने उसे इतना निर्बल

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

बना दिया कि पत्थरों का सुनियोजित पारस्परिक एकत्व प्रलंब समय तक निभ नहीं पाया। कुछ हिस्सा बिखर गया। शेष पर मिट्टी और घास ने अपना कब्जा जमा लिया। इस प्रकार चबूतरे का दृश्य अस्तित्व समाप्त हो गया। दृश्य से अदृश्य की ओर उसकी वह यात्रा शायद अनेक दशाब्दियों में ही सम्पन्न हुई थी। अदृश्य होने के पश्चात् भी अनेक दशाब्दियां गुजर गई थीं, परन्तु लगता है कभी किसी को उसकी स्मृति नहीं आई।

स्मृति और खोज

सं. २०१७ का वर्ष तेरापंथ की द्विशताब्दी का वर्ष था। उसे मनाये जाने के निर्णय के साथ ही स्वामीजी के उस स्मारक को भी याद किया गया। उसके नवीनीकरण का निश्चय हुआ। चबूतरे का निश्चित स्थान कौनसा है? —यह किसी को भी ज्ञात नहीं था, अतः खोज प्रारंभ हुई। पुराने व्यक्तियों को पूछा गया, पुरानी बहियां देखी गईं, सरकारी कागजों की छानबीन की गई, यहां तक कि कुलगुरु की बहियों को भी निकलवाकर उलटा-पलटा गया। उन सबसे चबूतरे का विवरण तो उपलब्ध हुआ, परन्तु स्थान का निश्चित निर्धारण किया जा सके ऐसे कोई असंदिग्ध चिह्न उपलब्ध नहीं हो सके। उक्त खोज में मुख्यतः स्थानीय श्रावक बस्तीमलजी छाजेड़ संलग्न थे। उनके अतिरिक्त सरदारशहर-निवासी सम्पतमल गधैया, मन्नालालजी बरड़िया तथा सोजतरोड़-निवासी रामचन्द सोनी आदि कई युवक भी अनिश्चय के उस वातावरण को निश्चय में बदल डालने का संकल्प लेकर कार्यरत थे।

एक दिन पश्चिम रात्रि के समय सम्पतमल गधैया को स्वप्न में पहाड़ी का एक स्थान दिखाई दिया। उसी के साथ किसी के ये शब्द सुनाई दिये कि चबूतरे को इस स्थान पर खोजो। प्रातः तीनों युवक स्वप्न-संकेतित स्थान की खोज में लग गये। थोड़ी ही देर में उन्होंने वह स्थान खोज निकाला। समस्या फिर भी हल नहीं हुई। चबूतरे का वहां कोई अवशेष दिखाई नहीं दिया। वे इधर-उधर देखने का प्रयास कर रहे थे कि एक वृद्ध पुरुष उधर उनके पास आ गया। वह पूछने लगा—'यहां जंगल में क्या खोज रहे हो?'

युवक बोले—'हम स्वामीजी के चबूतरे की खोज कर रहे हैं।'

वृद्ध—'कौन स्वामीजी?'

युवक—'वे स्वामी भीखणजी के नाम से प्रसिद्ध थे।'

वृद्ध—'क्या वे यहीं के थे?'

युवक—'नहीं, वे यहीं पास के गांव कंटालिया के थे। यहां लगभग १५७ वर्ष पूर्व दिवंगत हुए थे। उनके शरीर का अग्नि-संस्कार इसी स्थान पर कहीं

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

किया गया था। वहां चबूतरा भी बनाया गया था। हम यहां उसी को खोज रहे हैं।'

वृद्ध—'मैं बाल्यावस्था में अपने दादा के साथ बहुधा इस पहाड़ी पर आया करता था। उस समय यहां एक टूटा-फूटा-सा चबूतरा था। मेरे दादा बतलाया करते थे कि यह एक बहुत बड़े संत का चबूतरा है। उन्होंने नया पंथ चलाया था आदि।'

युवक—'तब तो आपको उसके ठीक स्थान का अवश्य पता होगा। आप हमें बतला सकें तो बड़ी कृपा होगी।'

वृद्ध ने अंगुली-निर्देश करते हुए कहा—'यह जो थोड़ा-सा ऊंचा मिट्टी का ढूह दिखाई देता है, यही स्थान होना चाहिए।'

तीनों युवक एक साथ वहां की मिट्टी हटाने में जुट गये। पहले कुछ ईंटें निकलीं, फिर चबूतरे की भींत दिखाई देने लगी। उन्होंने तब वृद्ध को धन्यवाद देने के लिए दृष्टि उठाई तो पता लगा कि वह जा चुका है। उससे अन्य कुछ जानकारी भी मिल सकती थी, पर वह खोजने पर भी नहीं मिल पाया।

पुनर्निर्माण

चबूतरा मिल जाने की बात हवा की तरह सारे गांव में फैल गई। थोड़ी ही देर में काफी लोग वहां एकत्रित हो गये। मजदूरों को बुला लिया गया। वहां की सारी मिट्टी हटाई गई तो पूरा चबूतरा निकल आया। वह एक ओर से ढहा हुआ तथा तीन ओर से ठीक था। उस मूल चबूतरे की नींव पर ही तब योजनापूर्वक संगमरमर का दूसरा चबूतरा बना दिया गया। उसकी चारों भींतों पर स्वामीजी के जीवन से संबद्ध ज्ञातव्य विवरण उत्कीर्ण किए हुए शिलापट्ट लगा दिये गये। तब से उस परिसर में क्रमशः विकास के चरण आगे बढ़ते रहे हैं। सिरियारी के कुंवर गुलाबसिंहजी उक्त कार्य में विशेष सहयोगी रहे।

धर्म-जागरणा एवं महोत्सव

आचार्यश्री तुलसी ने सं. २०३९ का चतुर्मास राणावास में किया। वहां से सिरियारी लगभग १० किलोमीटर दूर है। आचार्यश्री ने उस वर्ष का 'चरम महोत्सव' (भाद्र शुक्ला १३ का दिन) सिरियारी में मनाया। उसकी अध्यक्षता भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने की। लगभग ४० हजार व्यक्तियों ने स्वामीजी को समवेत श्रद्धांजलि अर्पित की। तब से वहां प्रतिवर्ष भाद्र शुक्ला १२ की रात्रि में धर्म-जागरणा की जाती है और १३ को स्वामीजी का निर्वाण-दिन (चरम महोत्सव) व्यवस्थित रूप से मनाया जाता है। इसके अतिरिक्त भी प्रायः

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

प्रतिदिन बाहर से लोग वहां पहुंचते ही रहते हैं। अब तो वहां आगंतुकों के लिए निःशुल्क भोजन तथा निवास की व्यवस्था भी कर दी गई है। अन्य भी अनेक नव-निर्माण हुए हैं तथा हो रहे हैं।

देव-आह्वान

चेलावास में हीरविजयजी नाम के यति रहते थे। वे स्वामी भीखणजी के अत्यन्त भक्त थे। प्रारंभ में वे भयंकर विरोधी रहे थे। निंदा करते, विपरीत बातें फैलाते, कटुभाषा बोलते तथा द्वेष-पोषक प्रश्न पूछा करते थे। स्वामीजी सदैव उन्हें सद्भावनापूर्वक शास्त्र-न्याययुक्त उत्तर देते रहे थे। फलस्वरूप उनकी द्वेष-भावना धीरे-धीरे शांत होकर भक्ति-भावना में बदल गई। यतिजी ने जब स्वामीजी के दिवंगत होने के समाचार सुने तो एकदम भाव-विह्वल होकर रोने लगे। लोगों ने रोने का कारण जानना चाहा, पर वे बहुत देर तक उत्तर भी नहीं दे सके। जब वह वेग थोड़ा शांत हुआ तब उन्होंने बतलाया कि स्वामी भीखणजी के दिवंगत होने का दुःख मेरे लिए असह्य हो गया, अतः मैं अपने-आपको रोक नहीं सका। मेरे प्रश्नों का उन जैसा न्याययुक्त समाधानदाता अब कोई नहीं रहा।

यति हीरविजयजी मंत्र-विद्या के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अनेक मंत्रों की साधना भी कर रखी थी। उनके मन में एक भावना उत्पन्न हुई कि स्वामीजी कहां उत्पन्न हुए हैं, इसकी खोज करनी चाहिए। उसी रात्रि में धूप-दीप आदि करके वे एकांत कक्ष में बैठे और मंत्र-शक्ति के द्वारा सिद्ध किए हुए देव का आह्वान किया। संयोगवश उनका वह आह्वान सर्वथा निष्फल गया। आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ था कि उन्होंने देव का आह्वान किया हो और वह आज्ञाकारी शिष्य की तरह तत्काल उपस्थित न हुआ हो। वे आश्चर्यचकित थे कि उनका आह्वान आज तक सदैव सफल रहता आया था, इस बार निष्फल क्यों हुआ? उन्होंने यही सोचकर स्वयं को आश्वस्त किया कि शायद आह्वान-विधि में कहीं कोई त्रुटि हुई है। उन्होंने तत्काल विधियुक्त दूसरी बार आह्वान किया। परन्तु यह क्या, उस बार भी निष्फलता ही हाथ लगी। दो बार असफल हो जाने पर उन्होंने कुछ समय के लिए अपना प्रयत्न बन्द कर दिया। जिज्ञासा की अपूर्ति और अनुष्ठान की असफलता ने उनको सोने नहीं दिया। कुछ समय पश्चात् उन्होंने तीसरी बार फिर आह्वान किया। इस बार देवता तत्काल उपस्थित हो गया।

यतिजी ने पहले दो बार आमंत्रित करने की बात बतलाते हुए पूछा—'देवानुप्रिय! क्या कारण था कि आप दो बार आह्वान करने पर भी नहीं आये?'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

देवता ने कहा—'मुझे दोनों बार ज्ञात हो गया था, परन्तु मैं उस समय सीमंधर स्वामी के दर्शनार्थ महाविदेह क्षेत्र में गया हुआ था। वहां उस समय भरतक्षेत्र के एक बहुत बड़े आचार्य भीखणजी, जो कि ब्रह्म देवलोक के स्वामी हुए हैं, दर्शनार्थ आये हुए थे। मैं उस विशिष्ट अवसर को देखने का लोभ संवृत नहीं कर सका।'

यतिजी ने कहा—'मैंने भी स्वामी भीखणजी के संबंध में जानने के लिए ही आपको आमन्त्रित किया था।'

देवता ने तब जो वहां देखा था, वह पूरा व्यतिकर सुना दिया। यतिजी की एतत् सम्बन्धी अन्य जिज्ञासाओं का भी उसने शमन किया और अन्तर्धान हो गया।

दूसरे दिन प्रातः यति हीरविजयजी ने अपने पास आने-जाने वाले अनेक व्यक्तियों को अपने द्वारा किये गये देव-आह्वान तथा स्वामीजी के ब्रह्मेन्द्र-पंचम देवलोक के इन्द्र होने की बात बतलाई। फिर तो आगे से आगे फैलती हुई वह बात सर्व-सुलभ बन गई।[1]

स्वप्न-संपर्क

स्वामी भीखणजी दिवंगत होने के पश्चात् पंचम देवलोक के इन्द्र बने, इस कथन की पुष्टि जयाचार्य भी करते हैं। उन्होंने अनेक बार स्वामीजी से स्वप्न-संपर्क किये थे, जो कि उन्हें जागरित स्थिति के समान ही अनुभूत होते रहे थे। उनके लगभग २६ स्वप्नों का विवरण स्वयं उनकी ही हस्तलिपि में उपलब्ध है। उसके अनुसार जयाचार्य का स्वामीजी से न केवल अनेक बार संपर्क ही हुआ था, अपितु उन्होंने अनेक जिज्ञासाएं भी की थीं और स्वामीजी से उनके समाधान प्राप्त किये थे। उक्त लिखित विवरण में उन्होंने स्वामीजी को स्थान-स्थान पर ब्रह्मेन्द्र बतलाया है।

स्वामीजी की स्तुति में रचित अपनी अनेक गीतिकाओं में भी जयाचार्य ने उन्हें ब्रह्मेश तथा ब्रह्मदेवलोक को धारण करने वाला कहा है। उक्त कथन शायद पूर्वोक्त स्वप्न-संपर्कों के आधार पर ही है।[2]

---

१. यति हुलासजी विरचित 'शासन-प्रभाकर', २/३११ से ३२४।

२. (क) 'ब्रह्मेश अच्युत सुख कारण, निर्मल चरण धर्‌यो री'.
(ख) 'धारण ब्रह्म सहस्रार अच्युत, सुख कारण तारण हारी'।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

:१३:

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

१.	जन्म	सं. १७८३ आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी
२.	द्रव्य-दीक्षा	सं. १८०८ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी
३.	बोधि-प्राप्ति	सं. १८१५
४.	भाव-दीक्षा	सं. १८१७ आषाढ़ पूर्णिमा
५.	स्वर्गवास	सं. १८६० भाद्र शुक्ला त्रयोदशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

१.	जन्म-स्थान	कंटालिया
२.	द्रव्य-दीक्षा-स्थान	बगड़ी
३.	बोधि-प्राप्ति-स्थान	राजनगर
४.	भाव-दीक्षा-स्थान	केलवा
५.	स्वर्गवास-स्थान	सिरियारी

आयुष्य-विवरण

१. गृहस्थ	२५ वर्ष	२. द्रव्य-दीक्षा	८ वर्ष
३. तेरापंथ के आचार्य	४४ वर्ष	४. सर्व आयु	७७ वर्ष

शरीर का गठन

स्वामीजी का शरीर दीर्घ, बलवान् और श्यामवर्ण था। चाल तेज थी। आंखें विशाल, तेजस्वी और कुछ रक्तिमा लिए हुए थीं। मुख-मुद्रा सौम्य और सुन्दर थी। वाणी में मधुरता और आकर्षण था। शब्द प्रचण्ड और गम्भीर घोष-युक्त था।

विशिष्ट शारीरिक चिह्न

स्वामीजी सं. १८४८ के फाल्गुन मास में जयपुर पधारे थे। उस समय वहां के अंगलक्षणवेत्ता पं. देवकीनन्दन बोहरा स्वामीजी के शारीरिक शुभ चिह्न देख कर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने एक पत्र पर उनका विवरण लिखा। कालान्तर में उसकी प्रतिलिपि जयपुर-निवासी श्रावक मालीरामजी लूनिया ने करवाई। वह इस प्रकार है:

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

१. जीवणा पग में उड़द रेखा।
२. जीवणा हाथ में मच्छी के आकारे रेखा।
३. पोंहचा ऊपर तीन रेखा मणिबंध की, जीवणा हाथ में।
४. हाथ की दस अंगुलियों में दस चक्र।
५. गुदी नाड़री, तिण में तीन रेखा लंबी।
६. लिलाड़ में तीन रेखा लंबी।
७. कानां ऊपर बाल।
८. पेट के ऊपर तीन रेखा बराबर की।
९. पेट ऊपर सूंडी पासे साथिया को आकार।
१०. पेट ऊपर धजा को आकार।
जिण रो फल दोय हजार बरस तांई नाम रहै।'[1]

जन्म-कुंडली

स्वामी भीखणजी का जन्म वि. सं. १७८३ आषाढ़ शुक्ला १३ मंगलवार के दिन मूल नक्षत्र के चतुर्थ पाये में हुआ था।[2] उनकी जन्म-कुंडली का विवरण अग्रोक्त प्रकार से मिलता है :

मीन लग्न, लग्ने तम गुरु, तृतीय भृगु पंचम रवि बुध।
भौम छट्ठे शिखि सप्तमे, दशमे चन्द्र एकादशम शनि शुद्ध।।
मूल ऋष्य तूर्य पाद में, हरख्यो सहु परिवार।
भीखण नाम दियो भलो, कर उत्सव विस्तार।।[3]

इसके अनुसार जन्म-कुंडली की ग्रहस्थिति का अंकन इस प्रकार होता है :

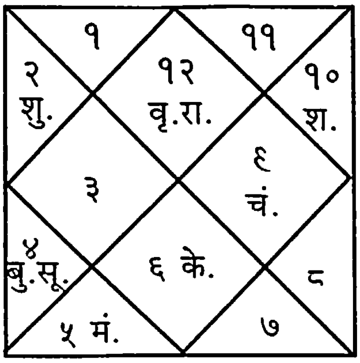

१. 'शासन-प्रभाकर' ढाल २ के अन्तर्गत दोहा १,२, कलश १ से ३ में यति हुलासजी ने भी इन्हीं शारीरिक चिह्नों का उल्लेख किया है।

२. भि. ज. र., १/८ 'दसां मांहिलो दीपतो, नक्षत्र मूल निहाल।
पायो चोथो परवरो, जन्म थयो तिणकाल।।'

३. शासन-प्रभाकर, २/१४,१५।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

विहार-क्षेत्र

स्वामीजी का विहार-क्षेत्र राजस्थान ही था। उस समय राजस्थान एक प्रान्त के रूप में न होकर पृथक्-पृथक् राज्यों के रूप में था। वहां विभिन्न राजाओं का राज्य था। उस समय के अनुसार मेवाड़, मारवाड़, ढूंढाड़ और हाड़ोती—ये चार राज्य ही प्रमुखतया स्वामीजी के विहार क्षेत्र रहे थे। एक बार कार्य-विशेष के लिए वे थली (बीकानेर-राज्य) में भी पधारे थे।

चतुर्मास-विवरण

स्वामीजी ने गृहस्थावास का परित्याग करने के पश्चात् बावन चतुर्मास किये। उनमें से आठ चतुर्मास तो आचार्य रुघनाथजी के शिष्य-रूप में किये और शेष चौवालीस चतुर्मास तेरापंथ के आचार्य-रूप में। उन सबका विवरण इस प्रकार है :

स्थानकवासी साधु के रूप में

स्थान[1]	चतुर्मास-संख्या	संवत्
मेड़ता	१	१८०८
सोजत	१	१८१०
बलूंदा	१	१८११
जैतारण	१	१८१२
बागोर	१	१८१३
सादड़ी (शाहों की)	१	१८१४
राजनगर	१	१८१५
जोधपुर	१	१८१६

१. उक्त तालिका में क्वचित् कई नाम पहले-पीछे लिखे भी मिलते हैं। जैसे—बलूंदा के स्थान पर जैतारण और जैतारण के स्थान पर बलूंदा। बागोर के स्थान पर सादड़ी और सादड़ी के स्थान पर बागोर। इसी तरह जोधपुर के स्थान पर नागोर। परन्तु ये सही नहीं हैं। क्योंकि स्वामीजी द्वारा स्वहस्त-लिखित 'सूत्रकृतांग' की प्रति में उसकी पूर्ति का समय और स्थान अंकित है—सं. १८११ कार्तिक शुक्ला ११ बलूंदा। तथा 'निरयावलिका की हुंडी' पर अंकित है—सं. १८१३ आश्विन कृष्णा ५ बागोर। उक्त दोनों प्रतियां संघ के भंडार में उपलब्ध हैं। इससे सं. १८११ का चतुर्मास बलूंदा तथा १३ का बागोर असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाते हैं। सं. १८१६ का जोधपुर चतुर्मास भी असंदिग्ध है, क्योंकि जयाचार्य द्वारा संकलित 'दृष्टांत' के १३वें दृष्टांत में लिखा है––'स्वामीजी नवो साधपणो लेवा त्यार थया जद जोधपुर जयमलजी भेलो चोमासो कीधो।'

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

तेरापंथी आचार्य के रूप में

स्थान	चतुर्मास-संख्या	संवत्
केलवा	६	१८१७, २१, २५, ३८, ४६, ५८
बरलू	१	१८१८
सिरियारी	७	१८१६,२२,२६,३६,४२,५१,६०
राजनगर	१	१८२०
पाली	७	१८२३,३३,४०,४४,५२,५५,५६
कंटालिया	२	१८२४,२८
खैरवा	५	१८२६,३२,४१,४६,५४
बगड़ी	३	१८२७,३०,३६
माधोपुर	२	१८३१,४८
पीपाड़	२	१८३४,४५
आमेट	१	१८३५
पादू	१	१८३७
नाथद्वारा	३	१८४३,५०,५६
पुर	२	१८४७,५७
सोजत	१	१८५३

शिष्य-सम्पदा

स्वामीजी के शासन-काल में उन सहित १०५ व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की। उनमें ४६ साधु और ५६ साध्वियां थीं।

उनके युग में १० साधु और १२ साध्वियां दिवंगत तथा १८ साधु और १७ साध्वियां बहिर्गत हो गईं।

स्वामीजी दिवंगत हुए उस समय २१ साधु और २७ साध्वियां धर्म-संघ में विद्यमान थीं।

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org

© Jain Vishva Bharati For Personal & Private Use Only https://books.jvbharati.org